वैदिक वाङ्मय का इतिहास

दूसरा भाग

वेदों के भाष्यकार

पं. भगवद्दत्त प्रणेता

डा० कृष्णा कमल एम.ए., पी.एच.डी.

10.1.77 नई दिल्ली :



वैदिक वाङ्मय का इतिहास

दूसरा भाग

वेदों के भाष्यकार

: मूल लेखक :

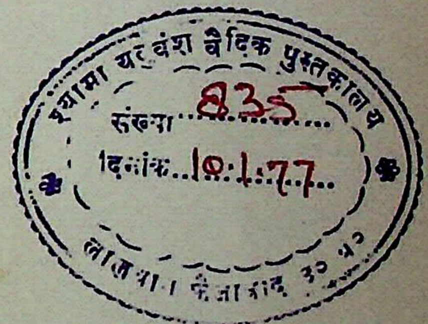
स्वर्गीय पं. भगवद्दत्त

भारतवर्ष का बृहद् इतिहास;
भाषा का इतिहास; वेदविद्या निदर्शन;
Story of Creation as Seen by Seers;
आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता

: परिवर्धक तथा सम्पादक :

सत्यश्रवा एम. ए.

Sakas in India; Irrigation in India Through the Ages;
प्राचीन भारत में सिंचाई; आदि ग्रन्थों के लेखक



प्रणव प्रकाशन

१/२८ पंजाबी बाग, नई दिल्ली—११००२६

HISTORY OF VEDIC LITERATURE

SECOND VOLUME

The Commentators of the Vedas

प्रथम संस्करण : जनवरी १९७६

मूल्य : भारत में—रु० ५५-०० ; विदेश में—$ 15, £ 6

प्रकाशक :
प्रणव प्रकाशन
१/२८ पंजाबी बाग, नई दिल्ली—११००२६
दूरभाष : ५९६५८१

मुद्रक :
सैनी प्रिण्टर्स
पहाड़ी धीरज,
दिल्ली—११०००६

वेद के अनथक अध्येता

आर्ष वाङ्मय के अन्वेषक

पूज्य पिता

स्वर्गीय पं. भगवद्दत्त

(२७ अक्टूबर १८९३—२२ नवम्बर १९६८)

तथा

पूज्या माता

स्वर्गीया श्रीमती सत्यवती शास्त्री

(मार्च १८९५—१४ जनवरी १९६७)

की अमर स्मृति में

विषय-सूची

मूल लेखक द्वारा रचित तथा सम्पादित पुस्तकें

विरचित

१. ऋग्वेद पर व्याख्यान
२. बार्हस्पत्य सूत्र की भूमिका
३. वैदिक कोष की भूमिका
४. वैदिक वाङ्मय का इतिहास
   प्रथम भाग—वेदों की शाखाएं
   द्वितीय भाग—ब्राह्मण और आरण्यक
   तृतीय भाग—वेदों के भाष्यकार
५. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास—प्रथम भाग
६. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास—द्वितीय भाग
७. भारतवर्ष का इतिहास—गुप्त साम्राज्य के अन्त तक
८. भाषा का इतिहास
९. Western Indologists
१०. वेद-विद्या-निदर्शन
११. Story of Creation—as seen by Seers

सम्पादित

१. वाल्मीकीय रामायण (पश्चिमोत्तर पाठ) बाल काण्ड तथा अरण्य काण्ड का कुछ भाग
२. आथर्वण ज्योतिष
३. माण्डूकी शिक्षा
४. अथर्ववेद पञ्चपटलिका
५. उद्गीथाचार्य कृत ऋग्वेद भाष्य, दशम मण्डल का कुछ भाग
६. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वरचित जन्म चरित
७. ऋग्-मन्त्र व्याख्या
८. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन
९. गुरुदत्त लेखावली—भाषा-अनुवाद

सम्पादक द्वारा लिखित तथा सम्पादित पुस्तकें

१. Sakas in India
२. Irrigation in India
३. प्राचीन भारत में सिंचाई
४. वैदिक वाङ्मय का इतिहास—ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ

नोट : उपलब्ध पुस्तकें प्रणव प्रकाशन से प्राप्य हैं।

सम्पादकीय

वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग लगभग दो वर्ष पहले छपा था। इस भाग का ऐतद्देशीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने विशेष उत्साह पूर्वक स्वागत किया और अपने विचार निस्संकोच व्यक्त किए। इस अपूर्व प्रोत्साहन से प्रेरित होकर, इस इतिहास के दूसरे भाग का सम्पादन कार्य अनवरत चलता रहा। वैदिक ऐतिह्य एक विशाल सागर है। यथार्थ में इस विषय का विस्तृत विश्लेषणात्मक अध्ययन समग्र रूप में अभी तक नहीं हुआ है। इस इतिहास के चार भागों में एतद् सम्बन्धी सम्पूर्ण सामग्री का एकत्रीकरण तथा विश्लेषण ही एक प्रमुख उद्देश्य है। परिणामतः वेदों के भाष्यकार नामक दूसरा भाग आपकी सेवा में प्रस्तुत है।

मूल लेखक द्वारा लगभग पैंतालीस वर्ष पहले भाष्यकार सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री एकत्र कर पुस्तक रूप में छपवा दी गयी थी। कालान्तर में नई आवश्यक सामग्री स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न पुरातन ग्रन्थ संग्रहों में हमारे देश में एकत्र होती रही है। सारी सामग्री का अध्ययन तथा सम्मिश्रण कर, एक नवीन संस्करण का सम्पादन आवश्यक था। यथा सम्भव यह पूर्ण रूपेण इस भाग में यथास्थान प्रस्तुत की गयी है। लगभग पचास पृष्ठ की नवीन सामग्री अतिरिक्त जोड़ी गयी है।

भट्ट गोविन्द नामक ऋग्वेद के एक नवीन भाष्यकार का पता चला है। उसका एक हस्तलेख संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में सुरक्षित है। इस हस्तलेख का लिपिकाल १३६७ संवत् है। भट्ट गोविन्द इससे पहले हो चुका था। यह भाष्य छप जाना चाहिए। संस्कृत के स्नातकोत्तर छात्र-छात्रा अपने अध्ययन में ऐसा सम्पादन विषय अवश्य लें। इससे वैदिक-संस्कृत साहित्य क्रमशः दिन प्रतिदिन समृद्ध होता जायेगा।

रावण के ऋग्वेद भाष्य की एक प्रति हमारे कुल के अनन्य प्रेमी, मूल लेखक के परम सहायक, खातौली निवासी महाशय मामराज ने खोज ली थी। वह लाहौर में ही डा० लक्ष्मण स्वरूप द्वारा गुम हो गयी थी। कुछ दिन पहले पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी से सूचना मिली है कि इस भाष्य की एक अन्य प्रति भी प्राप्य है और उसका सम्पादन मुद्रण भी कदाचित् शीघ्र हो सकेगा।

मूल लेखक ने हस्तलिखित ग्रन्थों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया था। अनेक आवश्यक उद्धरण लाहौर नगर में प्राप्य हस्तलिखित कोशों से लिए गए थे। कुछ आवश्यक उद्धरण पंजाब (पाकिस्तान) विश्वविद्यालय, लाहौर में सुरक्षित है। उन्हें वैसा ही इस संस्करण में पुनर्मुद्रण किया गया है। अधिकांश में ये कोश, होशियारपुर, में अब भी सुरक्षित हैं। इनमें से अधिकतर अभी तक सम्पादित नहीं हुए हैं। उन्हें उसी रूप में इस संस्करण में मुद्रित किया गया है।

मूल लेखक ने अपने जीवन-काल में यह सम्मति दी थी कि इस भाग में वेद-वाक्, अथवा दैवी-वाक्, वेदार्थ की परम्परा तथा वेदार्थ की प्रक्रिया पर अवश्य लिखा जाना चाहिए। इस भाग का यह एक आवश्यक अंग है। वेद अपौरुषेय हैं यही हमारी संस्कृति की मूल भित्ति है। वेद में इतिहास

है इस विषय का खण्डन वेद के अपौरुषेयत्व को सुदृढ़ करता है। निरुक्तकार यास्क वेद में इतिहास नहीं मानता था। इस विषय में मूल लेखक ने अपने विचार सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत किए हैं। मूल लेखक द्वारा ही निरुक्त शास्त्र के यास्क कृत भाष्य का सम्पादन किया गया है। इसमें अपनी मूल धारणा को पुनः पुष्ट किया है। इसी विषय का एक नया अध्याय इस भाग के आरम्भ में प्रथम अध्याय के रूप में लिखा गया है। वेदार्थ की परम्परा अनवच्छिन्न रही है। अपान्तरतमा वेद के आदि आचार्य थे। महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों में इनका विशद वर्णन है। कृष्ण द्वैपादन वेद व्यास इस परम्परा के अन्तिम वेदाचार्य थे। उपलब्ध आवश्यक सामग्री को यथास्थान इस नवीन संस्करण में प्रस्तुत किया गया है।

वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वानों ने पिछले लगभग दो सौ वर्ष प्रयत्न किया है। इनमें से अलवर्ट बैंवर, मैक्समूलर, मैकडानल, आर्थर बैरिडेल कीथ, विण्टरनिट्ज आदि प्रतिष्ठित विद्वानों ने बड़े खोज से अपने ग्रन्थ लिखे हैं। उनके केवल सत्य सिद्धान्तों का इस ग्रन्थ में समावेश है। इस ग्रन्थ को लिखते समय पक्षपात, अनुचित अनुराग तथा मिथ्या विश्वास को स्थान नहीं दिया गया है। ऐसी ही मूल लेखक की धारणा थी। अकाट्य प्रमाणों पर अवलम्बित सत्य-निष्ठ, वे वेद में इतिहास का अभाव तथा उनके अपौरुषेयत्व के पोषक थे। पाश्चात्य तथा अपने देश के कतिपय विद्वानों से मतभेद आवश्यक है। ऐसे विषय में अपना मत सप्रमाण लिखा है।

वेद में नियतानुपूर्वी, नियत वाचो युक्ति, छान्दसी मुद्रा, शब्दों का प्रकरणानुसार आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा आधियाज्ञिक अर्थ, मिथ्या विश्वास के निराकरण में एक मात्र सहायक है। आधुनिक संकुचित संस्कृत व्याकरण वेदार्थ में सहायक नहीं हो सकता। वेदार्थ में निघण्टु, निरुक्त, अनेक कोश अथाह वैदिक वाङ्मय आवश्यक हैं। इनका सतत् स्मरण तथा यथास्थान प्रयोग ही वेद-मन्त्रों के अलौकिक अर्थ को सुस्पष्ट कर सकता है। वेद भाष्य इन्हीं पर आधारित होना चाहिए।

कालान्तर में वेद के केवल आधियाज्ञिक अर्थ को ही सर्वोपरि मान लिया गया था। परिणामतः, वेद केवल कर्मकाण्ड का ही एक भाग हो गया। इसी काल में प्रचलित कर्मकाण्ड ने वेद के प्रति अश्रद्धा को प्रसारित किया। यह अन्धकार युग कई सहस्र वर्ष तक चलता रहा। इस मनन तथा तर्क के आधुनिक युग में आवश्यक है कि वेद के यथार्थ को पुनः प्रस्तुत किया जाए। इस दिशा में भाषा विज्ञान की अनेक निर्मूल धारणाओं का उन्मूलन ही ध्येय होना चाहिए। भाषा विज्ञान का पुनः अध्ययन इस युग में आवश्यक हो गया है।

अधिकांशतः इस संस्करण में वर्णित प्रत्येक भाष्यकार के विषय में नवीन सामग्री दी गयी है। स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, हरिस्वामी, निरुक्तकार यास्काचार्य, वररुचि तथा उनके निरुक्त समुच्चय को अधिक सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है।

वाररुच निरुक्त समुच्चय की भूमिका में पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने नीलकण्ठ गार्ग्य के विषय में सामग्री एकत्र की है। वह द्रष्टव्य है। इस भाग में अधिक नहीं लिखा गया। इस भाग के सम्पादन में मीमांसक जी का यथावत् सहयोग रहा है। मैं उनका आभारी हूं।

भाष्यकारों के उपलब्ध भाष्यों के स्वल्प नमूने मूल लेखक ने परिशिष्ट रूप में दिये थे। उन्हें

यथा स्थान जोड़ दिया गया है। इनमें से कुछ एक तो स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ रूप में छप भी चुके हैं। परन्तु इनका आधार हस्तलेख थे, अतः उसी रूप में उन्हें उद्धृत किया गया है। पाठक यथा सम्भव मुद्रित संस्करण भी देख लें।

उद्धृत ग्रन्थ सूची में सुलभ ग्रन्थों के सम्पादक, मुद्रण स्थान आदि का वर्णन है। शब्द-सूची यथा सम्भव प्रत्येक शब्द की है। इससे अध्ययन में विशेष सरलता रहती है।

इस इतिहास के 'वेदों की शाखाएं' भाग का इसके पश्चात् सम्पादन करने का विचार है। इसी बीच में चारों ओर से यह मांग आ रही है कि इतनी आवश्यक पुस्तक का अंग्रेजी संस्करण भी छपना चाहिए। यह निश्चित है कि हमारे मत का प्रचार, आङ्गल भाषा में पाश्चात्य देशों में अधिक सुचारु रूप से हो सकेगा। इस ओर भी प्रयत्न हो रहा है। आशा है शीघ्र ही यह सम्भव हो सकेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्धृत ग्रन्थों के सम्पादक, लेखक तथा प्रकाशकों का मैं धन्यवाद करता हूं। यह सारी सामग्री इस संस्करण के परिमार्जन, परिवर्धन में विशेष रूप से सहायक है।

यह ग्रन्थ मई १९७५ के मध्य से छपना आरम्भ हो गया था। इसके मुद्रण में आवश्यकता से अधिक समय लग गया है। मुद्रणालय के अधिकारियों का मैं आभारी हूं।

१/२८, पंजाबी बाग, नई दिल्ली

सत्यश्रवा

प्रकाशक की ओर से

स्वर्गीय पूज्य पं० भगवद्दत जी के सम्पूर्ण साहित्य का प्रकाशन प्रणव प्रकाशन का एक मुख्य ध्येय है। इसी दृष्टि से उनके वैदिक वाङ्मय का इतिहास, 'ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ' भाग का संस्करण फरवरी १९७४ में छपवा दिया था। उसी शृंखला में 'वेदों के भाष्यकार' भाग को अब प्रस्तुत करना सम्भव हो गया है। पहले भाग का विक्रय सफल रहा है। यह कार्य बिना लाभ के हो रहा है। आशा है इस भाग के विक्रय में भी पूर्ण सहयोग पूर्ववत् होगा। इसी गति से यह सारा साहित्य कुछ ही वर्षों में छपकर आपके सम्मुख आ जायेगा।

इस साहित्य के प्रसार में सहायक प्रत्येक व्यक्ति, संस्था, उसके अधिकारी, भारत की विशेष मान्य संस्थाओं आदि की मैं आभारी हूं।

मूल लेखक के भारत वर्ष का बृहद् इतिहास (दो भाग) की विशेष मांग है। इनका सम्पादन चल रहा है। इन भागों में पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री का सम्मिश्रण, तथा मिथ्या मौलिक धारणाओं का निराकरण किया जा रहा है।

आयुर्वेद का इतिहास प्रकाशन करने की भी योजना है। यह ग्रन्थ भी आपके सम्मुख आएगा। आशा है आप सबके सहयोग से यह कार्य उत्तरोत्तर उन्नत करने में सफल रहूंगी।

प्राक्कथन

इस इतिहास के द्वितीय भाग को प्रकाशित हुए आज पूरे चार वर्ष व्यतीत हुए हैं। इन चार वर्षों में मेरे देश में एक अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है। राजनीति के क्षेत्र में भूतलाकाश का अन्तर हो गया है। निर्बल जनता में बल का सञ्चार हो रहा है। ऐसे दिनों में, ऐसे विचित्र आन्दोलन के दिनों में, अपने चित्त का इन प्रभावों से परे रखना या तो देवताओं का काम है या नर पिशाचों का। नहीं, नहीं, अनेक योगिराजों के आसन भी इस अहिंसा के संग्राम ने हिला दिए हैं। ऐसी परिस्थिति में कौन सा देशभक्त है जिसका मन उद्विग्न न रहता हो। पर इतिहास का लिखना एकान्त चाहता है मन की समता चाहता है और विचार की गम्भीरता चाहता है। ये सब बातें इन दिनों सुलभ नहीं। पर फिर भी मैंने अपने कमरे में बन्द होकर प्राचीन ग्रन्थों के पढ़ने में पर्याप्त समय लगाया है। उसी का फलरूप वैदिक वाङ्मय के इतिहास के प्रथम भाग का यह द्वितीय खण्ड है।

चार वर्ष पहले मेरा अनुमान था कि प्रथम भाग में वेदों के विषय का, वेद-शाखाओं और वेद-भाष्यकारों का वर्णन हो सकेगा, परन्तु सामग्री के एकत्र होने पर मुझे पता चला कि वेद-भाष्यकारों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन ही एक भाग में लिखा जा सकता है, अतः प्रथम भाग के दो खण्ड करने ही मैंने उपयुक्त समझे।

सन् १९२८ के नवम्बर मास में ओरिएण्टल कान्फ्रेंस का पञ्चम सम्मेलन लाहौर में हुआ था। उसमें मैंने स्कन्द, उद्गीथ और वेङ्कटमाधव आदि के सम्बन्ध में एक लेख पढ़ा था। उस लेख का संक्षेप पहले मुद्रित हो चुका था। उक्त कान्फ्रेंस के अवसर पर मद्रास यूनिवर्सिटी के अध्यापक प्रो. कूहनन राज मेरे अतिथि थे। आश्चर्य की बात है कि उनका लेख भी इसी विषय पर था। हमने तीन दिन तक इस विषय पर विशेष विचार-परिवर्तन किया। तब मेरा यह निश्चय हो गया था कि अपने इतिहास का वेद-भाष्यकारों का भाग पहले निकालना चाहिए। तभी से मैंने इसका लिखना आरम्भ कर दिया। इस विषय पर मुझसे पूर्व किसी विद्वान ने क्रमबद्ध रूप से अपनी लेखनी नहीं उठाई। अतः यह भाग एक प्रकार से अनेक नवीन बातों का संग्रह समझना चाहिए। मैंने इसमें भाष्यकारों के काल के विषय में अधिक लिखने का यत्न किया है। यदि इन भाष्यकारों का काल-क्रम निश्चित हो जाए, तो उनके मन्तव्यों का अधिक उत्तम अध्ययन हो सकेगा। उनके मन्तव्यों पर यहां अधिक नहीं लिखा गया।

इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे वेद-भाष्यकारों का उल्लेख किया गया है, जिनके अस्तित्व का ज्ञान भी बहुत कम लोगों को था। आशा है अब विद्वान् लोग इस ओर अपना ध्यान आकर्षित करेंगे।

अनेक संस्कृत प्रमाणों का जो अर्थ लिखा गया है, वह भावार्थ ही समझना चाहिए। अक्षरार्थ करने पर बल नहीं दिया गया। इसका अभिप्राय यही है कि थोड़ी सी संस्कृत जानने वाले भी इस ग्रन्थ

से पूर्ण लाभ उठा सकें । मैंने इस ग्रन्थ का आर्यभाषा में ही लिखना श्रेयस्कर समझा है । इसी में लिखे गए विचार मेरे देश में चिरस्थायी होंगे ।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के जो पाठ यहां उद्धृत किए गए हैं, उनके शोधन का यत्न नहीं किया गया । उनकी शुद्धि-अशुद्धि पाठक स्वयं देख सकते हैं ।

कई भाष्य-ग्रन्थों के वर्णन मैंने हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियों के आधार पर ही लिखे हैं । उनके हस्तलेखों का मंगवाना महा कठिन काम है । कई-कई बार पत्र लिखने पर भी वे ग्रन्थ हमें नहीं मिल सके । यह कठिनाई रियासतों के सम्बन्ध में विशेष रूप से सामने आती है । ईश्वर जाने इन रियासतों के कार्यकर्त्ताओं को इस लोकहित के काम में सहायता करने की बुद्धि कब आएगी । ईश्वर इन पर दया करे ।

मेरे इस इतिहास के द्वितीय भाग के सम्बन्ध में कतिपय संस्कृतज्ञों ने अपनी सम्मतियां लिखी हैं । उनमें से कई एक ने मेरे लेख की प्रशंसा की है, और कई एक ने इसके कुछ भावों के विरुद्ध भी लिखा है । मैं उन सबका ही धन्यवाद करता हूं । जिन विद्वानों ने मेरे विरुद्ध लिखा है, उन्होंने अपनी सम्मतिमात्र का प्रकाश किया है, सप्रमाण कुछ भी नहीं लिखा । मेरी ऐसे महानुभावों से सानुरोध प्रार्थना है कि वे उदार हृदय से मेरे लेख के विरुद्ध सप्रमाण लिखें । तब मैं उनके औचित्य पर विचार करूंगा । प्रमाण-रहित सम्मति को मैं कल्पना की कोटि में मानता हूं और कल्पना का इतिहास में प्रमाण नहीं है । मैंने जो कुछ लिखा है, वह परिक्षित-प्रमाणों के आधार पर लिखा है । अतः मेरे भावी समालोचक भी इस बात का ध्यान रखें । फिर भी मेरा विश्वास है कि मैं सर्वज्ञ नहीं हूं । अपनी भूल को सुधारने में मैं सदा प्रस्तुत रहता हूं ।

इस ग्रन्थ के लिखने में डा० कुह्नन राज ने बड़ी सहायता दी है । कई ग्रन्थों के हस्तलेख मेरा पत्र पहुंचते ही वे तत्काल मेरे पास भेजते रहे हैं । अन्य विषयों पर भी पत्र-व्यवहार द्वारा हम अपनी सम्मति मिलाते रहे हैं । मित्रवर डा. लक्ष्मण स्वरूप, स्कन्द-महेश्वर की निरुक्त-भाष्य-टीका का प्रत्येक फार्म छपते ही मेरे पास भेज देते थे । डा. मङ्गलदेव शास्त्री, पं. चारुदेव शास्त्री एम. ए., पं. ब्रह्मदत्त, ब्रह्मचारी युधिष्ठिर, पं. ईश्वरचन्द्र और पं. अण्णा शास्त्री वारे ने भी समय-समय पर बड़ी सहायता दी है । इन सबका मैं हृदय से कृतज्ञ हूं । पं. रामलाल शास्त्री ने पदपाठों की तुलना में सहायता की है, अतः वे भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं । पञ्जाब यूनिवर्सिटी-पुस्तकालय से पुस्तकें और हस्तलिखित ग्रन्थ भेजने के लिए डा. स्वरूप, ला. लब्भूराम, प्रधान पुस्तकालयाध्यक्ष और पं. बालासहाय शास्त्री, संरक्षक-संस्कृत-विभाग की अत्यन्त सहायता मिलती रही है, अतः मैं इनका भी धन्यवाद करता हूं । प्रूफ संशोधन का काम पं. शुचिव्रत एम. ए. शास्त्री और मेरे विभाग के पं. हंसराज, पं. प्रेमनिधि शास्त्री, पं. पीताम्बर शास्त्री और पं. विजयानन्द शास्त्री ने किया है । मैं इन महाशयों का भी धन्यवाद करता हूं ।

इस ग्रन्थ के लिखे जाने में सबसे बड़ी सहायता दयानन्द-कालेज की प्रबंध कर्तृ-सभा की है । जिस उदारता से यह सभा प्राचीन ग्रन्थों की प्राप्ति के लिए मुझे धन देती है, उसका कोई हिसाब नहीं ।

वैदिक-ग्रन्थों की वह विपुल राशि जो इस समय लालचन्द पुस्तकालय में है, यदि मेरे पास न होती तो यह ग्रन्थ लिखा ही न जा सकता। मेरे मित्र श्री राम अनंतकृष्ण शास्त्री अब तक भी अलभ्य प्राचीन-वैदिक ग्रन्थ मुझे भेज रहे हैं, अतः मैं उनका भी आभारी हूं।

मुझे पूर्ण आशा है कि मेरा परिश्रम दूसरे विद्वानों को इस विषय में अधिक खोज के लिए प्रोत्साहित करेगा। यदि वे देवस्वामी का ऋग्वेदभाष्य और कुण्डिन तथा गुहदेव के तैत्तिरीय-संहिता भाष्य प्राप्त कर लें तो वैदिक-अध्ययन में आश्चर्य जनक सहायता मिलेगी।

परमात्मा करे, कि वेद का पवित्र अर्थ सब विद्वानों के हृदय में प्रकाशित हो। इत्यलम्।

१९ दिसम्बर, शनिवार
सन १९३१

भगवद्दत्त

प्रथम अध्याय

वेदवाक् तथा वेदार्थ परम्परा

अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥[1]
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥[2]

अनवच्छिन्न इतिहास का साक्ष्य है कि वाक् अपौरुषेय और आदि अन्त रहित है। प्रजापति पुरुष के द्वारा आदि में एकाक्षर (monosyllabic) तथा द्वयक्षर (bi-syllabic) पद उच्चरित हुए।[3] तत्पश्चात् देवों द्वारा अन्तरिक्ष और द्यौः आदि में देववाक् स्वाभाविक ही उत्पन्न हुई। वस्तुतः सारा जगत् उसी दैवी वाक् का परिणाम है। उस वेद वाक् का रूप सदा एक समान और प्रति सृष्टि में एक सा होता है।

दैवी वाक्—आर्य विद्वान् दो प्रकार की वाक् मानते आए हैं, दैवी और मानुषी। आर्य परम्परा में मानव की सृष्टि के आरम्भ से यह तथ्य सुरक्षित रहा है कि वेद-वाक् दैवी वाक् है। यह वाक् मानव की उत्पत्ति से बहुत पूर्व अन्तरिक्षस्थ तथा द्युलोकस्थ देवों और ऋषियों अर्थात् ईश्वर की भौतिक विभूतियों द्वारा प्रकट हो चुकी थी। ओम्, अथ, व्याहृतियां और मन्त्र हिरण्यगर्भ आदि से तन्मात्रारूप वागिन्द्रिय द्वारा उच्चरित हो चुके थे। वह वाक् क्षीण नहीं हुई, परम व्योम आकाश

---

१. श्लोक ५५, अध्याय २२४, शान्तिपर्व, महाभारत, भ. ओ. रि. इ., पूना।
२. श्लोक १, पृ० ३, आगमकाण्ड, वाक्यपदीय, चारुदेव शास्त्री, लाहौर, १९६१।
३. स वाऽएकाक्षर द्वयक्षराण्येव। ११।१।६।४॥ शतपथ ब्राह्मण, काशी, संवत् १९९७।

में स्थिर रही। मानव सृष्टि के आरम्भ में जब ऋषियों ने आदि शरीर धारण किए, तो वह दैवी वाक् ईश्वर प्रेरणा से उनमें प्रविष्ट हुई। उसे उन्होंने सुना। इस कारण वेद-वाक् का एक नाम श्रुति हुआ।

दैवी वाक् के विषय में ऋग्वेद का मन्त्रांश है—

१. **दैवीं वाचमजनयन्त देवाः**।[1] अर्थात् दैवी वाक् को उत्पन्न किया देवों ने।

ऋग्वेद के वागाम्भृणी सूक्त का मन्त्रार्ध है—

२. **तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्**।[2] अर्थात् उसको मुझ वाक् को देवों ने स्थापित किया।

लौगाक्षि गृह्यसूत्र में पठित मन्त्र है—

३. **दैवीं वाचम् उद्यासं शिवामजस्रां जुष्टां देवेभ्यः**।[3] अर्थात् दैवी वाक् को उत्कृष्टता से प्राप्त होऊं, श्रेयस्करी को और अजस्रा-नित्या को।

काठक संहिता में लिखा है—

४. **तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति, दैवीं च मानुषीं च**।[4] अर्थात् इस कारण ब्राह्मण दो प्रकार के वाक् को बोलता है, दैवी अर्थात् देवों के वाक् को और मानुषी को।

आर्य परम्परा में यह विश्वास चला आ रहा था कि वेद-वाक् मनुष्यों में व्यवहृत नहीं हुई, अपितु लोक भाषा अथवा व्यावहारिकी भाषा वेद-पद-बहुला अति भाषा थी।

मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य लेखकों ने इस मौलिक तथ्य की उपेक्षा कर वैदिक काल, उपनिषद्-काल, सूत्र-काल और रामायण महाभारत काल की प्रमाण रहित कल्पना की। उनका भरसक प्रयत्न रहा कि किसी प्रकार वेद-वाक् को भी लोक-भाषा सिद्ध किया जाए।

वेद का साक्ष्य—ऋग्वेद के बृहस्पति ऋषि-दृष्ट ज्ञानसूक्त मन्त्र में अति स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।[5]

अर्थात् सत्तु को जैसे चालनी द्वारा (छिलके) से पृथक् करते हैं, वैसे धीरों के मन से (शुद्ध दैवी) वाक् को साधारण ध्वनियों से पृथक् कर दिया। अन्तरिक्ष में दैवी और आसुरी दोनों प्रकार

---

१. ८।१००।११।। ऋग्वेद सभाष्य, वि० वै० शो० सं, होशियारपुर, १९६४।
२. १०।१२५।३।। वही।
३. का० ४३, पृ० ५२, लौगाक्षि गृह्यसूत्र, देवपाल भाष्य सहित, काश्मीर संस्कृत सीरीज, १९३४
४. १४।५।। पृ० १३८, काठक संहिता, सातवलेकर, १९४३।
५. १०।७१।२।। ऋग्वेद।

की वाक् उत्पन्न हो चुकी थी। दिव्य ऋषियों ने दैवी वाक् को आसुरी वाक् से पृथक् ग्रहण किया।

संसार की प्राचीन जातियों का मत—मिश्र और यूनान आदि के प्राचीन लोग देवों और उनकी विभूतियों को थोड़ा सा समझते थे। देव ज्ञान और अधिभूत-ज्ञान[1] का उन्हें पता था। उनके पुराने विद्वान् दैवी और मानुषी वाक् का भेद भी समझते थे।

(क) मिश्र के प्राचीन विश्वास के विषय में मर्सर लिखता है—

Egyptians had their "sacred writing"...... "writings of the words of the gods", often kept in a "house of sacred writings."[2]

अर्थात् मिश्र के लोग अपने पवित्र लेख रखते थे। 'देवों के शब्दों का लेख' जिसे वे प्रायः 'पवित्र लेखों के घर' में रखते थे।

मिश्री विद्वान् इस लेखन के लिए ndw-ntr (न्द्व-न्त्र)[3] अर्थात् the speech of the Gods शब्द प्रयुक्त करते थे। निस्संदेह मिश्री भाषा के 'न्द्व' पद में 'द्व' शब्द देव शब्द का संकेत करता है और न्त्र पद वाग्वाची वैदिक शब्द 'मन्द्रा' का बोध कराता है। अर्थात् मिश्री लोग देवों की वाणी को 'देवमन्द्रा' कहते थे। मिश्री 'न्द्व-न्त्र' का जो मूल रूप होगा वह देवमन्द्रा के अधिक समीप होगा।

(ख) यूनान के प्रसिद्ध प्राचीन लेखक होमर (Homer) के लेख का भाव है—

The Language of Gods and of men.[4]

अर्थात् देवों की भाषा और मानवी भाषा।

(ग) स्ट्रैबो (Strabo) लिखता है—

10. And on this account Plato, and even before his time the Pythagoreians, called philosophy music; and they say that the universe is constituted in accordance with harmony, assuming that every form of music is the work of the gods.[5]

अर्थात् ब्रह्माण्ड छन्दों का परिणाम है। और सब छन्द देवों द्वारा निर्मित हुए।

संसार की पुरातन जातियों ने दैवी-वाक् का जो सिद्धान्त ग्रहण किया, वह शुद्ध वैदिक सिद्धान्त है। इस को समझने के लिए दैवी वाक् तथा देवों के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

---

१. निरुक्त पर दुर्ग वृत्ति १३।९॥ से तुलना करें। आनन्दाश्रम, पूना, १९२१।
२. p. 12, The Religion of Ancient Egypt, Mercer, S. A.B., 1949.
३. p. 87, The Story of Languages, Mario Pei, London, 1953.
४. pp. 299-300, Asianic Elements in Greek Civilization, Ramsay.
५. 10.3.10, The Geography of Strabo, 1954.

भाषा देवों अर्थात् महाभूत आदिकों से स्वाभाविक उत्पन्न हुई। सब पुराने संसार का यही मत था। यह मत वेद से लिया गया था। जिस प्रकार आत्मा की प्रेरणा और मन के योग तथा कण्ठ आदि के व्यापार से वैखरी वाक् (ध्वन्यात्मक शब्द) की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार महान् आत्मा की प्रेरणा, देवों के योग तथा तन्मात्रा रूपी वागिन्द्रिय से द्युः और अन्तरिक्ष आदि लोक में दैवी वाक् उत्पन्न हुई।

प्रति सृष्टि यही वाक् स्थिर भौतिक नियमों के आधार पर उत्पन्न होती है।

मानवी भाषा की उत्पत्ति—दैवी-वाक् का पक्ष अति संक्षिप्त रूप में लिखा। स्पष्ट है कि दैवी-वाक् मनुष्य वाक् नहीं है। मनुष्य वाक् संस्कृत है। इसे भी आदि काल में वेद शब्दों के आधार पर ऋषियों ने व्यवहार की भाषा के रूप में जन्म दिया। इसीलिए स्वायंभुव मनु ने कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥[1]

अर्थात् आदि में ब्रह्मा ने वेद शब्दों से सब नाम आदि रखे। मनुष्यों में व्यवहृत वाक् मानुषी वाक् कहलायी। इसमें पद लगभग वही हैं जो दैवी वाक् में थे, पर वाक्य रचना और आनुपूर्वी के हेर-फेर के कारण यह एक नया रूप धारण करती है। मूल इसका दैवी वाक् ही है।

भरत नाट्य शास्त्र में लिखा है—

अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूभुजाम्।
संस्कार-पाठ्य-संयुक्ता सप्तद्वीपप्रतिष्ठिता ॥[2]

अर्थात् अतिभाषा तो देवों की और आर्यभाषा राजपुरुषों की। प्रकृति प्रत्यय के पूर्ण संस्कार से युक्त सातों द्वीपों में प्रचलित मानुषी वाक् के उत्तरोत्तर चार रूप हुए—

१. अतिभाषा=अभिभाषा=आदिभाषा—वैदिक शब्द बहुला।
२. आर्य भाषा=भाषा।
३. महाभारत काल की लोक-भाषा संस्कृत।
४. पाणिनि के उत्तर काल की संस्कृत।

वेद शब्द और उसका अर्थ

स्वर भेद से दो प्रकार का वेद शब्द प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। एक है आद्युदात्त और दूसरा है अन्तोदात्त। आद्युदात्त वेद शब्द प्रथमा के एक वचन[3] में ऋग्वेद में पन्द्रह बार प्रयुक्त हुआ

---

१. १।२१॥, भाग १, मनुस्मृति, मेधातिथि-भाष्य, गंगानाथ झा, कलकत्ता, १९३२।
२. अध्याय १७, श्लोक २८, भाग २, भरत नाट्यशास्त्र, बड़ोदा, १९३४।
३. वेदः १।४३।९॥; ३।५३।१४॥ इत्यादि।

है और तृतीया के एक वचन[1] में एक बार। अन्तोदात्त वेद शब्द ऋग्वेद में नहीं मिलता। यजुर्वेद और अथर्ववेद में अन्तोदात्त वेद शब्द मिलता है।[2]

वेद शब्द की व्युत्पत्ति—वैदिक वाङ्मय में वेद शब्द की व्युत्पत्ति विशद रूप से विवेचित है। काठक, मैत्रायणी और तैत्तिरीय संहिताओं में वेद शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से वर्णित है—

(क) **वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दन्त तद्वेदस्य वेदत्वम्।**[3]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऐसा वचन मिलता है—

(ख) **वेदिर्देवेभ्यो निलायत। तां वेदेनान्वविन्दन्।**
वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीम्।[4]

इन दोनों प्रमाणों में **अन्वविन्दन्। अविन्दन्। अविन्दन्त। विविदुः** आदि प्रयोग पाणिनीय मतानुसार **विदलृ=लाभे** से व्युत्पन्न हुए हैं। भट्ट भास्कर तैत्तिरीय संहिता के अर्थ में लिखता है—

(१) **विद्यते=लभ्यतेऽनेनेति करणे घञ्।**
उञ्छादित्वादन्तोदात्तम्॥

तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रमाण के अर्थ में वह लिखता है—

(२) **विविदुः—लब्धवन्तः॥**[5]

आनन्दतीर्थ ने अपने विष्णुतत्त्वनिर्णय में वेद शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में एक प्रमाण दिया है—

(ग) **नेन्द्रियाणि नानुमानं वेदा ह्येवैनं वेदयन्ति।**
तस्मादाहुर्वेदा इति पिप्पलादश्रुतिः॥[6]

---

१. ८।१९।५॥ (क) वेदेन—स्वाध्यायेन इति वेङ्कटमाधवः।
(ख) तथा वेदेन—वेदाध्ययनेन ब्रह्मयज्ञेन इति सायणः।

२. वेदः—२।२१॥ यजुर्वेद संहिता, दूसरा संस्करण, निर्णयसागर प्रेस, १९२९।
७।२९।१॥ पृ. ९१८, द्वितीय भाग, अथर्ववेद, सायण भाष्य सहित, वि.वै.शो.सं., होशियारपुर, १९६१।

३. १।४।२०॥ तैत्तिरीय संहिता, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।

४. ३।३।९।१०॥ तैत्तिरीय ब्राह्मण, पृ. ९५२, भाग २, आनन्दाश्रम, पूना, १९३८।

५. तैत्तिरीय संहिता ३।३।४।७॥ के भाष्य में भट्ट भास्कर लिखता है—**पुरुषार्थानां वेदयिता वेद उच्यते।**

६. प्रथम परिच्छेद का प्रारम्भ।

आयुर्वेद की सुश्रुत संहिता में लिखा है—

(घ) आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः ।[१]

इस वचन की व्याख्या में डल्हण लिखता है—

आयुरस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते अस्ति...... विद्यते=ज्ञायतेऽनेन ...... विद्यते=विचार्यतेऽनेन वा ...... आयुरनेन विन्दति=प्राप्नोति इति वा आयुर्वेदः।

सुश्रुत के वचन से प्रतीत होता है कि सुश्रुतकार करण और अधिकरण दोनों अर्थों में प्रत्यय हुआ मानता है। टीकाकार डल्हण समझता है कि विद्=सत्तायाम् । विद्=ज्ञाने । विद्=विचारणे। और विदॢ=लाभे इन सभी धातुओं से सुश्रुतकार को वेद शब्द की सिद्धि अभिप्रेत थी।

चरक संहिता में लिखा है—

(ङ) तत्रायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः ।[२]

चरक संहिता का टीकाकार चक्रपाणि इस पर लिखता है—

वेदयति=बोधयति । अर्थात् विद्=ज्ञाने से कर्त्ता में प्रत्यय मान कर वेद शब्द बना है।

नाट्य शास्त्र की विवृत्ति में अभिनव गुप्त लिखता है—

(च) नाट्यस्य वेदनं सत्तालाभो विचारश्च यत्र तन्नाट्यवेद-शब्देन .... उच्यते ।[३]

इससे प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त भाव में भी प्रत्यय मानता है। तथा सत्ता, लाभ तथा विचार अर्थ वाले विद् धातु से वेद शब्द भी सिद्ध करता है।

क्षीर स्वामी अमर कोष की टीका में लिखता है—

(छ) विदन्त्यनेन धर्मं वेदः ।[४]

इसी प्रकार सर्वानन्द अपनी टीका में लिखता है—

(ज) विदन्ति धर्मादिकमनेनेति वेदः ।[४]

जैनाचार्य हेमचन्द्र अपनी अभिधान चिन्तामणि में लिखता है—

(झ) विन्दत्यनेन धर्मं वेदः ।[५]

इन लेखों से विदित होता है कि क्षीर स्वामी, सर्वानन्द और हेमचन्द्र प्रत्यय तो करण में ही मानते हैं, परन्तु पहले दोनों विद्वान् वेद शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञान अर्थ वाले विद् धातु से मानते हैं और तीसरा विद्वान् अर्थात् हेमचन्द्र विदॢ धातु से मानता है।

---

१. १।१५।। सूत्रस्थान, डल्हण कृत भाष्य सहित, बम्बई, १९३८।

२. ३०।२३।। पृ. ५८६, सूत्रस्थान, चरकसंहिता, प्रथम भाग, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६२।

३. १।१।। पृ० ५, भाग १, नाट्यशास्त्र, बड़ोदा, १९५३।

४. १।५।३।। अमर कोष।

५. पृ. १०६, अभिधान चिन्तामणि, हेमचन्द्राचार्य, भावनगर।

भाष्यकार मेधातिथि मनुस्मृति भाष्य में लिखता है—

(ञ) **व्युत्पाद्यते च वेद शब्दः। विदन्त्यनन्यप्रमाणवेद्यं धर्मलक्षणमर्थमस्मादिति वेदः। तच्च वेदनमेकैकस्माद्वाक्याद् भवति।**[1]

आपस्तम्ब परिभाषा-भाष्य में सूत्र १।३३।। के भाष्य में कपर्दि स्वामी लिखता है—

(ट) **निःश्रेयस्कराणि कर्माण्यावेदयन्ति वेदाः।**[2]

इसी प्रकार एक अन्य सूत्र की वृत्ति में हरदत्त लिखता है—

(ठ) **वेदयतीति वेदः।**[3]

जिस वेद शब्द की व्युत्पत्ति का प्रकार पूर्व कहा गया है वह वेद शब्द अथवा मन्त्र संहिताओं के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

वेद तथा ऋषि पर्यायवाची शब्द—प्राचीन भाष्यकार अनेक प्रसङ्गों में ऋषि शब्द का वेद भी एक अर्थ करते आये हैं। यह प्रवृत्ति कब से चली है उसका ऐतिहासिक ज्ञान बड़ा उपादेय है। अतः उसका आगे निदर्शन किया जाता है—

भोजराज कृत उणादिसूत्र की वृत्ति में दण्डनाथ नारायण लिखता है—

१. **ऋषिः वेदः।**[4] अर्थात् ऋषि वेद को कहते हैं।

हरदत्त मिश्र पाणिनीय सूत्र पर अपनी पद मञ्जरी व्याख्या में लिखता है—

२. **ऋषिर्वेदः। तदुक्तमृषिणा—इत्यादौ दर्शनात्।**[5] अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों के **तदुक्तमृषिणा** पाठ के अनुरोध से ऋषि का अर्थ वेद है।

वैजयन्ती कोष में यादवप्रकाश लिखता है—

३. **ऋषिस्तु वेदे।**[6] अर्थात् ऋषि शब्द वेद के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

मनुस्मृति के प्रथमाध्याय के प्रथम श्लोकान्तर्गत **महर्षयः** पद के भाष्य में मेघातिथि लिखता है—

४. **ऋषिर्वेदः। तदध्ययन विज्ञान-तदर्थानुष्ठानातिशययोगात् पुरुषेऽप्यृषिशब्दः।** अर्थात् वेद के अध्ययन, विज्ञान, अर्थानुष्ठान आदि के कारण पुरुष में भी ऋषि शब्द का प्रयोग होता है।

आठवीं शताब्दी से पूर्व के शाश्वत कोष में लिखा है—

५. **ऋषिर्वेदे।**[7]

इन प्रमाणों से प्रतीत होता है कि सातवीं शताब्दी तक ऋषि शब्द का वेद अर्थ सुप्रसिद्ध था।

---

१. २।६।। पृ० ५८, भाग प्रथम, गंगानाथ झा, कलकत्ता, १९३२।

२. १।३३।।

३. १।३।।

४. २।१।१५९।।

५. १।१।१८।। काशिका व्याख्या, पदमञ्जरी, पूर्वार्ध, काशी, १८९५।

६. ६।१।९।। पृ० १५९, वैजयन्तीकोष, यादव प्रकाश, चौखम्बा, १९७१।

७. श्लोक ७१९, पृ० ६३, शाश्वत कोष, पूना, १९३०।

वेदार्थ में सावधानी—वेद मन्त्रों की कुछ विशेषताएं

१. **नियतानुपूर्वी**—वेद मन्त्रों में आनुपूर्वी नित्य मानी जाती है। यज्ञ में अथवा अन्यत्र इस आनुपूर्वी को बदलने का आज तक किसी को अधिकार नहीं हुआ। जैसी मन्त्रों की ध्वनियां आकाश में उच्चरित हुईं, उनका क्रम वैसा ही रखा गया। शाखाओं में भी वर्णानुपूर्वी अनित्य हुई। ऋषियों ने इस आनुपूर्वी को आज तक सुरक्षित रखा। आज तक अग्नि के स्थान में वह्नि शब्द कभी प्रयुक्त नहीं हुआ। संहिता पाठ में अग्निमीले के स्थान में ईळेऽग्निम् कभी नहीं हुआ। शाखाओं में कुछ परिवर्तन हुए, पर मूल का ज्ञान सदा ध्यान में रहा।

२. **वेद में मानुष इतिहास का अभाव**—वेद की वाणी आकाशी, वेद के देव आकाशी, मन्त्रगत ऋषि आकाशी, छन्द आकाशी, अतः वेद में पार्थिव मनुष्यों और ऋषियों का इतिहास नहीं मिल सकता। वेद का यथार्थ समझने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ तथा निरुक्त में वर्णित अधिदैवत और अधि-यज्ञ परक अर्थ का ज्ञान आवश्यक है। जो भाष्यकार वेद के अधिदैवत अर्थ को यथार्थ नहीं समझ पाए, उन्होंने वेदार्थ नष्ट किया है। वेद का अध्यात्म परक अर्थ वेद के अधिदैवत अर्थ के समझे विना कदापि समझ नहीं आ सकता।

३. **छान्दसी मुद्रा**—वेद के रूपों की विशिष्टता को कुमारिल ने छान्दसी मुद्रा का नाम दिया है। यदि वेदानुकरण कर कोई भी रचना की जाए, वेद के सूक्ष्म विद्वान् उसमें छान्दसी मुद्रा का अभाव तत्काल बता देंगे।

४. **वेद शब्द सर्वतोमुख**—लोक भाषावत् वैदिक शब्दों में अर्थ की इयत्ता नहीं। एक ही मन्त्र में प्रकरण के बदलने से एक शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं। महाविद्वान् भर्तृहरि **इदं विष्णुर्विचक्रमे** के सम्बन्ध में लिखता है।[1] ऋग्वेद की ऋचा[2] में विष्णु शब्द एक अर्थ में बंधा हुआ भी प्रकरण-भेद होने पर अधिदैवत, अध्यात्म, और अधियज्ञ में क्रमशः आत्मा (सूर्य), नारायण तथा चषाल को कहता है। इसी सूक्ष्म तथ्य का संकेत निरुक्त वृत्ति में दुर्गाचार्य ने किया है।[3]

वेद में शब्दों के यौगिक होने से प्रकरणानुकूल ही अर्थ होता है। वह अर्थ मूलतः वा सम्बन्ध से एक अथवा अनेक प्रकार का है। विशेष्य, विशेषण की रीति से विशेषण धात्वर्थ मात्र ही देता है। विशेषण दूसरे स्थान पर स्वयं नाम अर्थात् योगरूढ़ बन जाता है। उन सब में यह योगरूढ़ बनते समय प्रकरण-वश कुछ ही अर्थों में रह गया है। वे सब अर्थ भाष्यकर्त्ता के ध्यान में रहने चाहिएं। जो जहां संगत हो उसे ही प्रयोग करें।

---

१. पृ. २६८, महाभाष्य दीपिका।

२. १।२२।१७।। ऋग्वेद।

३. १।२०।।; २।८।। निरुक्त, दुर्गवृत्ति सहित, आनन्दाश्रम, पूना, १९२१।

प्राचीन वेदाचार्य

प्रजापति ब्रह्मा—सर्वतोमुखी प्रजापति ब्रह्मा आदि वेदाचार्य थे। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय तथा संस्कृत साहित्य में समस्त विद्याओं के आगम (?) भूत पद-प्रवक्ता ब्रह्मा ही थे। ब्रह्मा ने अग्नि वायु आदि आद्य ऋषियों से चारों वेदों का ज्ञान उपलब्ध किया। उसी के आधार पर लोकोपकारक समस्त विद्याओं का प्रवचन किया। यही भारतीय वाङ्मय में आदि वेदाचार्य कहलाए। वेदार्थ परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती गयी।

अपान्तरतमा=प्राचीनगर्भ—(क) आचार्य शङ्कर अपने वेदान्तसूत्रभाष्य में लिखते हैं—

तथा हि—अपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिः विष्णुनियोगात् कलिद्वापरयोः सन्धौ कृष्णद्वैपायनः संबभूव इति स्मरन्ति।[1]

अर्थात् अपान्तरतमा नाम का वेदाचार्य और प्राचीन ऋषि ही कलि द्वापर की सन्धि में विष्ण की आज्ञा से कृष्ण द्वैपायन के रूप में उत्पन्न हुआ।

(ख) इसी सम्वन्ध में अहिर्बुध्न्यसंहिता[2] में लिखा है—

अथ कालविपर्यासाद् युगभेदसमुद्भवे ॥५०॥
त्रेतादौ सत्त्वसंकोचाद्रजसि प्रविजृम्भते।
अपान्तरतमा नाम मुनिर्वाक् संभवो हरेः ॥५३॥
कपिलश्च पुराणर्षिरादिदेवसमुद्भवः।
हिरण्यगर्भो लोकादिरहं पशुपतिः शिवः ॥५४॥
उदभूत्तत्र धीरूपमृग्यजुःसामसंकुलम् ॥५८॥
विष्णुसंकल्पसंभूतमेतद् वाच्यायनेरितम्।

अर्थात् वाक् का पुत्र वाच्यायन अपरनाम अपान्तरतमा था। [कालक्रम के विपर्यय होने से त्रेता युग के आरम्भ में] विष्णु की आज्ञा से अपान्तरतमा, कपिल और हिरण्यगर्भ आदिकों ने क्रमशः ऋग्यजुः, सामवेद, सांख्य शास्त्र और योग आदि का विभाग किया।

अहिर्बुध्न्यसंहिता शङ्कर से बहुत पहले काल की है।

(ग) इस अहिर्बुध्न्यसंहिता से भी वहुत पहले महाभारत[3] में वैशम्पायन राजा जनमेजय को कह रहे हैं—

अपान्तरतमा नाम सुतो वाक्संभवो विभोः।
भूतभव्यभविष्यज्ञः सत्यवादी दृढव्रतः ॥३८॥

---

१. ३।३।३२॥ पृ० ३३५, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, मोती लाल बनारसी दास, १९६४।
२. अध्याय ११, पृ० १००, १०१, सम्पादक रामानुजाचार्य, अड्यार, १९६६।
३. अध्याय ३३७, महाभारत, भ० ओ० रि० ई०, पूना।

तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः ।
वेदाख्याने श्रुतिः कार्या त्वया मतिमतां वर ॥४०॥
तस्मात्कुरु यथाज्ञप्तं मयैतद्वचनं मुने ।
तेन भिन्नास्तदा वेदा मनोः स्वायंभुवेऽन्तरे ॥४१॥
अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते ।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥६१॥

इन श्लोकों का और महाभारत के इस अध्याय के अन्य श्लोकों का अभिप्राय यही है कि अपान्तरतमा ऋषि वेदाचार्य अथवा प्राचीनगर्भ कहा जाता है । उसी ने एक बार पहले वेदों का शाखा-विभाग किया था ।

अपान्तरतमा का कोई सिद्धान्त ग्रन्थ भी था । योगियाज्ञवल्क्य में उस का उल्लेख मिलता है ।[1]

महाभारत में वर्णित वेदाचार्य

शान्ति पर्व[2] में सात मुख्य वेदाचार्यों के नाम स्मरण किए गए हैं । लिखा है—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि वै ॥६१॥
एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः ।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्येन कल्पिताः ॥६२॥

अर्थात् मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा वसिष्ठ सात वेदवित् मुख्य वेदाचार्य थे ।

इन्हीं का नाम अनुशासन[3] पर्व में भी स्मरण किया गया है । यथा—

पितामहः पुलस्त्यश्च वसिष्ठः पुलहस्तथा ।
अङ्गिराश्च क्रतुश्चैव कश्यपश्च महानृषिः ॥
एते कुरुकुलश्रेष्ठ महायोगेश्वराः स्मृताः ॥२०॥
एते च पितरो राजन्नेष श्राद्धविधि परः ॥२१॥

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति अपरार्क टीका ।
तथा ब्राह्माण्ड पुराण पाद २, अध्याय ३५, श्लोक १२४-१२६ वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९९२, बम्बई। यहां ३२ व्यासों का नाम लेकर अन्त में कहा है कि ये अटठाईस व्यास हो चुके हैं ।
२. अध्याय ३२७, महाभारत, भ० ओ० रि० इ०, पूना ।
३. अध्याय ९२, २०-२१, महाभारत, वही ।

पुनः इसी पर्व में लिखा है—

अथ सप्तमहाभागा ऋषयो लोकविश्रुताः।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ब्रह्माणं पद्मसंभवम्।
प्रदक्षिणमभिक्रम्य सर्वे प्राञ्जलयः स्थिता।
उवाच वचनं तेषां वसिष्ठो ब्रह्मवित्तमः॥[1]

महाभारत शान्ति पर्व[2] में ही एक अन्य स्थान में वेदपारग दस आचार्यों का नाम वर्णित है—

भृगुमरीचिरत्रिश्च ह्यङ्गिराः पुलहः क्रतुः।
मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश:॥६६॥
ब्राह्मणो मानसा ह्येते उद्भूताः स्वयमीश्वराः।
परत्वेनर्षयो यस्मात्-स्मृतास्तस्मान्महर्षयः॥६७॥

भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलहः, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ, पुलस्त्य यह ऋषि कोटि में प्रथम दस महर्षि हैं। वे स्वयं ईश्वर और ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं।

वेदव्यास—साहित्य में व्यास का लक्षण **'वेदान् विन्यास यस्मात्स वेदव्यास इति स्मृतः'** किया गया है। इस लक्षण के अनुसार अट्ठाईस ऋषि समय-समय पर शाखा आदि के प्रवचन कर्त्ता रहे। इनमें से वाल्मीकि प्रभृति कतिपय व्यासों के द्वारा प्रोक्त शाखाओं के विशेष नियम प्रातिशाख्यों में उपलब्ध हैं।

महाभारत शान्ति पर्व में लिखा है **'वेदार्थवेत्तुर्व्यासस्य।'**[3] अर्थात् वेदार्थ वेत्ता व्यास का।

महाभारत और वेद-प्रवचन—महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म व्यास और शुक्र संवाद सुनाते हैं। उस में निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

त्रेतायां संहता वेदा यज्ञा वर्णास्तथैव च।
संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे॥६५॥[4]

अर्थात् त्रेता में चरण एकत्र किए गए अथवा पृथकता से एकत्र पढ़े गए, यज्ञ और वर्ण भी ऐसे ही। और द्वापर में आयु के संरोध-ह्रास से शाखा रूप में प्रोक्त हुए।

पुराणों में वर्णित वेदाचार्य

अट्ठाईस व्यास—पुराणों में वैवस्वत मनु से आरम्भ करके कृष्ण द्वैपायन तक प्रति द्वापर की दृष्टि से अट्ठाई व्यास गिनाए हैं।[5] वैवस्वत मनु त्रेता के आरम्भ में था और वेद-प्रवचन द्वापर में

---

१. अनुशासन पर्व, परिशिष्ट १, संख्या १४, श्लोक २५९–२६०, महाभारत, वही।
२. १२२।४४॥ तुलना करें शान्ति पर्व २०७।३-५० तथा ३४९। ६७-६८ से।
३. ३३७।६॥ महाभारत।
४. अध्याय २२४, महाभारत, भ० ओ० रि० इ०, पूना।
५. वायुपुराण अ० २३, श्लोक ११४ से आगे।

माना गया है। अतः त्रेता-युगीन वैवस्वत मनु से वेद-प्रवचन किस प्रकार आरम्भ हुआ, यह परस्पर विरोधी बातें प्रतीत होती है। पुराणों के इस प्रसंग में **'द्वितीयेद्वापरे, तृतीयद्वापरे'** आदि कह कर **'परिवर्ते पुनः षष्ठे'** और **'पर्यायश्च चतुर्दश'** आदि से गणना चलाई गई है। इससे प्रतीत होता है कि वेद-प्रवचन विषयक गणना का अभिप्राय सर्वथा अन्य प्रकार का है। तदनुसार त्रेता के आरम्भ से लेकर द्वापर के अन्त तक २८ बार वेद-प्रवचन माना गया है।

यदि माना जाए कि यहां प्रत्येक चतुर्युगी के द्वापर गिनाए गए हैं, वह भी ठीक नहीं बैठता। कारण—

१. वैवस्वत मनु प्रथम चतुर्युगी के द्वापर में नहीं था, वह त्रेता के आरम्भ में था।

२. ऋक्ष अर्थात् वाल्मीकि २४वें परिवर्त का व्यास माना गया है। वह दाशरथि राम का समकालिक था। राम से भारत युद्ध तक केवल ३५ पीढ़ियां गिनी जाती हैं, अधिक नहीं। ये प्रधान पीढ़ियां नहीं हैं, सम्पूर्ण पीढ़ियां हैं। अतः ऋक्ष को चौबीसवीं चतुर्युगी का मानना इतिहास के विरुद्ध बैठता है।

३. २६वें परिवर्त का व्यास पराशर और २७वें परिवर्त का व्यास जातूकर्ण्य क्रमशः कृष्ण द्वैपायन के पिता और चाचा थे। ये दोनों महात्मा पूर्व चतुर्युगी के नहीं थे।

इन २८ वेद-प्रवचनों में अपान्तरतमा का नाम कहीं दिखाई नहीं देता। निश्चय ही वह वैवस्वत मनु से पूर्व स्वायम्भुव-अन्तर में वेद-प्रवचन कर चुका था।

विशिष्ट व्यास

वेद-प्रवचन कर्त्ताओं में से निम्नलिखित व्यासों का विशेष वर्णन है। इनके द्वारा प्रोक्त अनेक चरण कृष्ण द्वैपायन के वेद प्रवचन की गिनती में सम्मिलित कर लिए गए हैं।

१. **भार्गव उशना काव्य**—तीसरे द्वापर का वेद-प्रवक्ता उशना-काव्य था। असुराचार्य उशना कवि भृगु का पुत्र होने से भार्गव था। अथर्ववेद को भृगु-अङ्गिरोवेद भी कहा है। अनेक आथर्वण सूक्त उशना-दृष्ट हैं। उशना महान् भिषक् था। आथर्वण सूक्तों में भिषक् शब्द का प्रयोग बहुधा मिलता है।

अथर्व संहितान्तर्गत एक मन्त्र में **भिषक्** शब्द पढ़ा है। मैत्रायणी संहितागत उसी मन्त्र में भिषक् के स्थान में कवि शब्द पठित है। अतः इस पर्याय उक्ति से उशना भी कवि था। इसी प्राचीन प्रयोग के अनुसार आज भी वैद्य अथवा भिषक् **कविराज** कहाते हैं।

२. **सारस्वत**—सारस्वत नवम परिवर्त का व्यास था। इसके पराशर, गार्ग्य, भार्गव और अङ्गिरा चार शिष्य कहे हैं। इस प्रकरण में अन्य व्यासों के भी कहीं चार पुत्र और कहीं चार शिष्य गिनाए हैं। पुत्र का अभिप्राय है शिष्य। प्रवचन कर्ता ऋषि अपने शिष्यों को भी पुत्र कहा करते थे। यथा शिशु सारस्वत=आङ्गिरस ने वृद्ध ऋषियों को पुत्र कहा।

सारस्वत का वेद-प्रवचन—सारस्वत के वेद-प्रवचन के निम्न प्रमाण उपलब्ध होते हैं—

(क) संस्कार रत्नमाला में कृष्ण यजुः सम्बन्धी सारस्वत पाठ का वर्णन मिलता है।

(ख) अश्वघोष के बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द काव्यों में इस के वेद प्रवचन का संकेत है।[1]

(ग) ताण्डय ब्राह्मण का निम्नलिखित पाठ इस पक्ष को पूरा स्पष्ट करता है—**शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्**। १३।३।२४॥ अर्थात् अङ्गिरा गोत्रोत्पन्न शिशु सारस्वत कवि चरण प्रवचन कर्त्ताओं में अत्यन्त श्रेष्ठ प्रवक्ता था। मन्त्रकृत् का अर्थ मन्त्र रचयिता नहीं, अपितु मन्त्रप्रवचनकार है। इस पर विशेष विचार हमारे 'ऋग्वेद पर व्याख्यान' में देखें।

सारस्वत पाठ—सारस्वत प्रोक्त वेदपाठ याजुष तैत्तिरीय संहिता आदि में पर्याप्त सुरक्षित है।

शैशव साम—शिशु सारस्वत-दृष्ट शैशव साम प्रसिद्ध है। उपर्युक्त ताण्डय वचन उसी शैशव साम की प्रशंसा में लिखा गया है।

३. भरद्वाज—भरद्वाज १९वें परिवर्त का व्यास था। इसके हिरण्यनाभ कौसल्य, कुथुमि आदि पुत्र थे। यह बार्हस्पत्य भरद्वाज ही आयुर्वेद और अनेक शास्त्रों का प्रवक्ता था। इस लिए ऐतरेय आरण्यक में महीदास ने लिखा है कि वह ऋषियों में अनूचानतम और दीर्घजीवितम था। यथा—**भरद्वाजो ह वा ऋषीणामनूचानतमो दीर्घजीवितमस्तपस्वितम आस**। १।२।२॥ अनूचान का लक्षण यह था—

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः शुद्धात्मा पापवर्जितः।
शेषं श्रोत्रियवत् प्राप्तः सोऽनूचान इति स्मृतः॥[2]

भारद्वाज शिक्षा, भारद्वाज श्रौत तथा गृह्य का सम्बन्ध संभवतः भारद्वाज प्रोक्त चरण से था।

४. ऋक्ष अर्थात् वाल्मीकि—ऋक्ष अर्थात् वाल्मीकि २४वें परिवर्त का व्यास था। उसके शालिहोत्र अग्निवेश्य, युवनाश्व, और शरद्वसु पुत्र थे। यही दीर्घजीवी अग्निवेश द्रोण का गुरु था और उसी ने बहुत पूर्व पुनर्वसु आत्रेय के आयुर्वेदोपदेश को तन्त्रबद्ध किया। इस वाल्मीकि के वेद-प्रवचन अर्थात् उसके चरण के सन्धि तथा उच्चारण संबन्धी तीन नियम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में दिए हैं।[3] वेद-प्रवचन के कारण वाल्मीकि ऋषि था। अतः उसके काव्यमय इतिहास को रामायण में ही बहुधा आर्ष काव्य[4] कहा है।

---

१. (क) **सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे।**
व्यासस्तथैनं बहुधाचकार न यं वसिष्ठः कृतवानशक्तिः॥ १।४२॥ बुद्धचरित, लाहौर, १९३६।
(ख) **सारस्वतो यत्र सुतोऽस्य जज्ञे नष्टस्य वेदस्य पुनः प्रवक्ता॥** ७।३१॥ सौन्दरनन्द, लाहौर, १९२८।

२. पृ० २८४ तथा ४४२, याज्ञवल्क्यस्मृति, अपरार्क टीका, आनन्दाश्रम, पूना, १९०३।

३. ५।३६॥; ९।४॥; १८।६॥ मद्रास, १९३०।

४. ४।४०॥; ५।४॥ बालकाण्ड, पश्चिमोत्तर शाखा, लाहौर, १९३१।

५. पराशर—पराशर २६वें परिवर्त का व्यास था। यह पराशर शक्ति का पुत्र और कृष्ण द्वैपायन व्यास का पिता था। उसके उलूक आदि पुत्र थे। भविष्य पुराण के अनुसार इसी उलूक की भगिनी उलूकी का पुत्र वैशेषिक शास्त्र का प्रवक्ता महामुनि कणाद था।[१] यह पराशर अग्निवेश का सहपाठी था। इसने आयुर्वेद और ज्योतिष शास्त्र की संहिताएं रचीं थीं।

६. जातूकर्ण्य—जातूकर्ण्य २७वें परिवर्त का व्यास था। यह कृष्ण द्वैपायन का चाचा था। इसके अक्षपाद, कणाद, उलूक और वत्स पुत्र थे। यह अक्षपाद न्याय शास्त्र का और कणाद वैशेषिक शास्त्र का प्रवचन कर्त्ता था।[२] जातूकर्ण्य कृत वेद प्रवचन के संहिता और पदपाठ सम्बन्धी तीन नियम वाजसनेय प्रातिशाख्य में उल्लिखित हैं।[३] वाजसनेय प्रातिशाख्य के उपर्युक्त सूत्रों से जातूकर्ण्य संहिता और उस के पदपाठ की स्थिति स्पष्ट है।

७. कृष्ण द्वैपायन—ब्रह्मा नाम के अगणित ऋषि हो चुके हैं। कृतयुग के आरम्भ में एक ब्रह्मा था। उस का निज नाम हम नहीं जानते। उस का पुत्र मैत्रावरुण वसिष्ठ और वसिष्ठ का पुत्र शक्ति था। पराशर इसी शक्ति का लड़का था। पराशर बड़ा तपस्वी और अलौकिक प्रभाव का ऋषि था। उस से दाशराज की कन्या मत्स्यगन्धा अथवा सत्यवती में कृष्ण द्वैपायन जन्मा।

बाल्यकाल और गुरु—कृष्ण द्वैपायन बाल्यकाल से ही विद्वान् था। परन्तु परम्परा के अनुसार उस ने विधिवत् गुरुमुख से वेद और अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया। इस विषय में वायु पुराण का प्रथमाध्याय देखने योग्य है—

ब्रह्मवायुमहेन्द्रेभ्यो नमस्कृत्य समाहितः।
ऋषीणां च वरिष्ठाय वासिष्ठाय महात्मने ॥९॥
तन्नप्त्रे चातियशसे जातूकर्ण्याय चर्षये।
वसिष्ठायैव शुचये कृष्णद्वैपायनाय च ॥१०॥
तस्मै भगवते कृत्वा नमो व्यासाय वेधसे।
पुरुषाय पुराणाय भृगुवाक्यप्रवर्तिने ॥४२॥
मानुषच्छद्मरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।
जातमात्रं च यं वेद उपतस्थे ससंग्रहः ॥४३॥[४]

---

१. ब्रह्मपर्व १, अध्यार्य ४२, श्लोक २८, भविष्यपुराण।
२. **यदक्षपादः प्रवरो मुनिनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।** न्यायवार्तिक आरम्भ।
३. ५।१२५॥ : ४।१६०॥, ५।२२॥
४. तुलना करें महाभारत शान्तिपर्व, ३।११२।२२ से, भीष्म जी शुक के विषय में कहते हैं—
उत्पन्नमात्रं तं वेदाः सरहस्याः ससंग्रहाः।
उपतस्थुर्महाराज यथास्य पितरं तथा ॥

धर्ममेव पुरस्कृत्य जातूकर्ण्यादवाप तम् ।
मतिं मन्थानमाविध्य येनासौ श्रुतिसागरात् ॥४४॥
प्रकाशं जनितो लोके महाभारतचन्द्रमाः ।
वेदद्रुमश्च यं प्राप्य सशाखः समपद्यत ॥४५॥

अर्थात् वसिष्ठ का पौत्र जातूकर्ण्य था । उसी से व्यास ने वेदाध्ययन किया । वह वेदद्रुम द्वैपायन व्यास के कारण अनेक शाखाओं वाला हुआ ।

भृगु—वाक्यप्रवर्तक—छान्दोग्योपनिषद् ३।४।२।। में अथर्वाङ्गिरसों को इतिहास पुराण का प्रकाशित करने वाला लिखा है । भृगु और अथर्वा साथी हैं । अतः भृगु वाक्यप्रवर्तक का अर्थ है इतिहास पुराण की विद्या की परम्परा का चलाने वाला ।

ब्रह्माण्ड पुराण १।१।११।। में लिखा है कि व्यास ने जातूकर्ण्य से ही पुराण का पाठ पढ़ा । पाराशर्य=व्यास ने जातूकर्ण्य से विद्या सीखी, यह वैदिक वाङ्मय में भी उल्लिखित है । बृहदारण्यक उपनिषद् २।६।३।। और ४।६।३।। में लिखा है—पाराशर्यो जातूकर्ण्यात् । अर्थात् पराशरपुत्र व्यास ने जातूकर्ण्य से विद्या सीखी ।

वायुपुराण के पूर्वोद्धृत दशम श्लोक के अनुसार यह जातूकर्ण्य वसिष्ठ का पौत्र था । जतूकर्ण शक्ति का नामांतर था अथवा उस के भाई का, यह अभी अनुसन्धान-योग्य है । इसलिए ध्यान रखना चाहिए कि जातूकर्ण्य पराशर का भाई होगा । सहोदर भाई अथवा ताया या चाचा का पुत्र, यह हम नहीं कह सकते । पाणिनि ने गर्गादिगण ४।१।१०५।। में पराशर और जतूकर्ण दोनों पद साथ साथ पढ़े हैं । इस से अनुमान होता है कि ये दोनों परस्पर सम्बन्धी थे ।

आश्रम—व्यास का आश्रम हिमालय की उपत्यका में था । शान्तिपर्व अध्याय ३३७ में वैशम्पायन कहता है—

गुरोर्मे ज्ञाननिष्ठस्य हिमवत्पाद आस्थितः ॥६॥
शुशुभे हिमवत्पादे भूतैर्भूतपतिर्यथा ॥१२॥

पुनः अध्याय ३२७ में लिखा है—

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ।
मेरौ गिरिवरे रम्ये सिद्धचारणसेविते ॥१८॥

पुनः अध्याय ३३५ में एक श्लोकार्द्ध है—

विविक्ते पर्वततटे पाराशर्यो महातपाः ॥२३॥

अर्थात् पर्वतों में श्रेष्ठ, सिद्ध और चारणों से सेवित मेरु पर्वत पर, जो हिमालय की उपत्यका में था, व्यास का आश्रम था । अन्यत्र इसे ही बदरिकाश्रम या बदर्याश्रम कहा है ।

शिष्य और पुत्र—इसी बदर्याश्रम में व्यास के चारों शिष्य और अरणीसुत पुत्र शुक रहते थे । चार शिष्यों के नाम सुमन्तु, जैमिनी, वैशम्पायन और पैल थे । अरणीपुत्र होने से शुक जी को आरुणेय भी कहते थे । पिता की आज्ञा से शुक जब किसी विदेह जनक से मिल कर और सांख्यादि ज्ञान

सुन कर आश्रम में लौट आया, तो उन दिनों वेदव्यास जी चारों शिष्यों को वेदाध्ययन कराया करते थे। इसके कुछ काल उपरान्त व्यास अपने प्रिय शिष्यों से बोले—

भवन्तो बहुलाः सन्तु वेदो विस्तार्यतामयम् ॥४१॥[1]

अर्थात् तुम्हारे शिष्य प्रशिष्य अनेक हों और तुम्हारे द्वारा वेद का शाखा प्रशाखा रूप में विस्तार हो। तब व्यास-शिष्य से बोले—

शैलादस्मान्महीं गन्तुं काङ्क्षितं नो महामुने।
वेदाननेकधा कर्तुं यदि ते रुचितं प्रभो ॥४॥[2]

अर्थात् हे महामुने व्यास जी अब हम इस पर्वत से पृथ्वी पर जाना चाहते हैं और आप की रुचि हो, तो वेदों की अनेक शाखाएं करना चाहते हैं। तब वे शिष्य उस पर्वत से पृथिवी पर उतर कर भारत में फैले। ऐसे समय में नारदजी व्यास-आश्रम में उपस्थित हुए। वे व्यास से बोले—

भो भो महर्षे वासिष्ठ ब्रह्मघोषो न वर्तते।
एको ध्यानपरस्तूष्णीं किमास्से चिन्तयन्निव ॥१३॥[3]

अर्थात् हे वसिष्ठ-कुलोत्पन्न महर्षे अब आप के आश्रम में वेदपाठ की ध्वनि सुनाई नहीं देती। आप अकेले चिन्तन करते हुए के समान ध्यान-मग्न क्यों बैठे हैं।

तब व्यास जी बोले कि हे वेदवादविचक्षण नारद जी मैं अपने शिष्यों से वियुक्त हो गया हूं, मेरा मन प्रसन्न नहीं। जो मैं अनुष्ठान करूं वह आप कहें। तब नारद ने कहा कि महाराज आप अपने पुत्र सहित ही वेदपाठ किया करें। तब व्यास जी शुक सहित ऐसा करने लगे।

वेद-व्यास परमर्षि थे—भगवान् व्यास परमयोगी, सत्यवादी, तपस्वी तथा भूत, भव्य और भविष्य का ज्ञान रखने वाले थे। अपने परम तप से उन्होंने ये दिव्य गुण प्राप्त किये थे। वे दीर्घजीवी थे। उन का जन्म भीष्म जी के जन्म से दस, बारह वर्ष पश्चात् हुआ। भारत-युद्ध के समय भीष्म लगभग १७० वर्ष के थे। तब व्यास जी लगभग १६० वर्ष के होंगे। पुनः युधिष्ठिर राज्य ३६ वर्ष तक रहा। तत्पश्चात् परीक्षित ने २४ वर्ष तक राज्य किया। परीक्षित की मृत्यु के समय व्यास जी लगभग २२० वर्ष के थे। पुनः जनमेजय के सर्पसत्र में वे वैशंपायन को महाभारत कथा सुनाने का आदेश कर रहे हैं। इतना ही नहीं, प्रत्युत इस सर्पसत्र के सदस्य हो कर वे पुत्र और शिष्यों की सहायता भी कर रहे हैं। इस प्रकार प्रतीत होता है कि व्यास जी की आयु २५० वर्ष से अधिक ही थी।

व्यास और बादरायण

महाभारत आदि में तो व्यास नाम प्रसिद्ध ही है। तैत्तिरीय आरण्यक १।६।३५।। में भी व्यास पाराशर्य नाम मिलता है। अनेक लोग ऐसा भी कहते हैं कि बादरायण भी इसी पाराशर्य व्यास का नाम

१. अध्याय ३१४, शान्तिपर्व, महाभारत, भ० ओ०, रि० ई०, पूना।
२. अध्याय, ३१४, वही।
३. अध्याय, ३१५, वही।

था। पं० अभयकुमार गुह ने यही प्रतिपादन किया है कि ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं।[1] दूसरे लोग इस में सन्देह करते हैं। हमें अभी तक सन्देह के लिए अधिक कारण नहीं मिले।[2] सम्भव है वदर्याश्रम में वास करने के कारण बादरायण नाम हो।

वेदार्थ की प्रक्रिया

प्राचीन ऋषि तथा मुनि वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं। स्कन्द स्वामी, वेङ्कट माधव और सायण प्रभृति वेदभाष्यकारों ने याज्ञिक प्रक्रियानुसार वेदभाष्य करते हुए, कहीं-कहीं मन्त्रों का व्याख्यान आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार दर्शाया है। प्राचीन परम्परा के अनुसार वेदार्थ की यही तीन प्रक्रियाएं मान्य हैं। परन्तु मध्यकालीन एवं वर्तमान विद्वानों का मत है कि वेद का प्रादुर्भाव यज्ञों के लिए ही हुआ है। यथा—**वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः**। अर्थात् वेदार्थ कर्मकाण्ड तक सीमित है। आचार्य सायण ने काण्व संहिता के भाष्य के उपोद्घात में स्पष्ट लिखा है—

तस्मिश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डौ ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्था ब्रह्मकाण्डः। तदव्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेति ग्रनयो ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रउभयत्राधानाग्निहोत्र-दर्शपौर्णमासादिकर्मण एवं प्रतिपाद्यत्वात् इति।

अर्थात् यजुर्वेद में दो काण्ड हैं, कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड। बृहदारण्यक उपनिषद ब्रह्मकाण्ड है, उससे भिन्न शतपथ और संहिता ग्रन्थों में सर्वत्र कर्मकाण्ड है। इन दोनों में आधान, अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास आदि कर्म का ही विधान होने से।

सायण ने यह पंक्तियां मन्त्र और ब्राह्मण को वेद मानकर लिखी हैं। इनसे इतना स्पष्ट है कि ब्रह्मकाण्ड का प्रदिपादन उपनिषद् ग्रन्थों से तथा कर्मकाण्ड का निर्देश संहिता से स्वीकार करता है। यही विचार सामान्य रूप से सभी उपलब्ध वेदभाष्यों के रचयिताओं का है।

आधिदैविक प्रक्रिया—आधिदैविक प्रक्रिया में वेद का अर्थ सृष्टि उत्पत्ति, स्थिति एवं तद्गत पदार्थों के गुण-परक होता है। इस वेदार्थ प्रक्रिया के साक्षात् विधायक ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। शाखाओं एव ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र-तत्र ऐसा वेदार्थ मिलता है। यास्कमुनि विरचित निरुक्त शास्त्र वेद का आधिदैविक प्रक्रियानुसार ही मन्त्रार्थ करता है। यह ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध है।

आध्यात्मिक प्रक्रिया—आध्यात्मिक प्रक्रिया में मन्त्रों का अर्थ, शरीर-विज्ञान, आत्मविज्ञान एवं परमात्मविषयक होता है। इस प्रक्रिया परक वेद व्याख्यान ग्रन्थ भी अनुपलब्ध हैं। शाखाओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों में ऐसे अर्थ यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। यास्कमुनि आधिदैविक प्रक्रियानुसार मन्त्रार्थ

---

१. Jivatman in the Brahma Sutras, 1921.

२. मत्स्यपुराण १४।१६।। में कहा है कि वेद्व्यास का बादरायण भी एक नाम था।

करते हुए कहीं-कहीं **अथाध्यात्मम्** लिखकर ऐसा भी मन्त्रार्थ करता है। निरुक्त के १३वें तथा १४वें काण्डों में प्राचीन नैरुक्तों के मतानुसार **अतिस्तुति** नाम से कुछ मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ संग्रहीत है।

यजुर्वेद के भाष्यकार उवट ने ३१वें अध्याय में शौनक आचार्य कृत आध्यात्मिक व्याख्यान उद्धृत किया है। इस प्रक्रियानुसार वेद के सहस्रों मन्त्रों का व्याख्यान ऋषि दयानन्द के भाष्य में ही विशेषत: उपलब्ध है।

आधियाज्ञिक प्रक्रिया—इस प्रक्रिया में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त सम्पूर्ण यज्ञरूपी कर्मकाण्ड ही मन्त्रों के अर्थ का विषय हैं। प्राचीन ग्रन्थों में वेद की शाखाएं, ब्राह्मण ग्रन्थ और कल्पसूत्र इसी याज्ञिक प्रक्रियानुसार वेद का प्रधानरूप से व्याख्यान करते हैं।

त्रिविध प्रक्रिया के प्रमाण—१. महर्षि यास्क ने ऋग्मन्त्र **वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्**[1] का व्याख्यान करते हुए लिखा है—

अर्थं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा।[2]

अर्थात् वेद का मन्त्र वेदवाणी के पुष्प और फल का निर्देश करता है। ये पुष्प और फल क्रमश: आधियाज्ञिक और आधिदैविक विज्ञान अथवा आधिदैविक और आध्यात्मिक विज्ञान हैं।

पुष्प पहले लगता है और फल पीछे। पुष्प फल की निष्पत्ति में कारण होता है। तदनुसार यास्क का मत है कि याज्ञिक अर्थ का परिज्ञान पुष्प स्थानीय है और वह फलस्थानीय आधिदैविक विज्ञान में कारण है। इसी प्रकार जब मानव को आधिदैविक जगत विज्ञात हो जाता है, तो वह आध्यात्मिक विज्ञान में कारण बनता है। अर्थात् याज्ञिक विज्ञान की दृष्टि से जो आधिदैविक विज्ञान फलस्थानीय था, वह उत्तर अध्यात्म विज्ञान के प्रति पुष्पस्थानीय होता है।

इससे यह तत्व अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि श्रौत यज्ञों की प्रक्रिया, रचना और शरीर रचना में अत्यन्त सादृश्य है। इसी तत्व का निर्देश ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रवक्ता याज्ञिक तत्वों की व्याख्या करके **अथाधिदैवतम् अथाध्यात्मम्** लिखकर सृष्टि और शरीर सम्बन्धी तत्वों का सादृश्य दर्शाते हैं।

२. शांखायन श्रौत सूत्र में लिखा है—

नश्रुतमतीयात्।
अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम्।
मन्त्रेषु ब्राह्मणे चैव श्रुतमित्यभिधीयते ॥१।१।१८,१९॥

अर्थात् श्रुत=शब्द श्रवण मात्र से गम्यमान अर्थ का परित्याग न करे। देव सम्बन्धी, आत्म सम्बन्धी और यज्ञ सम्बन्धी तीन अर्थ मन्त्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों में श्रुत कहे जाते हैं।

३. महाभाष्य-टीकाकार भर्तृहरि ने १।१।२७॥ की व्याख्या में लिखा है—

---

१. १०७१।५॥
२. १।२०॥ निरुक्त।

यथा इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋग्वेद १।२२।१७) इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन्नधिदैवतमध्यात्मधियज्ञं च आत्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तते।

'इदं विष्णुर्विचक्रमे' मन्त्र में एक ही विष्णु शब्द अनेक शक्तिवाला अधिदैवत, अध्यात्म और अधियज्ञ में क्रमशः सूर्य, परमात्मा और चषाल (—यूप के ऊपर का ढक्कन) अर्थ को कहता है।

४. निरुक्त व्याख्याता स्कन्द स्वामी लिखता है—

सर्वदर्शनेषु च सर्व मन्त्रायोजनीयाः। कुतः? भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय अर्थं वाचः पुष्पफलमाह इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्॥ अध्याय ७, खण्ड ५॥

अर्थात् सब दर्शनों=अधियज्ञ, अधिदैवत, अध्यात्म में सब मन्त्रों के अर्थ की योजना करनी चाहिए। क्यों भाष्यकार यास्क ने तीन प्रकार के विषय के प्रदर्शन के लिए **अर्थं वाचः पुष्पफलमाह** वचन द्वारा यज्ञ आदि का पुष्पफल रूप से निदर्शन कराया है।

५. दुर्गाचार्य अपनी निरुक्त व्याख्या में लिखता है—

अध्यात्माधिदैवताधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्था विज्ञायन्ते। १।१८॥

अर्थात् अध्यात्म, अधिदैवत और अधियज्ञ अर्थों को कहने वाले मन्त्रों के तीनों प्रकार के अर्थ जाने जाते हैं।

६. हरिस्वामी अपने शतपथ ब्राह्मण भाष्य के प्रथम काण्ड के आरम्भ में लिखता है—

मन्त्रा आधियाज्ञिका इषे त्वादयः, त एव देवतापदत्वेनाधिदैविकाः, त एवात्मानमधिकृता आध्यात्मिकाः। ईशावास्यादयस्त्वाध्यात्मिका एव।

अर्थात् **'इषे त्वादि'** मन्त्र अधियज्ञ विषयक हैं, ये ही देवता परक अर्थ अभिधान करने पर आधिदैविक होते हैं और ये ही आत्मा के प्रति अधिकृत हुए आध्यात्मिक अर्थ को कहते हैं। **ईशा वास्यम्** आदि मन्त्र आध्यात्मिक ही हैं। अर्थात् वे तीनों अर्थों को नहीं कहते।

इन कतिपय प्राचीन आचार्यों के वचनों से यह स्पष्ट है कि वेद का यज्ञ-दैवत-आत्माविषयक त्रिविध अर्थ होता है।

याज्ञिक प्रक्रिया का प्रभाव—याज्ञिक प्रक्रिया का प्रभाव वेदार्थ पर इतना अधिक हुआ कि निरुक्तकार ने जिन मन्त्रों का अर्थ आधिदैवत प्रक्रियानुसारी किया था, उनका अर्थ भी स्कन्द आदि टीकाकारों ने बलात् यज्ञपरक ही किया।

याज्ञिक प्रक्रिया स्वयं सृष्टि-यज्ञ अर्थात् आधिदैविक जगत् के व्याख्यानार्थ प्रवृत्त हुई है, अतः अधियज्ञ और अधिदैवत में अधियज्ञ विषयक अर्थ गौण है, और अधिदैवत अर्थ प्रधानभूत है। इस दृष्टि से वेद का प्रतिपाद्य विषय अधिदैवत और अध्यात्म ही है। आधिदैविक अर्थ की भी परिणति अध्यात्म में ही होती है। इन दोनों अर्थों में भी अध्यात्म अर्थ प्रधान है। वेद का यही आध्यात्मिक विचार परा विद्या है। उपनिषत्कारों ने **अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते** के द्वारा दैवी वाक् के इसी तात्पर्य की ओर संकेत किया है। आधिदैविक विज्ञान अपरा विद्या में गिना जाता है कर्म काण्ड विज्ञान आधिदैविक विज्ञान का बाह्य स्वरूप है।

चतुर्थ वेदार्थ प्रक्रिया

वेद के जितने भी आचार्य हुए हैं, उन्होंने प्रायः स्वकाल में प्रसिद्ध किसी एक वेदार्थ प्रक्रिया का आश्रय लेकर वेद व्याख्यान लिखे हैं। त्रिविध वेदार्थ प्रक्रिया के अतिरिक्त एक अन्य प्रक्रिया भी है। इस प्रक्रियानुसारी मन्त्रार्थ के संकेत यत्र तत्र प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं।

व्यावहारिकार्थ प्रक्रिया—मानव समाज से सम्बद्ध अर्थ को प्रधानता देकर वेद के व्यावहारिक अर्थ को उद्घाटित करने का परम श्रेय इस युग में स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। ऋषि दयानन्द के द्वारा समाश्रित व्यावहारिकार्थ प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें त्रिविध प्रक्रिया का अन्तःपुट रहते हुए भी यह एक स्वतन्त्र प्रक्रिया का स्थान ग्रहण करने में समर्थ है। कर्मकाण्डीय अर्थ के प्रचलन के कारण लोक में यह धारणा उत्पन्न हो गयी थी कि वेद का मानव जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके निवारणार्थ उन्होंने वेद का व्यावहारिक अर्थ विशेष रूप से प्रस्तुत किया।

इस व्यावहारिकार्थ प्रक्रिया का मूलाधार है अलंकारों का प्रचुर समाश्रय। अन्य वेद भाष्यकारों ने कहीं कहीं अलंकारों का उपयोग किया है, परन्तु स्वामी दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में इनका भरपूर उपयोग किया है। जिस-जिस मन्त्र के श्लेषादि अलंकारों द्वारा पारमार्थिक और व्यावहारिक दो-दो अर्थ सम्भव थे, उनके दो-दो ही अर्थ किए हैं। अन्यथा केवल व्यावहारिक अर्थ ही किया है। उन्होंने वेद के पारमार्थिक अर्थात् आध्यात्मिक और व्यावहारिक अर्थ देने का विशेष प्रयत्न किया है।[1]

---

१. पृ० १७–२० के लिए श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक का आभारी हूं—सत्यश्रवा।

दूसरा अध्याय

ऋग्वेद के भाष्यकार

१. स्कन्द स्वामी—लगभग संवत् ६८७ अथवा सन् ६३०

ऋग्वेद के ज्ञात भाष्यकारों में से, स्कन्द स्वामी सब से प्राचीन है। सायण, देवराज यज्वा, आत्मानन्द, वेङ्कटमाधव प्रभृति सब ही आचार्य उसे अपने-अपने भाष्यों में उद्धृत करते आये हैं। स्कन्द स्वामी का काल अब निश्चित हो गया है। यह निश्चय कैसे स्वतः हुआ, इसका उल्लेख यहां अनुचित न होगा।

स्कन्द स्वामी के काल का ज्ञान—सन् १९२८ मास अगस्त के आरम्भ में मैं काशी गया। वहां क्वीन्स कालेज के सरस्वती भवन में एकत्र किए हुए हस्तलिखित पुस्तक-संग्रह को देखने की चिरकाल से मेरी इच्छा थी। इसी लिए उस संग्रह के सूची पत्र में से देखने योग्य ग्रन्थों के नाम नोट करता रहता था। मेरे मित्र श्री पण्डित मंगल देव जी शास्त्री सन् १९२८ के कुछ पूर्व से ही पुस्तकालय के अध्यक्ष चले आ रहे थे। उन्हीं की कृपा से मैंने कुछ दिन अभीष्ट ग्रन्थ देखे।

एक दिन पुस्तक-भण्डार में वे मेरे समीप बैठे थे। मैंने माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के हविर्यज्ञ अर्थात् प्रथम काण्ड के हरिस्वामी भाष्य के हस्तलिखित ग्रन्थ को निकलवाने के लिए उन्हें कहा। इस भाष्य का यही एक हस्तलेख अब तक मेरी दृष्टि में आया है। यह हस्तलेख हरिस्वामी कृत शतपथ ब्राह्मण के भाष्य की संवत् १८४९ की प्रतिलिपि है। ग्रन्थ मिलने पर मैंने उसके अन्तिम पत्र का तथा शास्त्री जी ने पहले पत्र का पाठ आरम्भ किया। भाष्य के अन्त में हरिस्वमी ने अपने काल का निर्देश किया है।

मैं अभी विचार कर रहा था कि शतपथ ब्राह्मण के सायण भाष्य के प्रथम काण्ड के अन्त में हरिस्वामी के भाष्य का जो अंश छपा है वह इस भाष्य से मिलता है अथवा नहीं, कि इतने में हर्षान्वित मेरे मित्र ने मेरा ध्यान उसके भूमिकात्मक श्लोकों की ओर दिलाया। मेरी प्रसन्नता का पारावार न रहा। इन श्लोकों में मुझे ऋग्वेद भाष्यकार आचार्य स्कन्द स्वामी का काल मिल गया।

हरिस्वामी का काल—इसी प्रथम काण्ड के भाष्य के अन्त में हरिस्वामी पुनः लिखता है—

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

अर्थात् जब कलि के ३७४० वर्ष व्यतीत हुए तब यह भाष्य रचा गया। क्या इसका अर्थ कलि सम्वत् के ३०४७ वर्ष व्यतीत होने पर भी हो सकता है? कुछ विद्वानों ने ऐसा ही माना है। उन्होंने **सप्त** को पृथक् पद माना है। **वै** पद का प्रयोग होने से इस प्रकार काल निर्देश हो सकता है। यदि यह व्याख्या ठीक है तो द्वितीय श्लोक के साथ संगति ठीक बैठ जाती है। ३७४० कलि शब्द अर्थ करने में एक आपत्ति यह भी है कि उस समय अर्थात् विक्रम संवत ६९५ में अवन्ति अथवा उज्जैन में कोई विक्रम था, इसकी अभी इतिहास से सिद्धि नहीं हुई।

आचार्य स्कन्द का काल—हरिस्वामी का काल ठीक जान लिया गया है। उस काल के आधार पर आचार्य स्कन्द स्वामी का काल भी ज्ञात हो गया है। हरिस्वामी सम्बन्धी निम्नलिखित श्लोक इसे स्पष्ट करते हैं—

नागस्वामी तन्न [प्ता] श्रीगुहस्वामीनन्दनः।
तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढयो लक्ष्म्या समेधितः ॥५॥
तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद्वेदवेदिमान्।
त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात् ॥६॥
यः सम्राट् कृतवान् सप्तसोमसंस्थास्तथर्क्कश्रुतिम्।
व्याख्या [ां]कृत्वाध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः ॥७॥
ततोऽधीतमहातंत्रो विश्वोपक्कृतिहेतवे।
व्याचिख्यासुः श्रुतेरर्थं हरिस्वामी नतो गुरुम् ॥८॥

अर्थात् श्री गुहस्वामी का पौत्र और नागस्वामी का पुत्र याज्ञिक, प्रमाणज्ञ और लक्ष्मी से युक्त हरिस्वामी था। वह वेदों के व्याख्यान में प्रवीण और गुरु मुख से विद्या पढ़ा हुआ था। जिसने सात सोम संस्था करके सम्राट् की पदवी प्राप्त की और ऋग्वेद पर व्याख्या करने के पश्चात् मुझे पढ़ाया था, वह श्री स्कन्दस्वामी मेरा गुरु है।

प्रथम काण्ड के ब्राह्मण भाष्य के अनेक अध्यायों की समाप्ति पर निम्नलिखित श्लोक लिखे हैं—

नागस्वामी सुतोऽवन्त्यां पाराशर्यो वसन् हरिः।
श्रुत्यर्थं दर्शयामास शक्तितः पौष्करीयकः ॥
श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्याच्छातपथी श्रुतिं ॥

अर्थात् पराशर गोत्र वाले, नागस्वामी के पुत्र, पुष्कर निवासी, अवन्तिनाथ, विक्रमार्क के धर्माध्यक्ष, हरिस्वामी ने शतपथ की श्रुति का व्याख्यान किया।

कलि संवत् ३१०२ पूर्व ईसा में आरम्भ हुआ था। इसलिए हरिस्वामी ने सन् ६३८ में शतपथ के प्रथम काण्ड का भाष्य किया।[1] भाष्य करने से कुछ वर्ष पूर्व वह अपने गुरु स्कन्द स्वामी से पढ़ता रहा। स्कन्द स्वामी उसको पढ़ाने से पूर्व ही अपना ऋग्भाष्य समाप्त कर चुका था। अनुमानतः लगभग सन् ६३० में स्कन्द स्वामी अपना भाष्य कर रहा होगा।

डा० लक्ष्मण स्वरूप ने सन् ५३८ ईसा में हरिस्वामी का भाष्य करना लिखा है —

'The commentary of Hariswami was composed when 3740 years of the Kali era had passed. This gives 538 A. D. as the date of the commentary of Hariswami as the Kali era began on the 18th of February 3202 B. C. The Vikrama mentioned in verse 9 was evidently Yas'odharman of Malwa who defeated Mihiragula in 528 A. D. and assumed the title of Vikramaditya.'[2]

वे ३२०२ पूर्व ईसा से कलि संवत् का आरम्भ मानते हैं। कलि संवत् का आरम्भ ३२०२ पूर्व ईसा में हुआ हो, ऐसा किसी अन्य विद्वान् का मत नहीं। अतः स्कन्द के ऋग्भाष्य करने का काल ६३० सन् ईसा ही ठीक है।

पण्डित साम्बशिव शास्त्री ने भट्टिकाव्य के टीकाकार गोविन्दस्वामी सूनु हरिस्वमी की संमानता का शतपथ ब्राह्मण भाष्यकार हरिस्वामी से जो अनुमान किया है, वह सत्य नहीं है।[3] शतपथ ब्राह्मण भाष्यकार हरिस्वामी के पिता का नाम नागस्वामी था। इससे प्रतीत होता है कि भट्टिकाव्य के टीकाकार के सम्बन्ध में यदि पं० साम्बशिव शात्री का लेख ठीक है, तो क्या हरिस्वामी नाम के दो आचार्य हो चुके हैं।

---

१. इस सम्बन्ध में मूल लेखक कृत निम्न ग्रन्थ भी देखें—
(क) पं० भगवद्दत्त, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, दूसरा संस्करण, देहली।
(ख) पृ० २१५-२१६, भगवद्दत्त तथा सत्य श्रवा, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ, प्रणव प्रकाशन, नई दिल्ली, १९७४।

2. p. 29, Introduction, Indices and Appendices to the Nirukta, Lakshman Sarup, Lahore, 1929.

३. इति सत्कविचूडामणिगोविन्दस्वामिसूनुश्रीहरिस्वामीविरचितमहाकाव्यटीकायां भगवच्छङ्करपरमहंसपरिव्राजकनिगदितायां जयमंगलायां तिङन्तकाण्डे लुङ्विलसितं नवमः परिच्छेदः। पृ० ३, भूमिका, ऋक्संहिता, त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रंथमाला, ९६, १९२९।

परन्तु भट्टिकाव्य का जो संस्करण निर्णयसागर प्रेस मुम्बई से सन् १९०० में निकला था, उसके अन्त में टीकाकार का नाम जयमंगल आदि और ग्रन्थकार का नाम श्रीस्वामिसूनु कवि भट्टि लिखा है। इसलिए पं० साम्बशिव शास्त्री के लेख के सुनिश्चित होने में अभी सन्देह है। सटीक भट्टिकाव्य के जिस हस्तलेख का प्रमाण पं० साम्बशिव शास्त्री ने दिया है, उसकी तुलना अन्य अनेक ग्रन्थों से होनी चाहिए।

स्कन्द-काल सम्बन्धी अन्य प्रमाण—उपरिवर्णित अकाट्य प्रमाण के अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रमाण भी उपलब्ध हैं जिनसे स्कन्द स्वामी के काल का ज्ञान होता है।

(क) सायण (१३७२-१४४४ संवत्) स्कन्द स्वामी को एक प्राचीन भाष्यकार मानता है। उसने अपने ऋग्वेद-भाष्य में लिखा है—

१. वराहून वरशब्दोपपदाङ्पूर्वाद्धन्तेर्वा, हरतेर्वा, ह्वयतेर्वा, जुहोतेरदनार्थाद्वा हु इत्येतस्य निष्पत्तिरिति स्कन्दस्वामी।[1]

२. द्विनञ् पूर्वस्यासुन्प्रत्ययान्तस्य वेदेरेकस्य नञो लोपः अन्यस्य प्रकृतिभावश्च स्कन्दस्वामिना निपातितः। पाणिनिना तु नभ्राण्नपादिति सूत्रे न वेत्तीत्येतस्मिन्नर्थे निपातितः। अस्यार्थस्यानुपपन्नत्वात् स्कन्दस्वामिपक्ष एवाश्रीयते।[2]

(ख) १४वीं शताब्दी के आरम्भ का देवराज यज्वा अपने निघण्टुभाष्य में स्थान स्थान पर स्कन्द स्वामी को उद्धृत करता है।[3] यथा—

१. अस्य स्कन्द स्वामी—'दूरं गताभवति नैरन्तर्येणात्मकाशादिवत् दूरेऽप्युपलब्धेर्गतिक्रिया-व्यवहारः।' पृ० ७

२. छादनार्थं विशिष्टम्—इति स्कन्द स्वामी। पृ० १२

३. 'हलश्छान्दसत्वाद्वाकारलोपः—इति स्कन्द स्वामी। पृ० १५

४. अस्य स्कन्द स्वामी—'निरमणात्=निश्चलत्वेनावस्थानात् इत्यर्थः रमन्ते वास्यां भूतानि इति। पृ० १५।

५. 'अध्वरं यज्ञम्'—इति स्कन्द स्वामी व्याख्याति। पृ० ३१

६. 'रसाहरणादिकं स्वव्यापारं साध्नुवन्ति संसिद्धं कुर्वन्ति'—इति स्कन्द स्वामी। पृ० ३८

७. इमानि स्कन्द स्वामी निर्वचनानि। पृ० १०१

८. 'अध्यायपरिसमाप्तिसूचनं द्विर्वचनं, श्रुतौ तथादर्शनात्—इति अत्र स्कन्दस्वामी। पृ० १६२

---

१. अष्टक १, अध्याय ६, वर्ग १४, ऋक् ६।

२. अष्टक ४, अध्याय १, वर्ग ५, ऋक् ३।

३. निघण्टु भाष्य, देवराज यज्वा, सम्पादक सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १८८२।

(ग) १३वीं शताब्दी का केशव स्वामी अपने नानार्थार्णव संक्षेप में लिखता है :—

द्वयोस्त्वश्वे तथाह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः ।
माधवाचार्यसूरिश्च को श्रद्यत्यृचि भाषते ॥[1]

अर्थात् दोनों लिंगों में गौ शब्द का घोड़ा अर्थ है। इसी प्रकार अनेक ऋचाओं में स्कन्द स्वामी ने घोड़ा अर्थ किया है और विद्वान् माधवाचार्य ऋग्वेद में यही अर्थ करता है।[2]

(घ) १२वीं शताब्दी अथवा इससे कुछ पूर्व का वेंकट माधव लिखता है :—

भाष्याणि वैदिकान्याहुरार्यावर्तनिवासिनः ।
क्रियमाणान्यपीदानीं निरुक्तानीति माधवः ॥ ८ ॥
स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति क्रमात् ।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम् ॥ ६ ॥[3]

अर्थात् स्कन्द स्वामी, नारायण और उद्गीथ ने मिल कर एक ऋग्वेद भाष्य रचा। स्कन्द भाष्य पहले भागों पर, नारायण भाष्य मध्य भाग पर और उद्गीथ भाष्य अन्तिम भाग पर है।

यदि ऋग्वेदीय सम्प्रदाय के अधिक ग्रन्थ मिल जायें, तो उनसे हरिस्वामी निर्दिष्ट स्कन्द के काल की सत्यता अवश्य प्रमाणित होगी। वस्तुतः हरिस्वामी का अपना लेख ही उसका काल निर्धारित करने के लिये पर्याप्त है। अतएव इस बात के स्वीकार करने में अणु मात्र भी सन्देह न होना चाहिये कि आचार्य स्कन्द स्वामी सम्वत् ६३० के पूर्व अपना ऋग्वेद भाष्य कर चुका होगा।

ऋग्वेद भाष्यकार स्कन्द स्वामी
और
निरुक्त टीकाकार स्कन्द स्वामी

उप प्रयोभिरागतम्—इत्यादिषु निरुक्तटीकायां स्कन्दस्वामिना प्रयइत्यन्ननाम इत्युच्यते। तथा च श्रक्षिति श्रवः—इत्यादिनिगमेषु वेदभाष्ये श्रव इत्यन्ननाम—इति स्पष्टमुच्यते ।२।७॥

देवराज यज्वा के इस लेख से हम जानते हैं कि ऋग्वेद भाष्यकार और निरुक्त टीकाकार अथवा वृत्तिकार स्कन्द दोनों एक ही हैं। परन्तु सम्प्राप्त निरुक्त-भाष्य-टीका उसी प्राचीन स्कन्द की है, इसमें डा० लक्ष्मण स्वरूप को सन्देह है। वे लिखते हैं :—

"In my opinion, this commentary is the composition of Mahesvara. But there is a serious difficulty. All the extant Mss. attribute some portions of the

---

१. पृ० ८, भाग प्रथम, काण्ड १२, नानार्थार्णवसंक्षेप, त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला २३। सन् १९२८ की ओरिएण्टल कान्फ्रेन्स में, जो लाहौर नगर में हुई थी, इस प्रमाण की ओर मूल लेखक ने विद्वानों का ध्यान दिलाया था।

२. १। ८४। १६॥ ऋग्वेद।

३. अष्टक ८, अध्याय ४ की भूमिका, ऋगर्थदीपिका।

commentary to Skanda. How to explain the colophons of these Mss. ? In my opinion, the difficulty is solved if we presume that Mahesvara's commentary is a tika on the *bhasya* of Skanda. This is supported by the title of the commentary, namely, "The Nirukt-abhasya-tika", which may be explained as the tika on the Nirukta-bhasya.

"The evidence of the final colophons of Mss. B and C is against the hypothesis of Skanda's authorship. The internal evidence is also against Skanda. As already stated, the name of Durga is mentioned in the commentary. Quotations from Durga's commentary are frequent. Skanda is quoted by Devaraja Yajvan who is anterior to Durga. Skanda is therefore still earlier than Durga. The former could not have mentioned or quoted the latter.

"This is futhrer supported by the fact that Devaraja Yajvan has preserved, in his commentary on the Nighantu several passages of Skanda's commentary on the Nirukta. Some of these passages are not found in the present commentary. Skanda's explanation of the words उर्वी, अदितिः, इला, अध्वरम्, स्वः साध्याः, वासरम्, अश्मा, अहिः preserved by Devaraja Yajvan in the form of quotations is not found in the text of the present commentary. This commentary is therefore not the work of Skanda.

"Skanda's explanation of the word *gau* is preserved as a long quotation by Devaraja Yajvan in his commentary on the Nighantu. .... The explanation of the word *gau* in the commentary in Ms. C. is the following :—

Passage of Ms. C.

Sic. गौरिति पृथिव्या नामधेयम्......... उदाहरणम् गोषदसि इति गार्हपत्योपस्थाने विनियोगात् गार्हपत्यस्य च गवि पृथिव्यां सद(साद०)-नात् गोशब्दस्य च पृथिव्यभिधानता निश्चिता सर्वशब्दानामाख्यातजत्वप्रतिज्ञानात् प्रवृत्तिनिमित्तमाह। यद्दूरं गता भवति नैरन्तर्येणात्माकाशादिवत्। दूरेऽप्युपलब्धेर्गमिक्रियाव्यवहारः। अन्यत्र चान्यत्र चोपलब्धेर्दूरोपदेशः। प्रत्ययोपात्तरूढ्यर्थसंबन्धाच्च गमिरत्र नैरन्तर्योपलब्धिदूरविशिष्टगमनमुपादत्ते तथा परिव्राजक इति यथा। यद्यपि चायं गोशब्दः पश्वादावनेकत्र रूढ़स्तथाप्यस्य तत्र तत्र मन्त्रवाक्या-

Passage prescerved by Devaraja Yajvan

गौः (Ngh. I. 1.)—अस्य स्कन्दस्वामी। "दूरं गता भवति नैरन्तर्येणात्माकाशादिवत्। दूरेऽप्युपलब्धेर्गतिक्रियाव्यवहारः। अन्यत्रान्यत्र चोपलब्धेर्दूरोपदेशः। प्रत्ययोपात्तरूढ्यर्थसम्बन्धाच्च गमिरत्र नैरन्तर्योपलब्धिदूरविशिष्टं गमनमुपादत्ते। तक्षा परिव्राजक इति यथा। यच्चास्यां भूतानि प्राणिनो गच्छन्ति। चो वार्थे। गातेर्वा स्तुत्यर्थस्य। गीयते स्तूयतेऽसाविति। गायन्ति वास्यां स्थिता इति गौः। उदाहरणम्। 'गोषदसि' इति। गार्हपत्योपस्थाने विनियोगात् गार्हप्रत्यस्य च गवि

र्थसमवायसंभवादभिधेयन्निश्चित्य तदवयवभूतस्य गमेस्तद्विशेषयतैव व्यतिरेकव्यावृत्यर्थं पूर्ववत् प्रदर्शनीयेति। यच्चास्यां भूतानि प्राणिनो गच्छन्ति चो वार्थे कारकविकल्पश्चायं कर्तरि कारकेधिकरणे वेत्यर्थः। गातेर्वा स्तुत्यर्थस्य ग्रौकारप्रत्ययः धातुविकल्पश्चायं स्तूयतेसाविति गौर्गायन्ति वास्यां स्थिता इति गौः...... पृथिव्यां सवनात् गोशब्दस्य पृथिव्यभिधानत्वन्निश्चितमिति"॥

"A comparison of this passage with Skanda's quotation preserved by Devaraja Yajvan clearly shows that the commentary of Mahesvara is a tika on the bhasya of Skandasvamin. Examples can be multiplied but I think it is not necessary to do so. It may therefore be stated that the present commentary 'is the work of Mahesvara and is a further elucidation of the bhasya of Skandasvamin."[१]

अर्थात् प्रस्तुत वृत्ति (निरुक्त-भाष्य-टीका) महेश्वर की बनायी हुई है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह स्कन्द भाष्य की महेश्वर विरचित टीका है। इस प्रतिज्ञा के प्रमाण भूत चार हेतु उन्होंने दिये हैं। वे ये हैं:—

१. कुछ अध्यायों के समाप्ति वाक्य टीका को महेश्वरकृत बताते हैं।

२. टीका का नाम निरुक्त-भाष्य-टीका है।

३. देवराज यज्वा ने स्कन्द के जो प्रमाण दिये हैं, उनमें से एक की तुलना स्पष्ट बताती है कि महेश्वर की वृत्ति स्कन्द भाष्य की टीका है।

४. **उर्वी, ग्रदिति, इला, ग्रध्वरम्, स्वः, साध्याः, वासरम्, ग्रश्मा, ग्रहिः** इन शब्दों का स्कन्द स्वामी कृत व्याख्यान जो देवराज के निघण्टु भाष्य में मिलता है, इस मुद्रित निरुक्त-भाष्य-टीका में नहीं मिलता।

हमारी समझ में इन हेतुओं से उक्त परिणाम नहीं निकल सकता। क्योंकि:—

१. यदि कुछ अध्यायों के समाप्ति-वाक्य टीका को महेश्वर कृत बताते हैं, तो दूसरे, जो गणना में पर्याप्त हैं, टीका को स्कन्द स्वामी प्रणीत भी बताते हैं। अन्य दो अध्यायों के समाप्ति वाक्य शबर स्वामी[२] को टीका का कर्ता बताते हैं। अतः यह हेतु डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप का पक्ष सिद्ध नहीं करता।

२. डा० लक्ष्मण स्वरूप का दूसरा हेतु भी अति निर्बल है। इसलिये अब निरुक्त-भाष्य-टीका नाम पर विचार करना चाहिये। निरुक्त की दुर्गाचार्य वृत्ति के पढ़ने वाले जानते हैं कि दुर्ग यास्क

१. पृ० १२-१४, निरुक्त-भाष्य-टीका, लक्ष्मण स्वरूप, लाहौर, १९२८।

२. पृ० ८५, भाग १, अंक १, त० र० चिन्तामणि, Journal of Oriental Research, Madras.

को भाष्यकार कहता है।[1] ठीक इसी प्रकार प्रस्तुत निरुक्त टीका में भी मूल निरुक्त को भाष्य लिखा है—

तस्य निरुक्तस्य पञ्चाध्याया गौर्ग्मा इत्यादयो निघण्टवस्तेषां व्याख्यानार्थं षष्ठप्रभृति समाम्नायः समाम्नातः (नि० १.१) इति भगवतो यास्कस्य भाष्यम्।[2]

यास्क को निरन्तर भाष्यकार कहा गया है।[3] अतएव निरुक्त-भाष्य-टीका का अर्थ है, निरुक्त रूपी जो निघण्टुभाष्य है उस की टीका।

मूल निरुक्त के कई ऐसे हस्तलेख हैं जिनके अध्यायों की समाप्ति पर आज तक इस निरुक्त को निरुक्तभाष्य कहा गया है।[4] निश्चय ही प्राचीन ग्रन्थकार निरुक्त शब्द को निघण्टु का द्योतक मानते थे और इसलिये निघण्टु भाष्य को निरुक्तभाष्य भी कह देते थे।[5] स्कन्द महेश्वर का जो प्रमाण पूर्व दिया गया है, वहां भी निरुक्त के पहले पांच अध्यायों को निघण्टु कहा गया है और आजकल के प्रथम अध्याय को षष्ठ कहा गया है।

देवराज यज्वा इस भाव को और भी स्पष्ट करता है। वह लिखता है :—

ग्रा उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः (निरुक्त-२।२१) इत्यादि भाष्यस्य स्कन्दस्वामिग्रन्थः।[6] अर्थात् निरुक्त (२-२१) पर स्कन्द स्वामी से उद्धरण।

३. डा० लक्ष्मण स्वरूप का तीसरा हेतु भी विचार करने पर सत्य नहीं ठहरता। देवराज यज्वा स्कन्द के पूरे वाक्य को उद्धृत नहीं करता, प्रत्युत उसमें से उपयोगी भाग ले रहा है और उस उपयोगी भाग को भी अपने प्रकार से ऊपर नीचे करता है। अन्य अनेकों स्थानों में देवराज का उद्धरण निरुक्त-भाष्य-टीका से, सिवाय पाठान्तरों के, सर्वथा मिलता है।[7]

---

१. पृ० २१७, ३०३, ३४०, ४०९ इत्यादि, आनन्दाश्रम संस्करण, पूना।
२. पृ० ४, निरुक्त-भाष्य-टीका, लक्ष्मण स्वरूप, लाहौर, १९२८।
३. पृ० ५, १५, ५८, ९२ इत्यादि, वही।
४. हस्तलेख संख्या ३७३८, ३८२३, लालचन्द पुस्तकालय, लाहौर। अब यह हस्तलेख संग्रह होशियार पुर में है।
५. इसी बात को भूल कर सत्यव्रत सामश्रमी ने निरुक्त पाठ को, जिसे सायण अपने भाष्य में समाविष्ट करता है, सायण भाष्य के नाम से दिया है। पृ० १७९, निघण्टु भाष्य का संस्करण, सम्पादक सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १८८०, Bibliotheca Series. 152.
६. १।१०।१८,१९।। निघण्टु भाष्य, वही।
७. (क) २।१।७।। निघण्टु भाष्य, वही।
(ख) २।१३।। पृ० १०७, निरुक्त, भगवद्दत्त।

[1]अत्र स्कन्द स्वामी—व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति[2] कर्त्तरि सत[3] इति[3] कृतव्याख्यानम्। तद्धि[4] शुभमशुभं वा। वृणोति निबध्नाति (महेश्वर—बध्नाति) कर्त्तारम्। तथा च श्रुतिः—तं[5] विद्याकर्मणी समन्वारभेते[6] पूर्वप्रज्ञा चेति। इदमपीतरद् व्रतम्—गुडलवणस्त्र्यादिविषयनिवृत्तिरूपं[7] कर्म। एतस्मादेव रूपसामान्यात्।

प्रसक्तं व्रतं निरुच्यते। वारयतीति सतः। निवृत्तिरूपो[8] हि सङ्कल्पः[9] (महेश्वर—कल्पः)। तदतिक्रम्य प्रमादात् प्रवर्त्तमानं पुरुषं[10] वारयतीति सत इत्यन्येषां[11] पाठोऽर्थश्च। व्रतमिति कर्मनाम। निवृत्तिकर्म (महेश्वर—कर्मनाम) वारयतीति सत इति। व्रतं कर्मोच्यते। कस्मात्। वार्यते (महेश्वर—वारयतेः) तद्धि सङ्कल्पपूर्वकं प्रवृत्तिरूपमग्निहोत्रादिकर्म प्रत्यवायं वारयतीति पुरुषः प्रवर्त्तमानो निवर्त्तमानश्च व्रतेनाभिसंबद्धः[12]। (महेश्वर—प्रकृतेनाभिसम्बन्धः) तेनाव्रतेन (महेश्वर—तेन व्रतेन) निवार्यत इति व्रतस्यैव प्राधान्याद् हेतुकर्तृत्वेन विवक्षा[13]। भोजनमपि व्रतं क्षुदादिनिवारणात् (महेश्वर—क्षुदानि०)

इतने लम्बे पाठ में केवल सात पाठान्तरों के अन्य कोई भेद नहीं है। वे पाठान्तर भी इसीलिये हैं कि देवराज और महेश्वर के ग्रन्थों के हस्तलेख अभी पर्याप्त संख्या में नहीं मिले। इस उद्धरण को देखकर कौन कह सकता है कि देवराज के पास निरुक्त का ठीक वैसा ही स्कन्द महेश्वर भाष्य नहीं था, जैसा कि हमारे पास है। 2

---

१. यह सारा पाठ दो नए हस्तलेखों की सहायता से शोधा गया है। स=सत्यव्रत सामश्रमी का संस्करण। द=दयानन्द कालेज, लाहौर, का हस्तलेख संख्या ५५८२। ब=बनारस क्वीन्स कालेज संख्या १२।
२. स—वृणोति नास्ति।
३. ब—सतरिति।
४. स—तद् द्विविधम्। ब—तद्विधं।
५. स—ते।
६. स—समत्वारभते। द—समन्वारभे। ब—समन्वारभते।
७. द—निवृत्तिकरूपं।
८. द—निवृत्तरूपो।
९. द—सः कल्पः।
१०. द—अरुषं।
११. स—नास्ति।
१२. स—सम्बन्धः।
१३. स—विवक्ष्यते।

४. डा० स्वरूप का चौथा हेतु भी ठीक नहीं।[१] **उर्वी** शब्द का व्याख्यान निरुक्त (२-२६) पर, **अदितिः** का निरुक्त (४-२२) पर, **स्वः** का निरुक्त (२-१४) पर और **वासरम्** का निरुक्त (२-२) पर, इसी प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलते हैं। **अश्मा** शब्द पर देवराज स्वयं कहता है कि यह प्रमाण ऋग्वेद (२-१२-३) के स्कन्द भाष्य से लिया गया है। इसी प्रकार **अहिः** शब्द पर उद्धृत स्कन्द का भाव भी ऋग्वेद (१०-१३९-६) के भाष्य से लिया गया है। शेष रहे तीन शब्द—**इला, अध्वरम्** और **साध्याः**। इनमें से **इला** शब्द का अर्थ तो ऋग्भाष्य में मिलना चाहिये। जो मन्त्र इस शब्द के स्कन्द के प्रमाण के साथ देवराज ने उद्धृत किया है उसका स्कन्द भाष्य अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये इसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। शेष दो शब्द **अध्वरम्** और **साध्याः** हैं। इनमें से पहले का व्याख्यान भी निरुक्त (६-२२) पर इसी स्कन्द-महेश्वर भाष्य में मिलता है। **साध्याः** शब्द का व्याख्यान अन्वेषणीय है।

एक और बात भी विचारणीय है। डा० स्वरूप का चौथा हेतु तभी ठहर सकता है, जब हमें निश्चय हो जाये कि महेश्वर ने स्कन्द प्रणीत निरुक्त के सारे भाष्य की टीका नहीं की। परन्तु ऐसा अभी तक असिद्ध है। इससे निश्चित होता है कि देवराज अपने निघण्टु भाष्य में इसी स्कन्द-महेश्वर के निरुक्त भाष्य से अथवा स्कन्द स्वामी के ऋग्वेद भाष्य से स्कन्द का नाम लेकर सब प्रमाण देता है।

महेश्वर और स्कन्द का सम्बन्ध—यदि महेश्वर का स्कन्द भाष्य के साथ डा० स्वरूप प्रदर्शित सम्बन्ध नहीं है तो उसका स्कन्द के साथ और क्या सम्बन्ध है? यह प्रश्न बड़ा जटिल है। इसका सन्तोषजनक उत्तर पर्याप्त सामग्री के मिलने पर ही दिया जा सकता है। पर हां, कुछ ऐसे स्थल अवश्य हैं जिन पर ध्यान देने से हम सत्य के निकट पहुंच सकते हैं। उनका निदर्शन नीचे किया जाता है।

(क) देवराज यज्वा महेश्वर से परिचित था—वेङ्कट माधव के लेख से हम जानते हैं कि स्कन्द स्वामी, नारायण और उद्गीथ, तीनों ने मिल कर एक ऋग्वेद भाष्य रचा था। देवराज यज्वा ने वेङ्कट माधव का भाष्य बड़े ध्यान से पढ़ा था। अतः यदि अन्य प्रकार से नहीं, तो वेङ्कट माधव के कथन से ही देवराज जानता था कि स्कन्द के सहकारी नारायण और उद्गीथ भी थे। परन्तु देवराज यज्वा ने अपने ग्रन्थ में स्कन्द के साथ नारायण और उद्गीथ का नामोल्लेख भी नहीं किया।[२] इसी प्रकार प्रतीत होता है कि स्कन्द और महेश्वर दोनों को जानते हुए भी देवराज यज्वा ने निरुक्त-टीका के सम्बन्ध में स्कन्द का ही नाम लिखना पर्याप्त समझा है।

---

१. डा० राज ने भी डा० स्वरूप का कथन स्वयं निर्णय किए बिना मान लिया है। पृ० २५१, Proceedings of the Fifth Indian, Oriental Conference।

२. अस्यवामीय सूक्त का भाष्यकार, आत्मानन्द भी इसी प्रकार, प्रथम मण्डल को स्कन्द का न कह कर उद्गीथ का ही कहता है। ऐसा पृ० ८, भाग १, Catalogue of Sanskrit Manuscripts, India Office, London तथा पृ० १०४, भाग १, Descriptive Catalogue of Manuscripts in the Central Library, Baroda से स्पष्ट है।

निरुक्त-भाष्य-टीका का तीसरा अध्याय महेश्वर-विरचित है। उसमें निरुक्त ३-१० की वृत्ति में **अम्बु** की व्याख्या में यह लिखा है—

अम्बुमद्भातीति वा। राजतेरर्थं भातिनाऽऽचष्टे। स्वच्छस्तिमितसरोऽम्बुवदवभासते। कलितोपमानं[1] चैतत्। यथा—

पुञ्जीकृतमिव ध्वान्तमेष भाति मतङ्गजः।
सरः शरत्प्रसन्नाम्भो नभः खण्डमिवोज्झितम्॥
परमार्थतः स्वरूपमवकाशम् अम्बुमद्भवतीति वा। रो मत्वर्थे सः।

अब इसकी तुलना देवराज यज्वा के निम्नलिखित लेख से करनी चाहिये। देवराज का लेख **अम्बरम्** शब्द के भाष्य पर है। इस **अम्बरम** के व्याख्यान से ही उसने **अम्बु** का व्याख्यान भी कर दिया है। देवराज लिखता है—

अथवा अम्बुवद्राजते। स्वच्छस्तिमितसरोऽम्बुवदवभासते। कल्पितोपमानं चैतत्। यथा—

पुञ्जीकृतमिव ध्वान्तमेष भाती मतङ्गजः।
सरः शरत्प्रसन्नाम्भो नभः खण्डमिवोज्झितम्॥ इति

परमार्थतः स्वरूपमवकाशः। अथवा अम्बुमत् भवति। रोमत्वर्थीयः।[2] (१।३।१)

दोनों वाक्य समूहों में कितनी समानता है। निरुक्त की टीका में यह पाठ प्रकृत रूप से है और देवराज यज्वा ने बिना कर्ता का नाम लिये इसे अवश्य ही वहां से उद्धृत किया है।[3] हम लिख चुके हैं कि यह पाठ निरुक्त भाष्य-टीका के उस अध्याय का है जिसे महेश्वर कृत लिखा गया है।

पूर्वोक्त निरुक्त-भाष्य-टीका के वचन से आठ पंक्ति आगे का एक और वचन—**शाकपूणेरतिरिक्ता एते**......इत्यादि देवराज यज्वा निघण्टु २-१९ के आरम्भ में स्कन्द स्वामी के नाम से उद्धृत करता है। इससे प्रतीत होता है कि देवराज यज्वा सारे ग्रन्थ को ही स्कन्द के नाम से उद्धृत करता है।

डा० स्वरूप के लिये एक कठिनाई है।[4] उनका कहना है कि यदि देवराज यज्वा महेश्वर को

---

१. कल्पितोपमानं पाठ चाहिए। डा० स्वरूप का D हस्तलिखित ग्रन्थ इसी पाठ का समर्थन करता है।

२. देवराज यज्वा का यह पाठ पन्जाब यूनिवर्सिटी लायब्रेरी, लाहौर, के हस्तलेख से शुद्ध करके दिया गया है।

३. देवराज यज्वा और स्थलों में भी दूसरे आचार्यों के लेख बिना उनका नाम लिए अपने ग्रन्थ में प्रयुक्त करता है। इसी प्रकार निघण्टु ३।१७॥ में अध्वर की व्याख्या स्कन्द कृत ऋग्वेद-भाष्य १।१।४॥ का उद्धरण मात्र है।

४. पृ० ११-१२, भूमिका, स्कन्द-महेश्वर विरचित निरुक्त-भाष्य टीका, लक्ष्मण स्वरूप, लाहौर, १९२८।

जानता था तो वह दुर्गाचार्य को भी अवश्य ही जानता था। परन्तु उसने दुर्गाचार्य का नाम क्यों नहीं लिखा।

देवराज उद्धृत स्कन्द-महेश्वर के जिस लम्बे वचन की तुलना हमने पृष्ठ २५, २६ पर की है, वह वचन हमने प्रयोजन विशेष से चुना है। उस वचन को लिखते हुए स्कन्द-महेश्वर के मन में दुर्गाचार्य का भाष्य अवश्य विद्यमान था। देखिये—

दुर्गाचार्य	स्कन्दमहेश्वर
निगमप्रसक्तमुच्यते। व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति। एवं कर्तरि कारके सतो वृणोतेः। तद्धि कर्म शुभमशुभं वा कृतं सदावृणोति कर्तारम्। २।१३॥	**निगमप्रसङ्गादाह। व्रतमिति कर्मनाम् वृणोतीति। कर्तरि सत इति कृतव्याख्यानम्। तद्धि शुभमशुभं वा वृणोति बध्नाति कर्तारम्।**

इसी प्रकार आगे भी दोनों के शब्दों में कुछ समानता है। अब प्रश्न होता है कि देवराज यज्वा दुर्गाचार्य का स्मरण क्यों नहीं करता। यद्यपि देवराज दुर्ग का स्मरण नहीं करता, परन्तु देवराज के पूर्ववर्ती वेङ्कट माधव से उद्धृत उद्गीथाचार्य को दुर्ग-भाष्य का ज्ञान अवश्य था। यथा—

दुर्गाचार्य	उद्गीथ
एते देवानां स्वभूताः.........स्पशः.........चिह्नयितारः। ......अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये ......इत्येवमादयः। ५।२॥	**एते देवानां स्वभूताः स्पशः चराः अहश्च रात्रिश्चोभे च सन्ध्ये इत्येवमादयः। १०।१०।८॥**
आगच्छान् आगमिष्यन्तीत्यर्थः। आह। कानि। उच्यते। तान्युत्तराणि युगानि। आगमिष्यन्ति तेऽपि कालाः। न तावत् सांप्रतं वर्तन्त इत्यभिप्रायः। येषु किम्। येषु जामयो भगिन्यो भ्रातृणाम् अजामियोग्यानि मैथुनसम्बन्धानि कर्माणि करिष्यन्ति। कलियुगान्ते हि तादृशः संकरो भवति। न चेदं कलियुगं वर्तत इत्यभिप्रायः। ४।२०॥	**आ गच्छान्। आगमिष्यन्ति। ता तानि। उत्तरा उत्तराणि। युगानि कालाः। कलियुगान्ते। नेदानीं वर्तन्त इत्यभिप्रायः। यत्र येषु कालेषु। जामयः भगिन्यः। कृण्वन् करिष्यन्ति। अजामि जामि भर्तृत्वेन नास्ति यस्य तदजामि। भगिन्या अयोग्यं मैथुनलक्षणं कर्म। (ऋग्भाष्य १०।१०।१०)**

इन दोनों वचनों में कितनी समानता है। दोनों ग्रन्थकारों में से एक के मन में दूसरे का ग्रन्थ अवश्य विद्यमान था और उद्गीथ भी दुर्ग का ध्यान करके लिख रहा था। यदि कहेंगे कि दुर्ग ने उद्गीथ और स्कन्द आदि से भाव लिया है, तो यह असङ्गत हो जाता है। दुर्ग ने भी तो स्कन्द का नाम कहीं नहीं लिखा। कहीं एक जगह भी **'अन्ये'** कहकर स्कन्द की पंक्तियां नहीं लिखीं। केवल एक स्थान पर दुर्ग ठीक स्कन्द जैसा वचन लिखता है। यथा—

अपरे पुनः पदप्रकृतिः संहितेति । पदानि प्रकृतिरस्याः सेयं पदप्रकृतिरिति ॥[1]

यद्यपि स्कन्द को यही भाव अभिमत था, तथापि दुर्ग ने **अपरे** कहकर यह पंक्ति स्कन्द से नहीं ली। दुर्ग और स्कन्द दोनों के काल से बहुत पहले प्रस्तुत सूत्र **पदप्रकृतिः संहिता** के दो अर्थ चले आ रहे थे। वाक्यपदीय का कर्ता भर्तृहरि भी, जिसे स्कन्द-महेश्वर निरुक्त-भाष्य १।२॥ में उद्धृत करते हैं, दोनों ही अर्थों को स्पष्ट कर रहा है—

पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया ॥२।५८॥

अतः दुर्ग प्राचीन काल से प्रचलित अर्थ को **अपरे** लिखकर बताता है।

दूसरी और स्कन्द-महेश्वर **'अन्ये'** आदि लिख कर बहुधा दुर्ग का लेख उद्धृत करते हैं। स्कन्द लिखता है—

अन्ये 'बालिशस्य 'वासमानजातीयस्य वा' इति तुल्यत्वात् संहितायाः 'असमानजातीयस्य वा' इत्येवमवच्छिन्दन्ति । सा स्त्रीत्वादेव भगिनी भ्रातुरसमानजातीया इत्युच्यत इति व्याचक्षते । ४।२०॥

दुर्ग कहता है—

असमानजातीयो हि पुरुषस्य भगिन्याख्यो भ्राता । सा हि स्त्रीत्वादेवातुल्यजातीयैव पुरुषस्य भवति ।४।२०॥

'बालिशस्य वासमानजातीयस्य वा'

इस यास्क वाक्य का **'समान जातीयस्य'** पाठ महेश्वर को ही सम्मत नहीं था, प्रत्युत स्कन्द और उद्गीथ को भी सम्मत था। इसका प्रमाण नीचे दिया जाता है—

जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा । समानजातीयस्य वा । इति वचनादत्र जामिशब्देन समान-जातीय उच्यते । यथा समानादेकस्माज्जातस्य ।[2]

पुनः स्कन्द निरुक्त १।१६॥ के भाष्य में लिखता है—

ये तु ऋच्छन्तीव खे उदगन्ताम् इत्येतं पाठमाश्रित्यास्येममर्थं व्याचक्षते ।

ऋच्छन्तीवैतौ कर्णौ प्रति खे व्यक्ताः सन्तः शब्दा एतावपि चोदगन्तां प्रत्युद्गच्छत इव ग्रहणाय ।

यह वाक्य ठीक दुर्ग का है। पुनः स्कन्द-महेश्वर में लिखा है—

सौधन्वना रथकारा निषादशब्दवाच्या इत्यन्ये । ३।८॥

दुर्ग लिखता है—

निषादः । सौधन्वना इत्येके मन्यन्ते । स च रथकारः ।

यदि दुर्ग को उद्गीथ या स्कन्द का पाठ ज्ञात होता तो वह अवश्य अन्य पाठ भी देता।

---

१. १।१७॥ निरुक्त, दुर्ग वृत्ति सहित।

२. १०।२३।७॥ ऋग्वेद, उद्गीथभाष्य।

दुर्ग अपने से प्राचीन आचार्यों का पाठ व मत बहुधा देता है।[१] परन्तु इनमें से एक भी ऐसा स्थान नहीं जिससे यह स्पष्ट प्रतीत हो कि दुर्ग स्मरण कर रहा है।

निरुक्त १।२०।। का स्कन्द महेश्वर का भाष्य ऋग्वेद १०।७१।५।। के उद्गीथ भाष्य से लगभग मिलता है। उद्गीथ वहां प्रसङ्गवश निरुक्त १३।१३।। का पाठ उद्धृत करता है। और दुर्ग भी निरुक्त भाष्य में वही निरुक्त १३।१३।। का पाठ उद्धृत करता है। ध्यान पूर्वक पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि उद्गीथ के मन में दुर्ग का भाष्य था।

स्कन्द ऋग्भाष्य और स्कन्द महेश्वर निरुक्त भाष्य की तुलना

पहले कई ऐसे स्थल बताये जा चुके हैं, जहां स्कन्द-महेश्वर का पाठ उद्गीथ के पाठ से प्रायः मिलता है। अब एक ऐसा स्थल लिखा जाता है, जिसके देखने से दृढ़ निश्चय होता है कि ऋग्भाष्य और निरुक्त भाष्य के कर्ता अथवा कर्ताओं का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। ऋग्वेद भाष्य १।६।४।। का पाठ निरुक्त भाष्य २।५।। के **आदह स्वधा॰** मन्त्र के भाष्य से बहुत ही मिलता है। दोनों स्थलों में किसी प्राचीन ग्रन्थ का एक ही प्रमाण उद्धृत किया गया है। ग्रन्थविस्तर भय से सारा पाठ यहां नहीं दिया गया। परन्तु तुलना करके विद्वान् स्वयं देख सकते हैं कि महेश्वर ने स्कन्द भाष्य पर टीका नहीं की। वह तो स्कन्द का कोई साथी ही है और उसके पाठों को अधिक परिवर्तन के बिना प्रयोग करता है। निरुक्त वृति २।२२।। का पाठ ऋग्वेद १०।२७।२३।। के भाष्य से बहुत ही मिलता है। दोनों भाष्यों के कुछ और स्थान जो मिलते-जुलते हैं, डाक्टर राज के लेख से देखे जा सकते हैं।[२]

अब प्रश्न होता है कि यदि महेश्वर देवराज यज्वा आदि से पुराना है तो उसका स्कन्द और उद्गीथादि से क्या सम्बन्ध है?

महेश्वर स्कन्द, नारायण या उद्गीथ का शिष्य होगा

यह श्रेय डा॰ राज को है कि उन्होंने स्कन्द-महेश्वर के निम्नलिखित तीन पाठों की ओर सबसे पहले विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया।[३]

१. **उपाध्यायस्त्वाह— अनेकार्थत्वाद्धातूनां महदेवार्थस्य वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासस्येदं रूपम्।**[४]

---

१. दुर्गाचार्य ने ३।१५।। में जिनका मत लिखा है, उन्हीं का खण्डन स्कन्द महेश्वर करता है। **वेसर-महरवयुवती** ४।११।। दुर्ग सम्मत पाठ है। दुर्गाचार्य किसी और का पाठ नहीं जानता। स्कन्द दुर्ग सम्मत पाठ का खण्डन करता है। अन्य प्रमाण देखें दुर्गवृत्ति ५।२५।।, ६।२, ३,५,१४,१६,२२ ।।

२. पृ॰ २५२-२५३, भाग २, All India Oriental Conference, Lahore, 1928।

३. पृ॰ २५३, वही।

४. ३।१३।। निरुक्ति वृत्ति।

२. ....महांस्त्वं भवसि तत्र समिध्यमान इति शेषः। इत्युपाध्यायव्याख्यानम्।[1]

३. एवं उपाध्यायेन यदि वेति तुल्यायां संहितायां यदिति इकारान्तं वेति चेति एवं रूपद्वयमपोद्धृत्य व्याख्यातम्।[2]

इन में से प्रथम वचन जिस मन्त्र पर है, उसके उपयोगी अंश का स्कन्द कृत व्याख्यान इस प्रकार है—

'ववक्षिथ' इत्यपि यद्यपि वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासस्य रूपम्। तथापि 'विवक्षिथ विवक्षस' इति महन्नामसु पाठात् वहनवचनयोश्चासम्भवात् अनेकार्थतया धात्वन्तराणामपि प्रसिद्धत्वात् ववक्षतिर्महद्भावार्थः।[3]

निरुक्त वृत्ति का तीसरा अध्याय स्पष्ट महेश्वर विरचित कहा गया है।[4] पूर्वोक्त प्रथम वचन उसी में आया है। वह स्कन्द के ऋग्भाष्य से बहुत मिलता जुलता है। इस से प्रतीत होता है कि महेश्वर उद्गीथ या स्कन्द को अपना उपाध्याय मानता था।

महेश्वर के प्राचीन होने में एक और प्रमाण

निरुक्तवृत्ति ३।१६॥ में महेश्वर लिखता है—

तथा च चूर्णिकारः पठति।[5]

इस से आगे पातञ्जल महाभाष्य का एक पाठ उद्धृत है। चीनी यात्री इत्सिङ्ग के लेख से हम जानते हैं कि सातवीं शताब्दी में भी भाष्यकार पतञ्जलि की कृति को चूर्णि ही कहते थे। अर्वाचीन काल में यह नाम बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। अतः इस नाम के प्रयोग से भी यह अनुमान हो सकता है कि महेश्वर नवीन व्यक्ति नहीं है।

इसलिए जब निरुक्त वृत्ति के कुछ अध्याय-विशेष स्कन्द प्रणीत लिखे आ रहे हैं और दूसरे अध्याय-विशेष महेश्वर प्रणीत, तो इस बात के मानने में सन्देह नहीं होना चाहिए कि जो अध्याय जिस आचार्य के नाम से है वह उसी का रचा हुआ है। एक हस्तलेख के दो अध्यायों के अन्त में शबर का नाम कैसे आ गया, यह हम नहीं कह सकते।

महेश्वर के पिता का नाम पितृशर्मा था। यह बात निम्नलिखित श्लोक में उसने स्वयं कही है—

---

१. वही।

२. ७।३॥ वही।

३. १।१६४।३७॥ ऋग्वेद, स्कन्द भाष्य सहित।

४. इसी अध्याय के खण्ड १० में दुर्ग और उद्गीथ के अर्थ का बिना नाम लिये खण्डन किया गया है।

५. तुलना करें मेधातिथि के लेख से। मनुस्मृति ५।१५८॥ पर भाष्य करते हुए वह लिखता है—उक्तं च चूर्णिकाकारेण। एक चूर्णिकाकार तन्त्रालोक पृ० २५४, भाग तृतीय में उद्धृत है।

निरुक्तमन्त्रभाष्यार्थपूर्ववृत्तिसमुच्चयः ।
महेश्वरेण रचितः सूनुना पितृशर्मणः ।।

इस श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ पूर्णतया स्फुट नहीं हुआ ।

स्कन्द का निवास स्थान—आचार्य स्कन्द वलभी का रहने वाला था। ऋग्वेदभाष्य के प्रथमाष्टक के प्रथम अध्याय की समाप्ति पर वह लिखता है—

वलभीविनिवास्येतामृगर्थागमसंहृतिम् ।
भर्तृध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्दस्वामी यथास्मृति ।।

स्कन्द भाष्य के चतुर्थाष्टिक के अन्त में भी यही श्लोक विद्यमान है। इससे ज्ञात होता है कि स्कन्द स्वामी वलभी (गुजरात) का रहने वाला था।

ऋग्वेदभाष्य के अध्यायों के अन्त के पूर्वोद्धृत स्कन्द के लेख से यह भी जाना जाता है कि स्कन्द के पिता का नाम भर्तृध्रुव था। डा० राज का अनुमान है कि वलभी का राजा ध्रुवसेन ही कदाचित् भर्तृध्रुव हो।[1] इस अनुमान के मानने के लिए मुझे अभी तक कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिला है।

स्कन्द स्वामी कृत ऋग्वेदभाष्य=आगमसंहृति

आचार्य स्कन्द का ऋग्भाष्य याज्ञिक मतानुसारी है। इसके प्रत्येक सूक्त के आरम्भ के भाष्य में प्राचीन अनुक्रमणियों के ऋषि और देवता के बोध कराने वाले श्लोकार्ध अथवा श्लोकों के पाद पाये जाते हैं। यह अनुक्रमणियां शौनक प्रणीत होंगी।[2] स्कन्द वेदार्थविबोध में छन्दोज्ञान को अनुपयुक्त मानता है। वह लिखता है—

न छन्दः । अनुपयुज्यमानवचनत्वादिति ।[3]

निघण्टु, निरुक्त, बृहद्देवता, शौनकोक्त वचनों और ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाणों से यह भाष्य सुभूषित है। **स्मरणं, स्मृतिः, स्मरन्ति** लिखकर प्रायः मनुस्मृति के प्रमाण ही दिए गये हैं। चतुर्थाष्टक के अष्टमाध्याय के तीसवें वर्ग की दूसरी और तीसरी ऋचा के भाष्य में शाकपूणि के निरुक्त से प्रमाण दिया गया है। ऋग्वेद १।८।७।। के भाष्य में केचित् लिखकर सम्भवतः किसी प्राचीन वेद भाष्यकार का

---

१. p. 258, Proceedings of A. I. O. C., Lahore, 19:8.

२. जो आर्षानुक्रमणी शौनक के नाम से राजेन्द्रलाल मित्र ने प्रकाशित की थी, वह अर्वाचीन है। षड्गुरुशिष्य आदि ग्रन्थकार जो श्लोक शौनकोक्त आर्षानुक्रमणी से उद्धृत करते हैं, वे इस में नहीं मिलते।

३. इस भाव का खण्डन जयतीर्थ करता है। उस का संकेत स्कन्द की ओर ही प्रतीत होता है। उस का वचन यह है—**एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृ भवति । ऋग्भाष्य पत्र १३ क ।**

उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद ३।४७।२६॥ अथवा अष्टक ४।७।३५।४॥ के भाष्य में **विष्ठितं जगत्** पदों के सम्बन्ध में निम्नलिखित वचन है—

केचित्तु—विष्ठितशब्द स्थावरवचनः जगदित्येतेन समुच्चीयते स्थावरं जङ्गमं च बुध्यतामिति—एवं व्याचक्षते।

इससे सम्भवतः किसी प्राचीन ऋग्भाष्य का ही पता मिलता है। यद्यपि यह मंत्र निरुक्त ६।१३॥ में भी है, पर वहां यास्क का व्याख्यान और प्रकार से है। दुर्ग व्याख्यान में भी **मन्यताम्** अर्थ है, **बुध्यताम्** नहीं। अतः स्कन्द का संकेत किसी निरुक्त भाष्य की ओर कदाचित् ही हो सकता है।

डा० कूहनन राज का अनुमान है कि स्कन्द के ऋग्वेद भाष्य की भूमिका के अन्त में **अस्माभिर्भाष्यं करिष्यते** में **अस्माभिः** पद सम्भवतः स्कन्द, नारायण और उद्गीथ के सम्मिलित सम्पादन का द्योतक है।[1] यह मत इस भाष्य के १।६५।१॥ के **तदेतद् विस्तरेण वक्ष्यति** से अधिक स्पष्ट हो जाता है।[2]

सायण का ऋग्वेदभाष्य बहुत स्थलों में इस भाष्य की छायामात्र है।

स्कन्द स्वामी के खिल व्याख्यान के सम्बन्ध में ऋग्भाष्य पृष्ठ २७८, भाग प्रथम, सहायक है।

स्कान्द ऋग्भाष्य के हस्तलेख—स्कन्द के ऋग्वेद भाष्य के जो हस्तलेख अब तक मिले हैं, उनमें प्रथमाष्टक सम्पूर्ण मिलता है। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चमाष्टक के कुछ अंश ही हैं। चतुर्थाष्टक के अन्त में लिखा है कि ३२वें अध्याय पर स्कन्द स्वामी का भाष्य समाप्त हुआ। इससे इतना निश्चित होता है कि चतुर्थाष्टक तक तो स्कन्द भाष्य था ही। अगले पत्रों पर मण्डल ६।७५।६॥ तक का भाष्यांश है। इस भाष्य के हस्तलेख त्रिवेन्द्रम, अड्यार, और राजकीय पुस्तकालय मद्रास में है।

प० साम्बशिव शास्त्री के संस्करण में सम्पादन के बहुत दोष हैं। उदाहरणार्थ पृ ६१,६४ और १३१ पर निरुक्त २।५॥ का एक प्रसिद्ध पाठ तीन प्रकार से छपा है। सम्पादक को वैदिक वाङ्मय का ज्ञान प्रतीत नहीं होता। इस भाष्य को यत्नपूर्वक सम्पादन करने की बड़ी आवश्यकता है।

स्कन्द स्वामी कृत ऋग्भाष्य का एक नमूना निम्नलिखित है—

के ष्ठा नरः श्रेष्ठतमा य एकएक आयय।
परमस्याः परावतः॥[3]

अत्र श्यावाश्वाख्यानके बृहद्देवतायां च पठितमितिहासमाचक्षते। श्यावाश्वस्य ब्रह्मचारिणः पिता आत्रेयोऽर्चनना राज्ञो रथवीतेर्ऋत्विग्वा बभूव। स कदाचिद् यज्ञार्थं वृतः सपुत्र उपागतः। वितते यज्ञे रथवीतेर्दुहितरं कन्यकां ददर्श। तां पुत्रार्थे ययाचे। तं रथवीतिर्भार्यया सह संमंत्र्य प्रत्याचचक्षे—अनृषिर्नो न जामाता अयं च श्यावाश्वो ब्रह्मचारी न ऋषिरिति। स प्रत्याख्यातो वृत्ते यज्ञे स्वमाश्रमं

---

१. p. 249, Proceedings of the 5th Oriental Conference, Lahore, 1928.
२. देखें पृ० २४८, वही।
३. ऋग्वेद ५।६१।१॥

जगाम। श्यावाश्वस्तु कन्यायामावृत्ताभिलाषः कदाचित् पात्रहस्तो भैक्षं चचार। भैक्षं चरन् राज्ञस्तरन्तस्य शशीयस्या भार्याया गृहं जगाम। तं शशीयसी नामगोत्रे पृष्ट्वा भर्त्रे तरन्ताय दर्शयामास। तेन चानुज्ञाता बहुविधं धनमजाविकं गवाश्वं चास्मै ददौ। तरन्तोऽपि धेनुकं दत्वा भ्रातुः पुरुमीढस्य सकाशं प्रेषयामास। गच्छ सौम्य सोऽपि ते दास्यतीति। गच्छते चास्मै शशीयसी पन्थानं कथयाञ्चकार अमुकेनामुकेन च पथा गच्छेति।

एतस्मिन्नेव काले हि राजर्षि तरन्तं द्रष्टुं तत्र मरुत आजग्मुः। तांस्तुल्यरूपांस्तुल्यवयस्कांश्च विस्मितः पृच्छति स्म।

के यूयं स्थ। हे नरः मनुष्याकाराः श्रेष्ठतमा ये अतिशयेन प्रशस्या ये च आयय आयाताः स्थ। एकः एकः पृथक् स्वेन स्वेन अश्वेनेत्यर्थः। परमस्याः। परावत इति दूरनाम। परमं यद् दूरं तस्माद् दूरात् कुतोऽपीत्यर्थः।

अर्थात्—यहां पर श्यावाश्वाख्यान और बृहद्देवता में पढ़ा गया इतिहास कहा जाता है—श्यावाश्व ब्रह्मचारी का पिता अर्चनाना आत्रेय राजा रथवीति का ऋत्विक् था। एक समय वह सपुत्र यज्ञ के लिए आया और उसने राजा की कन्या को देखा। उस कन्या को उसने अपने पुत्र के लिए मांगा। राजा ने अपनी स्त्री की सम्मति लेकर इन्कार कर दिया और कहा कि हमारा जामाता ऋषि ही होता है। आपका पुत्र ऋषि नहीं है। इस प्रकार इन्कार किए जाने पर यज्ञ के अन्त में वह अपने आश्रम को चला गया। श्यावाश्व उस कन्या को चाहता था। वह हाथ में पात्र लिए हुए भिक्षा करता हुआ राजा तरन्त की भार्या शशीयसी के घर गया। शशीयसी,उसका नाम और गोत्र पूछकर,उसको अपने पति के पास ले गई। पति की आज्ञा से उसे बहुत सा धन, बकरियां, भेड़, गौ और घोड़े दिए। तरन्त ने भी गौ देकर अपने भाई पुरुमीढ के पास भेजा कि वह भी तुम्हें कुछ देगा। उसे वहां जाने का रास्ता भी बताया गया। इतने ही में राजा तरन्त को देखने के लिए मरुत आए। उन समान रूप वाले समान अवस्था वाले मरुतों को देखकर विस्मित हुआ श्यावाश्व उन्हें पूछता है—

हे अत्यन्त श्रेष्ठ मनुष्यो! आप कौन हो? आप पृथक्-पृथक् अपने-अपने घोड़ों से अत्यन्त दूर से आए हो।

जिस आख्यान का स्कन्द ने उल्लेख किया है, वह बृहद्देवता और किसी प्राचीन आख्यान-ग्रन्थ में था। सायण ने इस सूक्त के भाष्य की भूमिका में कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं, वे प्राचीन आख्यान-ग्रन्थ के हो सकते हैं। स्कन्द ने इन दोनों ग्रन्थों का भाव अपनी भाषा में लिखा है।

२. नारायण (लगभग संवत् ६८७)

इस ग्रन्थ के पृ० २५ पर वेङ्कट माधव के ऋग्भाष्य का जो श्लोक उद्धृत किया गया है उससे हम जानते हैं, कि नारायण स्कन्द स्वामी का एक सहकारी था। नारायण के भाष्य का अवलोकन अभी तक मैंने नहीं किया। पं० साम्बशिव शास्त्री के पास जो 'क' चिन्ह का हस्तलेख है, उसमें सप्तमाष्टक पर भी कुछ भाष्यांश मिलता है। परन्तु पञ्चमाष्टक का केवल प्रथम अध्याय ही है। और षष्ठाष्टक नहीं मिला। बहुत सम्भव है पांचवां और छटा अष्टक नारायण कृत भाष्य से सम्बन्धित हों।

डा० राज का अनुमान है कि यह नारायण सामविवरणकार माधव भट्ट का पिता हो सकता है ।[1] उन्हीं के विचार का अनुवाद पं० साम्बशिव शास्त्री के उपोद्घात में मिलता है—

स्कन्दस्वामिसहचरनारायणपण्डितस्य सुतत्वेन सम्भावितस्य माधवपण्डितस्य कृतौ सामवेद-व्याख्यायाम् उपक्रमे—

ॐश्रीगणपतये नमः ॐनमः सामवेदाय, इत्युक्त्वा—

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे ।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः ॥[2]

इति मंगलकरणदर्शनात् महाकविबाणभट्टस्यानुग्रहीता तत्परमाचार्यो वा सोऽयं माधवपंडितः प्रत्येतव्यः । सति चैवमदसीयमेव सामवेदव्याख्याग्रन्थगतं मंगलपद्यं स्वकीयकादम्बर्यामपि तदनुग्रहस्मरणकृते बाणभट्टेन तथैवानूदितं शक्यमभ्यूहितुम् । सामवेदव्याख्याता प्रौढो माधवपण्डितः सर्वमान्यश्रीस्कन्दस्वामीय-ऋग्भाष्यगताम्—"एते सर्वे प्रयोगकाले स्वार्थं प्रतिपादयन्तः कर्मणोऽङ्गत्वं प्रतिपद्यन्ते" इत्यादिवाक्य-पद्धतिमिव कस्यापि कवेः काव्यगतं 'रजोजुष' इत्यादिमंगलपद्यं स्वग्रन्थेऽनूदितवानिति कल्पना तु न क्षोदक्षमा, ग्रन्थस्यापकर्षापत्तेः । अतः क्रिस्त्वब्दीयसप्तमशतकपूर्वार्धवर्तिनो बाणभट्टादनर्वाचीनस्य माधव-पण्डितस्य जनकसहचरः स्कन्दस्वाम्याचार्यः ततः प्राक्तन एवं शक्यः स्थापयितुम् इति ।

इस का अभिप्राय यह है कि बाणभट्ट ने ही सामवेद भाष्यकार माधव भट्ट से अपनी कादम्बरी का मङ्गल श्लोक लिया है । अतः बाण से पुराना माधव भट्ट सम्भवतः स्कन्द के सहचर नारायण का पुत्र था ।

सम्भव है यह अनुमान ठीक हो, परन्तु इस को पूर्णतया सिद्ध करने के लिये अभी प्रयत्न विशेष की आवश्यकता है । हां, इतना और भी सत्य है कि माधव भट्ट के सामवेद भाष्य की प्रस्तावना स्कन्द स्वामी के ऋग्वेद भाष्य की प्रस्तावना का स्वल्प भेद से रूपान्तर ही है ।[3]

माधव भट्ट अत्यन्त संक्षिप्त रूप से अपना परिचय देता है । अतः वह किसी नारायण का पुत्र था, यह जानना कठिन है । माधव का लेख इतना ही है—

पञ्चाग्निना माधवेन श्रीनारायणसूनुना सवितुः परां भक्तिमालम्ब्य तत्प्रसादाद् भाष्यं कृतम् ।

---

१. बहुत लिखने पर भी उक्त महाशय का तत्सम्बन्धी लेख मुझे नहीं मिल सका । किसी न किसी कारण वे इसे मेरे पास भेजने में अशक्त रहे हैं ।

परन्तु यह बात उन्होंने सन् १९२९ के दिसम्बर मास के अन्त में स्वयं मुझे कही थी । वह तब माडल टाऊन में मेरे अतिथि थे ।

२. यह श्लोक तत्व संग्रह टीका पृ० ५९, कारिका १०० के व्याख्यान में यथोक्तं कह कर उद्धृत है ।

३. तुलना करें बैवर का बर्लिन का सूचीपत्र, पृ० १७, १८ ।

इस नारायण के अतिरिक्त चार और नारायण हैं, जिनका नाम ऋग्वेद सम्बन्धी वाङ्मय में मिलता है। उनका उल्लेख आगे किया जाता है।

(क) आश्वलायन श्रौतवृत्तिकार नारायण

यह नारायण नरसिंह का पुत्र और गर्ग गोत्री था। इस ने भगवान् देव स्वामी के विस्तीर्ण भाष्य को देख अपनी वृत्ति लिखी थी। वह स्वयं अपनी वृत्ति के प्रारम्भिक श्लोकों में लिखता है—

आश्वलायनसूत्रस्य भाष्यं भगवता कृतम्।
देवस्वामिसमाख्येन विस्तीर्णं सदनाकुलम् ॥३॥
तत्प्रसादान्मयेदानीं क्रियते वृत्तिरीदृशी।
नारायणेन गार्ग्येण नरसिंहस्य सूनुना ॥४॥

यह नारायण कितना पुराना है, यह हम नहीं कह सकते। श्रीपाण्डुरङ्ग वामन काणे ने प्रो॰ भण्डारकर के आधार पर लिखा है कि यह नारायण त्रिकाण्ड मण्डन में उद्धृत है।[१] मुद्रित त्रिकाण्ड मण्डन में इस नारायण या इस की वृत्ति का नामोल्लेख भी हमें नहीं मिला। हां, उसकी टीका में तो नारायण उद्धृत है। परन्तु वह टीका बहुत नवीन है।[२] वेलङ्कर महाशय का विचार है कि इस नारायण को बौधायन प्रयोगसार का कर्ता केशव स्वामी उद्धृत करता है[३] और यही नारायण अनेक श्रौत प्रयोगों का कर्ता है।[४] हमारे विचार में ऐसा मानने के लिये अभी कोई प्रमाण नहीं है। अतः इस नारायण के काल सम्बन्ध में अभी कुछ विशेष रूप से नहीं कहा जा सकता। हमारा अनुमान मात्र है कि यह नारायण गृह्य विवरणकार से पहले का होगा।

(ख) गोभिल गृह्यवृत्तिकार नारायण

इसके ग्रन्थ का संवत् १५८३ का एक हस्तलेख पूना में है। अतः यह नारायण ४०५ वर्ष से अधिक ही पुराना होगा।

(ग) आश्वलायन गृह्यविवरणकार नारायण

गृह्य विवरणकार नारायण श्रौत वृत्तिकार नारायण से भिन्न प्रतीत होता है। उसके विवरण का आरम्भिक श्लोक यह है—

---

१. History of Dharmasastra, पृ॰ २८१।
२. देखें, वेलङ्कर, Descriptive Catalogue of S. and P. Mss., B. B. R. A. S., Vol. II., पृ॰ २१८, संख्या ६८९।
३. तथैव पृ॰ १६८, संख्या ५०८।
४. तथैव पृ॰ १८३, संख्या ५७३।

आश्वलायनमाचार्यं प्रणिपत्य जगद्गुरुम् ।
देवस्वामिप्रसादेन क्रियते वृत्तिरीदृशी ॥

अर्थात् यह गृह्यवृत्ति भी देव स्वामी के भाष्य के आधार पर लिखी गई है।

विवरण की समाप्ति पर ये दो श्लोक और मिलते हैं—

आश्वलायनगृह्यस्य भाष्यं भगवता कृतम् ।
देवस्वामिसमाख्येन विस्तीर्णं तत्प्रसादतः ॥
दिवाकरद्विजवर्यसूनुना नैध्रुवेण वै ।
नारायणेन विप्रेण कृतेयं वृत्तिरीदृशी ॥

अर्थात् दिवाकर शर्मा के पुत्र नारायण ने जो नैध्रुव गोत्री था, देव स्वामी के विस्तीर्ण भाष्य के अनुसार यह वृत्ति लिखी। पूर्वोद्धृत श्लोकों में इस ग्रन्थ को वृत्ति लिखा गया है, परन्तु अध्यायों के अन्त में इसे विवरण कहा गया है। इन श्लोकों के देखने से यह भाव उत्पन्न होता है कि गृह्य विवरणकार नारायण श्रौत वृत्तिकार नारायण से अर्वाचीन है। उसके श्लोक श्रौत वृत्तिकार के श्लोकों की छायामात्र हैं। यह उचित प्रतीत नहीं होता कि श्रौत वृत्तिकार गृह्य विवरणकार का इन श्लोकों के लिखने में अनुकरण करे।

यह गृह्य विवरणकार नारायण संवत् १३२३ से पूर्वकालिक है। रेणु दीक्षित जिसने पारस्कर गृह्य पर कारिका लिखी है और जो उस कारिका के अन्त में अपनी तिथि ११८८[1] शके (=१३२३ संवत्) देता है, वह सीमन्तोन्नयन संस्कार के प्रसंग में लिखता है[2]—

सीमन्तोन्नयनं कर्म न स्त्रीसंस्कार इष्यते ॥१४॥
केचिच्च गर्भसंस्काराद्गर्भं गर्भं प्रयुञ्जते ।
स्त्रीसंस्कारसमाख्याताविति नारायणोऽब्रवीत् ॥१५।१२॥

अर्थात् कई ग्रन्थकार प्रति गर्भ समय सीमन्तोन्नयन मानते हैं, वे इसको स्त्री संस्कार नहीं मानते, परन्तु नारायण इसे स्त्री संस्कार ही मानता है, और इसकी आवृत्ति प्रति गर्भ में नहीं मानता। विश्वरूप लिखता है—

प्रतिगर्भं चापसीमन्तोन्नयनाः प्रवर्तन्ते। तस्य स्त्रीसंस्कारत्वात्।[3]

रेणु का संकेत इसी आश्वलायनगृह्य विवरणकार की ओर है। इसी की वृत्ति में १।१४।१॥ सूत्र पर निम्नलिखित वाक्य मिलते हैं—

१. देखें, सूची India Office, Part I, पृ० ६८।
२. दयानन्द कालेज, लाहौर, का हस्तलेख, पत्र ६।
३. पृ० ३१, भाग १, अथवा १।११॥

इदं कर्म न प्रतिगर्भमावर्तते । स्त्रीसंस्कारत्वात् । न त्वयं गर्भसंस्कारः............सीमन्तोन्नयनमिति समाख्या बलात् । आधारस्य च संस्कृतत्वात् ।

यहीं से लेकर रेणु ने **समाख्या** शब्द का प्रयोग अपनी कारिका में किया है ।

(घ) शांखायनगृह्य-भाष्य का कर्ता नारायण

इसके भाष्य का नाम गृह्यप्रदीपक है । इसने अपना भाष्य संवत् १६२६ में बनाया था । यह बात इस के भाष्य से स्पष्ट है ।[1]

इन तीनों नारायणों में से तीसरा तो बहुत अर्वाचीन है । नैध्रुव नारायण भी गार्ग्य नारायण का अनुकरण करता हुआ प्रतीत होता है । अतः इनमें से यदि किसी नारायण पर स्कन्द के सहकारी भाष्यकर्ता होने का सन्देह हो सकता है, तो वह श्रौत वृत्तिकार नारायण ही है । परन्तु अधिक सामग्री के अभाव में सुनिर्णीत रूप से अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता ।

३. उद्गीथ (लगभग संवत् ६८७)

वेङ्कट माधव के लेखानुसार स्कन्द स्वामी का तीसरा सहकरी उद्गीथ था । उद्गीथ भाष्य का हस्तलेख सन् १६२६ में मुझे मिला था । परन्तु उद्गीथ का परिचय इस से पहले भी विद्वानों को था । सायण ऋग्भाष्य १०।४६।५।। पर और आत्मानन्द अपने **अस्यवामीय** सूक्त के भाष्य[2] में इसका उल्लेख करते हैं ।

उद्गीथ भाष्य का जो हस्तलेख हमें मिला है वह ऋग् १०।५।७।। से लेकर १०।८३।५।। का भाष्य है । मध्य में भी कतिपय मन्त्रों का भाष्य लुप्त है ।

इस भाष्य में निम्नलिखित विशेषताएं मैंने अब तक देखी हैं—

(क) ऋग्वेद १०।६।। के अन्त में **सस्नुषीस्तदपसो** मन्त्र को सकल पाठ में देकर उद्गीथ उसका भी भाष्य करता है । वह लिखता है **अब्देवत्या वै खैलिक्येषा** । परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि प्रस्तुत हस्तलेख में तीन चार और स्थानों पर मूल मन्त्रों का भी सकल पाठ मिलता है ।

(ख) ऋग्वेद १०।२७।२४।। के भाष्य में उद्गीथ ने **मास्मैतादृक्** के **मा । अस्मै । तादृक् ।** पद पढ़े हैं । दुर्ग का पद विच्छेद निरुक्त ५।१६।। के व्याख्यान में उद्गीथ समान ही है । स्कन्द-महेश्वर का पाठ शाकल्यानुसारी है । परन्तु इसमें हमें सन्देह है ।

(ग) उद्गीथ पुराने भाष्यकारों को बहुत कम स्मरण करता है । केवल १०।४५।२।। के भाष्य में **इति केचित्** कह कर किसी प्राचीन भाष्यकार की ओर संकेत करता है ।

---

१. देखें अलवर का सूचीपत्र, पृ० १ और उसी के अंश पृ० १, २ ।

२. तुलना करें H. A. S. L., मैक्समूलर कृत, १८६०, पृ० २४०, तथा बड़ोदा का सूचीपत्र, भाग १ पृ० १०४ ।

(घ) उद्गीथ भाष्य मैक्समूलर सम्पादित ऋक् सायण भाष्य के शुद्ध करने में बड़ी सहायता देता है। जैसे ऋग्वेद १०।८।५।। पर भाष्य करते हुए उद्गीथ लिखता है—

ऋताय उदकार्थं भौमरसलक्षणस्योदकस्यादानार्थम् ।

मैक्समूलर सम्पादित सायण पाठ इस प्रकार है—

ऋताय सोमरसलक्षणस्योदकस्यादानार्थम् ।

अब विचारणीय है कि जल भौमरस लक्षण तो हो सकता है, परन्तु सोमरस लक्षण नहीं। अतः सायण भाष्य का मैक्समूलर स्वीकृत पाठ शुद्ध हो जाना चाहिए। देवराज यज्वा भी निघण्टु भाष्य १।३।१५।। तथा १।५।७।। में उद्गीथ प्रदर्शित पाठ का ही समर्थन करता है। वस्तुतः सायण को भी यही पाठ अभीष्ट था।[1]

इसी प्रकार ऋग्वेद सायण भाष्य १०।१५।११।। में **प्रयतानि** का स्रुचि अर्थ मैक्समूलर ने अपने संस्करण में माना है। स्रुचि पाठ वस्तुतः अशुद्ध है। यहां पर **शुचीनि** चाहिए। उद्गीथ का पाठ ऐसा ही है और मैक्समूलर का C² कोश भी इसी शुद्ध पाठ का समर्थक है।

(ङ) सायण भाष्य जहां जहां त्रुटित अथवा दूषित हो गया है, वहां उद्गीथ भाष्य की सहायता से पाठ जाने जा सकते हैं। जैसे ऋग्वेद १०।१०।२।।; १०।१८।१४।।; १०।१२।१३।। इत्यादि में।

सायण ऋग्भाष्य के मुम्बई संस्करण के सम्पादकों ने जहां स्वकल्पना से त्रुटित स्थानों की पूर्ति की है वह भी उद्गीथभाष्य के पाठ से बहुत स्फुट हो जाती है। जैसे ऋग्वेद १०।२७।६।। का सारा सायण भाष्य इन्हीं सम्पादकों की कल्पना का फल है।

(च) निरुक्त १३।१३।। के पाठ का अंश ऋग्वेद १०।७१।५।। के भाष्य में उद्गीथ लिखता है।

(छ) ऋग्वेद १०।१६।१।। में उद्गीथ बृहद्देवता का नाम स्मरण करता है। परन्तु १०।७६।१।। के भाष्य में देवतानुक्रमणी के नाम से एक पाठ देता है, जो बृहद्देवता ७।१०६।। का पाठ है। सम्भव है कि बृहद्देवता ने यह पाठ देवतानुक्रमणी से लिया हो या उद्गीथ ही बृहद्देवता को देवतानुक्रमणी कह रहा हो।

(ज) ऋग्वेद १०।२०।८।। के पश्चात् उद्गीथ भाष्य में सूक्तों का एक नया विभाग है। हम नहीं कह सकते कि यह विभाग किस शाखा का था।

(झ) निरुक्त के भाष्यकार दुर्ग, और स्कन्द-महेश्वर तथा निघण्टु भाष्यकार देवराज और नैरुक्त ढंग का भाष्यकार वररुचि, ये सारे निरुक्त को भाष्य और यास्क को भाष्यकार लिखते हैं। परन्तु उद्गीथ भी ऋग्वेद १०।२७।२३।। के व्याख्यान में भाष्ये लिखकर निरुक्त २।५।। की पंक्ति उद्धृत करता है।

उद्गीथ का पूरा नाम आदि—आचार्य उद्गीथ अपने भाष्य में अध्यायों की समाप्ति पर निम्न-लिखित प्रकार का वाक्य पढ़ता है—

---

१. देखें, स्कन्द-महेश्वर, निरुक्त भाष्य, पृ० १।

वनवासी विनिर्गताचार्यस्य उद्गीथस्य कृता ऋग्वेदभाष्ये चतुष्पञ्चाशोऽध्यायः समाप्तः ॥

यदि वनवासी पाठ को स्कन्द के वलभीविनिवासी पाठ का टूटा हुआ अंश माना जावे तो इस वाक्य का यह अर्थ होगा—

विनिर्गत अर्थात् कहीं बाहर से आकर वलभी में रहने वाले आचार्य उद्गीथ का भाष्य।

उद्गीथ का भाष्यक्रम—उद्गीथ का भाष्य स्कन्दभाष्य के समान याज्ञिक पद्धत्यनुसार पूरे विस्तार से लिखा गया है। परन्तु सूक्तों के आरम्भ में स्कन्द के समान उद्गीथ आर्षानुक्रमणी को उद्धृत नहीं करता। वह तो ऋषि देवता सम्बन्धी ज्ञान अपनी संस्कृत में लिख कर ही संतुष्ट रहता है।

इस भाष्य का निम्नलिखित स्वल्प निदर्शन है—

उत्तरं सूक्तं 'बृहस्पते प्रथमम्' इत्येकादशर्चं ज्ञानस्तावकं बृहस्पतिराङ्गिरसो ददर्श। उक्तं च देवतानुक्रमणौ ?................

तज्ज्ञानमभितुष्टाव सूक्तेनाथ बृहस्पतिः।[1] इति।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

ऋग्वेद १०।७१।१॥

बृहस्पते। शरीरमात्मना स्थित्वाऽन्तरात्मानमामन्त्रयते मन्त्रदृक्। बृहस्पते मदीयान्तरात्मन् प्रथमं मुख्यं प्रधानमर्थज्ञानम्। ऋग्यजुस्सामादिलक्षणायाः अर्थज्ञानशून्यायाः सकाशात्। यच्चाग्रम्। अग्रशब्दोऽत्रादिवचनः आभिभूतञ्च। वाचः प्रवृत्तौ निमित्तभूतञ्चेत्यर्थः। यच्च प्र ऐरत प्रेरयन्ति शब्दोच्चारणकाले येन सहोच्चारयन्ति ब्राह्मणादयः पुरुषाः शब्दार्थज्ञानयोर्नित्यसम्बन्धत्वात्। नामधेयं ऋग्यजुस्सामादिलक्षणं नाम दधाना स्वमुखे मनसि वा धारयन्तः। उच्चारयन्त इत्यर्थः। यच्च येषां नाम्नां सकाशात् श्रेष्ठमतिशयेन प्रशस्यम्। यच्चारिप्रमासीदपापं सदा भवति। पापापनोदमित्यर्थः। उक्तं च भगवता वासुदेवेन—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।[2] इति।

प्रेणा प्रेम्णाऽतिप्रियत्वेन हेतुना तत् कार्यकारणस्वरूपज्ञान मेषांनाम्नां सम्बन्धिनि गुहा गूढे संवृत्ते मध्यदेशे निहितमभिधेयत्वेनावस्थापितं कारणात्मना आविः प्रकाशम्। तव भवत्विति शेषः।

उक्तविशेषणविशिष्टं कार्यकारणविषयं सम्यग्ज्ञानं तवोत्पद्यतामित्यर्थः।

अर्थात्—मन्त्रद्रष्टा ऋषि अपनी अन्तरात्मा को सम्बोधित करके कहता है कि हे अन्तरात्मन् तुझे हृदय-गुहा में स्थित नामों के अर्थों के ज्ञान का प्रकाश हो। वह अर्थज्ञान सर्व प्रधान है। वाणी के उच्चारण में सहायक है। जिसके जाने विना नामों का उच्चारण असम्भव है, जो नामों से श्रेष्ठ और पाप रहित है। जो प्रेम से हृदय की गुफा से प्रकाशित होवे।

---

१. यह पाठ बृहद्देवता ७।१०९॥ में मिलता है।

२. भगवद्गीता ४।३८॥

४. हस्तामलक=करामलक[1] (लगभग संवत् ७५७)

हस्तामलक शंकराचार्य के प्रसिद्ध चार शिष्यों में से एक था। कवीन्द्राचार्य के पुस्तक-भण्डार के सूचीपत्र में उसे भी ऋग्वेद का भाष्यकार लिखा गया है। [2] इसके ऋग्वेद भाष्य की सूचना अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। कहते हैं यह हस्तामलक प्रभाकरमिश्र का पुत्र था।[3] परन्तु इस बात को सुसिद्ध करने के लिये अभी प्रबल प्रमाणों की आवश्यकता है। इसका काल संवत् ७५७ के समीप ही रखना पड़ेगा।[4]

५. वेङ्कटमाधव (लगभग संवत् ११००-१२००)

काल—१. आचार्य सायण (१३७२-१४४४ सं०) ऋग्वेद १०।३८।१।। के भाष्य में लिखता है—**माधवभट्टास्तु-वि हि सोतोरित्येषर्गिन्द्राण्या वाक्यमिति मन्यन्ते।** अर्थात् माधव भट्ट ऋग्वेद १०।८६।१।। को इन्द्राणी का वाक्य मानता है। इस से आगे ऋचा पर सायण माधव भट्ट का भाष्य उद्धृत करता है। यह उद्धरण वेङ्कट माधव के भाष्य में मिलता है।[5] इस से निश्चित होता है कि वेङ्कट माधव सायण से पहले हो चुका था।

२. निघण्टु भाष्यकार देवराज यज्वा (सं० १३७० के निकट) सायण का पूर्ववर्ती है। डा० स्वरूप[6] का और मेरा[7] ऐसा ही मत है। इसके विपरीत डा० राज का मत है कि देवराज सायण का उत्तरवर्त्ती है। डा० राज लिखता है—

"I find that some passages cited by Devaraja from Madhava are seen in Sayana..."

"Devaraja gives passages from Madhava which are not in Venkatamadhava,

---

१. **कलौच शङ्कर-करामलकादयोऽपि-अनेकशः श्रवणादिरहितापि परां विरक्तिमगमन्**—हंसविलास, हंस मिट्ठू, पृ० २०।

२. गायकवाड़ प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला, संख्या १७, पृ० १।

३. देखें, जर्नल आफ ओरिएण्टल रिसर्च, मद्रास, सन् १९२९, पृ० ४६।

४. देखें, चिन्तामणि का लेख, The date of Sri Sankaracarya, जर्नल आफ ओरिएण्टल रीसर्च, मद्रास, सन् १९२९, पृ० ३९–५६।

५. देखें, डा० स्वरूप के Indices and Appendices to the Nirukta, 1929, पृ० ३१, ३२। डा० स्वरूप ने वेङ्कट माधव का एक ही हस्तलेख देखा था। अधिक ग्रन्थों को देखने से यह पाठ सायणोद्धृत पाठ से बहुत मिल जाता है।

६. निरुक्त, Preface, पृ० २५–२७।

७. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ, भगवदत्त तथा सत्यश्रवा, पृ० २२२।

which are opposed to the explanations in Venakata Madhava, and which are seen verbatim in Sayana.[1]

अर्थात् देवराज ने माधव के नाम से जो प्रमाण दिए हैं, उनमें से कुछ सायण भाष्य में अक्षरश: मिलते हैं। इस से आगे डा० राज ने देवराज से सात ऐसे प्रमाण दिए हैं, जो वेङ्कट माधव भाष्य में नहीं मिलते, परन्तु सायण भाष्य में ठीक वैसे ही मिलते हैं।

डा० राज की प्रतिज्ञा और तदर्थ दिए गए हेतुओं की परीक्षा

अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए डा० राज ने जो प्रमाण दिए हैं उन सब का आधार सत्यव्रत का संस्करण है। खेद से कहना पड़ता है कि सत्यव्रत का संस्करण अत्यन्त असन्तोषजनक है। सत्यव्रत के पास पर्याप्त सामग्री न थी। अत: उसके सम्पादित पाठों से किसी बात का निर्णय करना अपने को भ्रम में डालना है। हमारे पास देवराज कृत निघण्टु भाष्य के बहुत से भाग का एक पर्याप्त पुराना हस्तलेख है। वह कम से कम ४०० वर्ष पुराना होगा। इस ग्रन्थ का उससे अधिक पुराना हस्तलेख अभी तक मेरे देखने में नहीं आया। उसी के ध्यान पूर्वक देखने से सत्यव्रत के संस्करण की नितान्त अप्रामाणिकता सिद्ध होती है। देखिए, उसके मिलाने से हमारे कथन की सत्यता प्रमाणित होती है—

(क) मुद्रित निघण्टुभाष्य २।५।८॥ के अनुसार ऋग्वेद ४।६।८॥ का प्रमाण देकर देवराज लिखता है—**'अथर्यो न स्त्रियः इव' इति माधवः**।[2] ठीक यही पाठ साधारण भाष्य में मिलता है।

वेङ्कट माधव का पाठ है **अथर्यस् स्त्रियः**।

यह सत्य है कि यदि सत्यव्रत का संस्करण देवराज का वास्तविक पाठ होता तो डा० राज का पक्ष स्वीकार करना पड़ता, परन्तु उन अनेक कोशों को देखने से जिनके आधार पर पं० शुचिव्रत एम० ए० लाहौर में निघण्टु भाष्य का नया संस्करण बना रहे हैं, मैं निश्चय से कह सकता हूं कि इस स्थान पर मुद्रित पाठ देवराज का पाठ नहीं हैं। हमारे अपने हस्तलेख तथा इण्डिया आफिस के हस्तलेख E ५५६ में—**अथर्यं स्त्रिय इति माधवः** यह पाठ है। यह पाठ ठीक वेंकट माधव का पाठ है। देवराज **अथर्यः** पद में विसर्ग का लोप करता है।

अब डा० राज के दूसरे हेतु की परिक्षा होती है।

(ख) मुद्रित निघण्टु भाष्य १।१४।१८॥ में ऋग्वेद ६।६७।५४॥ का प्रमाण देकर देवराज लिखता है—

मांश्चत्वः। मन ज्ञाने। पदस्य न-लोपाभावः पृषोदरादित्वात्। "महीमे अस्य वृषनाम शूषे मांश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रे (ऋ० सं० ७,४,२१,४)"—इत्यत्र माधवस्य प्रथमभाष्यम्—'मही महती,

१. Proceedings, Fifth Indian Oriental Conference, पृ० २२६।

२. डा० राज का लेख, Proceedings, Fifth A. I. O. C., पृ० २३०।

इमे, अस्य सोमस्य, शूषे सुखकरे भवतः। ये च कर्मणी मांश्चत्वे। अश्वनामैतत्। मक्षु चरतीति। अश्वैः क्रियमाणे युद्धे बाहुयुद्धे, वधत्रे शत्रूणां हिंसनशीले भवतः। सोऽयं अस्वापयच्छत्रून्त्स्नेहयच्च। स्नेहनं प्रद्रावणम्। अथ प्रत्यक्षकृतः।

यह सत्य है कि यहां का मन्त्र भाष्य सायण भाष्य से बहुत मिलता है। परन्तु यह भी सत्य है कि मुद्रित पाठ देवराज का पाठ नहीं है। देखिए, हमारे हस्तलेख में देवराज का कैसा पाठ है।

मांश्चत्वः। मन ज्ञाने क्विप्। चततिर्गतिकर्मा। इण्शीङ्भ्यां वन्निति वन् प्रत्ययो बाहुलकाद्भवति। मन्यमानो ऽश्वपालस्येंगितं गच्छति मांश्चत्वः। समासे पूर्वपदस्य न-लोपाभावः। पृषोदरादित्वात्। महीमे अस्य वृषनाम शूषे मांश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रे—इत्यत्र माधवस्य प्रथमभाष्यम्। महती इमे अस्य सोमस्य सुखकरे वर्षणनमने शराणां वर्षणं शत्रूणां नमनमश्वैः क्रियमाणे युद्धे बाहुयुद्धे शत्रूणां हिंसनशीले ये भवतः सोयमस्वापयच्छत्रून् स्नेहयच्च। स्नेहणं प्रद्रावणं। अथ प्रत्यक्षः।[1]

लेखक प्रमाद से जो अशुद्धियां इस पाठ में प्रविष्ट हो गई हैं, उनको शोध कर देखने से मुद्रित पाठ से यह पाठ बड़ा उत्कृष्ट प्रतीत होता है। सत्यव्रत के पाठ में पहले तो दो पंक्ति का पाठ ही लुप्त है और आगे मन्त्र भाष्य सायण के अनुकूल बनाया गया है। स्पष्ट ज्ञात होता है कि सत्यव्रत ने निघण्टुभाष्य के जो दो पूर्ण वा त्रुटित हस्तलेख प्रयोग किए हैं, उनमें से पूर्ण कोश में किसी ऐसे शोधक का हाथ है जिसके पास माधव सायण का भाष्य था। वेङ्कट माधव के भाष्य से अपरिचित होने के कारण अथवा अपने मूल के बहुधा त्रुटित होने के कारण से उसने कई स्थलों पर माधव का नाम देकर सायण माधव का भाष्य समाविष्ट कर दिया है। अब हमारे कोशानुसार देवराज के पाठ से वेङ्कट माधव के पाठ की तुलना कीजिए। वेङ्कट माधव का पाठ मैंने अपने पुस्तकालय के मूल कोश से पञ्जाब यूनिवर्सिटी के मूल कोश से तथा मद्रास के कोश की प्रति से शोधकर लिया है।

ऋग्वेद ६।६७।५४।। पर वेंकट माधव का भाष्य

महीमे अस्य — महती इमे अस्य सोमस्य सुखकरे वर्षणनमने शराणां वर्षणं शत्रूणां नमनं अश्वैः क्रियमाणे युद्धे। अपि वास्पर्शनसाध्ये बाहुयुद्धे। शत्रूणां हिंसनशीले ये भवतः। सोयमस्वापयच्छत्रून् स्नेहयच्च। स्नेहणं प्राद्रवणम्। अथ प्रत्यक्षः।

यह पाठ देवराज के पाठ से आश्चर्यजनक रीति से मिलता है। और यदि देवराज-कृत भाष्य और वेङ्कट माधवकृत भाष्य सुसम्पादित हो जाएं तो एक दो स्थलों का स्वल्पभेद भी न रहेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि देवराज इन स्थलों पर वेङ्कट माधव के भाष्य को ही उद्धृत करता है।

डा० राज के दिए हुए दूसरे हेतुओं की भी यही अवस्था है। विस्तरभय से उन सब की विवेचना यहां नहीं की गई। देवराज के शोधित ग्रन्थ का माधव के नाम से उद्धृत हुआ जो पाठ वेङ्कट-

---

१. यह पाठ अन्तिम प्रूफ में पं० शुचिव्रत के इन्डिया आफिस के दो अन्य कोषों से भी शोधा गया है।

माधव के इस भाष्य में नहीं मिलता वह वेङ्कट माधव के दूसरे भाष्य में मिल जाता है। इसका उल्लेख आगे किया जाएगा। इतने लेख से यह निर्णीत होता है कि डा० राज की प्रतिज्ञा सत्यहेतु रहित होने से निराधार है। अत: देवराज सायण का पूर्ववर्ती ही है।

देवराज वेंकट माधव को उद्धृत करता है

देवराज अपने निघण्टु भाष्य के उपोद्घात में लिखता है—

श्रीवेङ्कटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्यकृतौ नामानुक्रमण्याः.........पर्यालोचनात्.......... स्कन्दस्वामि भवस्वामि—गुहदेव—श्रीनिवास—माधवदेव—उवट—भट्टभास्करमिश्र—भरतस्वाम्यादि-विरचितानि वेदभाष्याणि.........निरीक्ष्य क्रियते।

यहां अनेक वेद भाष्यकारों के अतिरिक्त देवराज वेङ्कटतनय माधव का स्मरण करता है। इससे सिद्ध होता है कि वेङ्कट माधव संवत् १३७० से पहले का है।

३. केशवस्वामी [संवत् १३०० से पहले का] अपने नानार्थार्णवसंक्षेप भाग १, पृ० ८ पर लिखता है—

द्वयोस्त्वश्वे तथा ह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः।
माधवाचार्यसूरिश्च को अद्येत्यृचि भाषते॥

अर्थात् दोनों लिङ्गों में गौ शब्द का घोड़ा अर्थ है। इसी प्रकार अनेक ऋचाओं में स्कन्द-स्वामी ने घोड़ा अर्थ किया है और विद्वान् माधवाचार्य ऋग्वेद १।८४।१६॥ में यही अर्थ करता है।

ऋग्वेद १।८४।१६॥ पर वेंकट माधव के भाष्य में गौ शब्द का घोड़ा ही अर्थ किया गया है। अत: वेंकट माधव सं० १३०० से पहले का है।

४. सायण का समकालीन वेदान्तदेशिक[1] अपनी न्यायपरिशुद्धि के द्वितीय आह्निक पृ० ८७ पर वेदाचार्य को उद्धृत करता है। यह वेदाचार्य अपरनाम लक्ष्मण **सुदर्शनमीमांसा** का कर्ता है।[2]

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह ४।२०४॥ में माधव वेङ्कटनाथ को उद्धृत करता है।

२. डा० राज सितम्बर १, सन् १९३० के अपने पत्र में मुझे लिखते हैं—

The Vedantacharya who wrote the Sudarsanamimansa is not the famous Vedantacharya of the 13th Century. He must be another.

अर्थात् प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य सुदर्शनमीमांसा का कर्ता नहीं है। सुदर्शनमीमांसा का कर्ता कोई दूसरा वेदान्ताचार्य होगा। वस्तुत: सुदर्शनमीमांसा का कर्ता वेदाचार्य है। प्रतीत होता है कि डा० राज को पूर्ण मुद्रित ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ। उसमें स्पष्ट लिखा है कि वेदाचार्य अपरनाम लक्ष्मण इसका कर्ता है।

वेदाचार्य का काल संवत् १३०० से कुछ पहले का है। वह वल्लाल-नामक राजा का समकालीन था। वह सुदर्शन मीमांसा पृ० १२ पर लिखता है—**माधवीयनामानुक्रमण्याम्**—

चक्रश्चाक्रः पविर्नेमिः पृथक् चक्रस्य वाचकाः।

वही पुनः पृ० २२ पर लिखता है—

माधवीयाख्यातानुक्रमण्याम्—

विवक्ति सिषक्ति द्विषक्ति।

ये प्रमाण संभवतः वेंकट माधव से ही दिए गए हैं। इनसे भी यही सिद्ध होता है कि वेंकट-माधव संवत् १३०० से पहले का है।

वेंकट माधव स्वयं अपना काल बताता है

५. ऋग्वेद के अष्टमाष्टक के तृतीयाध्याय की समाप्ति पर वेंकट माधव लिखता है—

एकोनषष्ठमध्यायं व्याकरोदिति माधवः।
जगतामेकवीरस्य विषये निवसत्सुखम्॥

अर्थात् **एकवीर** महाराज के राज्य में सुख से रहते हुए माधव ने ५९वें अध्याय का भाष्य किया। इसी प्रकार ६०वें अध्याय के अंत में यह लिखता है कि वह चोल देश निवासी था। जगदेकवीर चरित सूक्तिरत्नहार में उद्धृत है।[1] इसकी मृत्यु सन् ९७५ में हुई।[2]

चोल राजाओं की राज वंशावलियां देखने से पता चलता है कि निम्नलिखित राजाओं का नाम वीर था। उनका काल भी साथ ही दिया जाता है।[3]

१. वीर राजेन्द्र	सन्	१०६२–१०७०
२. वीर चोल	"	१०७८–१०८८
३. वीर चोल	"	११३५–११४९
४. वीर चोल	"	११८३–१२०६
५. वीर राजेन्द्र	"	१२०७–१२५५

अतः वेंकट माधव यदि अंतिम राजा वीर राजेन्द्र के काल में भी हो तो वह विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हुआ होगा। और यदि वह किसी पहले वीर राजा के काल में था तो उसका काल इससे पूर्व का हो जाएगा।

१. पृ० २५४, सूक्तिरत्नहार तथा देखें पृ० ६३।
२. पृ० १३०-१३१, अंक ४, खण्ड १, जैन साहित्य शोधक।
३. देखें, Quarterly Journal of the Mythic Society, Vol. xxi, No. 1, July 1930, पृ० ४४-४६।

६. पं० साम्बशिव शास्त्री ने स्कन्द और माधव भाष्य की भूमिका पृ० ६ पर एक प्रथा का वर्णन किया है। तदनुसार कौशिकगोत्रोत्पन्न सेतलूर कुलस्थ एक वेङ्कटमाधवार्य आचार्य रामानुज का शिष्य था। वेदभाष्यकार वेंकट माधव वह नहीं हो सकता। वेंकट माधव के वेदभाष्य में वैष्णव संप्रदाय की गन्ध नहीं है।

डाक्टर स्वरूप का मत—वेंकट माधव के काल के विषय में डा० स्वरूप ने लिखा है—

In my opinion it wiil not be far from truth to assign Madhava son of Venkata, about the tenth century A. D.[१]

अर्थात् वेंकट माधव का काल ईसा की दशम शताब्दी के समीप हो सकता है।

यही मत डा० राज का है। उनके शब्द ये हैं—

.....he is earlier than Sayana and may have lived about the tenth or ninth century of the Christian Era.[२]

सम्भव है इन महानुभावों का मत ठीक हो, परन्तु मेरा अभी तक इतना ही विश्वास है कि वेंकट माधव ईसा की १२वीं शताब्दी अथवा उससे पहले का है। कितना पहले का, यह अभी नहीं कहा जा सकता। यही बात मैंने अन्यत्र भी लिखी थी।[3] हां, यदि पूर्वोद्धृत नानार्थार्णव के कर्ता केशवस्वामी का काल संवत् १३०० से बहुत पहले चला जाए, तो वेंकट माधव का काल भी सुनिश्चित आधार पर कुछ और पहले का हो जायगा। केशव स्वामी किसी कुलोत्तुङ्ग चोल का समकालीन था। इस नाम के दो राजा हो चुके हैं। हमने अभी तक इस नाम के उत्तरवर्ती राजा का ही ग्रहण किया है।

पं० साम्बशिव शास्त्री ने अपनी भूमिका के पृ० ७ पर १०५०-११५० सन् ईसा ही वेंकट-माधव का काल माना है।

दुर्गाचार्य और वेङ्कट माधव—डा० स्वरूप का मत है कि दुर्ग सायण और देवराज का मध्यवर्ती है। इसके विपरीत हमने ऊपर पृ० ३०–३५ तक यह बताया है कि देवराज स्कन्द-महेश्वर से परिचित था। और स्कन्द-महेश्वर अपनी टीका के आरम्भ में दुर्ग का स्मरण करते हैं, अतः दुर्ग देवराज से पहले का है। यही नहीं दुर्ग उद्गीथ आदि से भी पहले का है, ऐसा भी हम वहीं स्पष्ट कर चुके हैं।

डा० स्वरूप का विचार है कि वेंकट माधव के एक श्लोक को दुर्गाचार्य उद्धृत करता है। निरुक्त १।१॥ की व्याख्या में दुर्ग लिखता है—

---

१. Indices and Appendices, Nirukta, Preface, p. 34.

२. Proceedings, Fifth A. I. O. C., p. 246.

३. Proceedings and Transactions Fifth A. I. O. C., Summaries of Papers, p. 7.

तथा चोक्तम्—

शब्देनोच्चरितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते ।
तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः ॥ इति ॥

पुनश्चोक्तम्—

अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः ।
तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचनलिंगयोः ॥
निर्देशः कर्म करणं प्रदानमपकर्षणम् ।
स्वाम्यर्थोऽथाधिकरणं विभक्त्यर्थाः प्रकीर्तिताः ॥ इति ॥

इसी प्रकार के श्लोक वेंकट माधव अपने भाष्य के द्वितीय अष्टक के प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिकाओं में लिखता है—

शब्दैरुच्चरितैर्द्रव्यं यैरिह प्रतिपद्यते ।
तन्नाम कवयः प्राहुरग्निवायुस्तथाश्विनौ ॥
अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः ।
तन्नाम कवयः प्राहुर्लिगसंख्यासमन्वितम् ॥
निर्देशः कर्म करणं प्रदानमपकर्षणम् ।
स्वाम्यर्थोऽथाधिकरणं विभक्त्यर्थाः प्रकीर्तिताः ॥

डा० स्वरूप की सम्मति में पहले दो श्लोक तो वेङ्कट माधव ने बृहद्देवता के आश्रय से बनाए हैं, परन्तु तीसरा उसकी अपनी कृति है । उनका हेतु यह है कि दुर्ग **पुनश्चोक्तम्** और **इति** लिखकर स्पष्ट बताता है कि यह श्लोक उसने कहीं से लिए हैं । क्योंकि ये वेङ्कट माधव के भाष्य में मिलते हैं इसलिए दुर्ग ने इन श्लोकों को वहीं से लिया है ।

हमारे विचार में यह बात ऐसे नहीं है । पहले दो श्लोकों का दुर्ग स्वीकृत पाठ ठीक बृहद्देवता से मिलता है । वेङ्कट माधव का पाठ इससे पर्याप्त भिन्न है । अतः दुर्ग इन दोनों श्लकों को बृहद्देवता से ले रहा है ,वेङ्कट माधव के भाष्य से नहीं । इसी प्रकार दुर्ग के उद्धरण की शैली से प्रतीत होता है कि अन्तिम दोनों श्लोक भी उसने एक ही स्थान से लिए हैं । वह स्थान बृहद्देवता के अतिरिक्त और कोई नहीं । आजकल के बृहद्देवता से **निर्देशः** श्लोक लुप्त हो गया है । और वेङ्कट माधव भी पहले दोनों श्लोकों को बृहद्देवता से कुछ बदल कर तथा तीसरे को याथातथ्य उद्धृत करता है ।

अथवा ऐसा भी हो सकता है कि दुर्ग और वेङ्कट माधव इन श्लोकों को निरुक्तवार्तिक से ले रहे हैं । बृहद्देवता और निरुक्तवार्तिक के अनेक श्लोक परस्पर मिलते हैं । यह निरुक्तवार्तिक क्या था, इसका वर्णन निरुक्त का इतिहास लिखने के समय किया जायगा ।

याजुभाष्यकार महीधर और वेङ्कट माधव— डा० स्वरूप का लेख है—

......Mahidhara, the commentator of the Sukla Yajurveda who belonged to c. 1100 A. D. mentions a predecessor Madhava by name. This predecessor of Mahidhara is probably to be identified with Madhava, son of Venkata.[१]

अर्थात् लगभग ११वीं शताब्दी ईसा का शुक्ल-यजुर्वेद-भाष्यकार महीधर अपने पूर्वज एक माधव को स्मरण करता है। यह माधव सम्भवत: वेङ्कट माधव होगा।

यह सत्य है कि महीधर यजुर्वेद १३।४५।। के भाष्य में एक माधव का प्रमाण देता है परन्तु वह माधव सायण है अन्य नहीं। इसका विस्तृत उल्लेख महीधर के वर्णन में आगे किया जायगा।

वेङ्कट माधव का कुल, ग्रामादि—अपने ऋग्वेदभाष्य के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो श्लोक वेङ्कट माधव ने दिए हैं, उनसे उसके कुल आदि के सम्वन्ध में निम्नलिखित बातों का ज्ञान होता है—

पितामह	=	माधव
पिता	=	वेङ्कटार्य
मातामह	=	भवगोल
माता	=	सुन्दरी
स्वगोत्र	=	कौशिक
मातृगोत्र	=	वासिष्ठ
अनुज	=	सङ्कर्षण
पुत्र	=	वेङ्कट और गोविन्द
निवास	=	दक्षिणापथ[२] में चोल देश। कावेरी के

१. पृ० ३४–३५, Indices and Appendices to the Nirukta, Lahore, 1929.

२. देखें, पं० साम्बशिव शास्त्री की भूमिका, पृ० ७, ८। दक्षिणापथ का प्रसिद्ध अर्थ दक्षिण देश है। वेङ्कट माधव निम्नलिखित श्लोक में अपने दक्षिणापथ वासी होने का कथन करता है—

अध्यायमष्टमं चांशं व्याख्यादार्येषु कश्चन।
दक्षिणापथमाश्रित्य वर्तमानेषु माधवः॥

अष्टमाष्टक दूसरा अध्याय।

अर्थात्—दक्षिण देश में रहने वाले आर्यों में से किसी माधव ने आठवें अध्याय का व्याख्यान किया। डा० स्वरूप को इस श्लोक को समझने में भूल हुई है, उनका अर्थ है—

Madhava follows the southern method in his explanation. Nirukta, Indices, Introduction, p. 56.

अर्थात्—अपनी व्याख्या में माधव दाक्षिणात्य विधि का अनुसरण करता है। निस्सन्देह वेदार्थ की कोई दाक्षिणात्य विधि विशेष नहीं थी।

दक्षिण किनारे पर गोमान् ग्राम ।[1]

समकालीन राजा = एकवीर

क्या वेङ्कट माधव नाम के दो भाष्यकार थे—देवराज यज्वा ने वेङ्कट माधव के नाम से जो अनेक प्रमाण अपने निघण्टु भाष्य में दिए हैं, वे सब वेङ्कट माधव के प्रस्तुत भाष्य में नहीं मिलते। देवराज यज्वा ने वेङ्कट माधव के समस्त उद्धरण माधव के नाम से ही दिए हैं। यदि कोई अन्य माधव नाम का भाष्यकार होता तो पृथकत्व बताने के लिए पूर्ण नाम अथवा अन्य विशेषण प्रयोग करता। डा० राज के पास ऋग्वेद के प्रथमाष्टक के एक भाष्य का एक हस्तलेख है। वह भाष्य भी वेङ्कट माधव प्रणीत है। उसका कर्ता भी गोमान् ग्राम का वासी है। डा० राज सन् १९२८ के अन्त में जब लाहौर आए थे, तब उनसे लेकर मैंने इस भाष्य का सरसरी तौर पर अध्ययन किया था। डा० राज का मत है कि यह कोई दूसरा वेङ्कट माधव है और देवराज तथा वेदाचार्य ने जो माधवीयानुक्रमणी पाठ उद्धृत किये हैं, वे इसी वेङ्कट माधव के हैं। हमारा ऐसा अनुमान नहीं है।

सम्भवतः एक ही वेङ्कट माधव ने दो ऋग्भाष्य रचे—देवराज यज्वा का जो एक लम्बा प्रमाण हम पृ० ४६ पर उद्धृत कर चुके हैं, वह ध्यान देने योग्य है। देवराज लिखता है—

..... **इत्यत्र माधवस्य प्रथमभाष्यम् ।१।१४।१८॥**

अर्थात् इस मन्त्र पर माधव का प्रथम भाष्य उद्धृत किया जाता है। देवराज के शब्द अति स्पष्ट हैं। वे किसी दूसरी कल्पना का स्थान नहीं छोड़ते। उनसे यह भाव प्रकट होता है कि देवराज की दृष्टि में एक ही माधव ने दो भाष्य रचे थे। उन दोनों में से प्रस्तुत भाष्य पहले रचा गया था। यह लघुभाष्य का निर्देश करता है। इसी में देवराजोद्धृत यह प्रमाण मिल जाता है।

इसके रचने के पश्चात् माधव ने दूसरा विस्तृत भाष्य रचा। द्वितीय बृहद् भाष्य देवराज यज्वा ने १।१।१९॥ में उद्धृत किया है। देवराज और वेदाचार्य से उद्धृत की हुई माधवीयानुक्रमणियों का निर्माण माधव ने बृहद् भाष्य की रचना से पूर्व किया था, इसका निर्देश बृहद् भाष्य के आरम्भ में ही है। यथा—

ओं नमो भगवते वासुदेवाय सारभूता सुसंग्रहाः द्वादश्यनुक्रमणिका क्रियते संहिता समाम् पदक्रमस्वरः.........।

डा० राज के हस्तलेख में ये अनुक्रमणियां नहीं हैं। इस द्वितीय भाष्य के अन्य हस्तलेखों में ये हो सकती हैं। मैसूर राजकीय पुस्तकालय में प्रथमाष्टक के त्रुटितांश पर जो वेङ्कट माधव के प्रथम भाष्य का हस्तलेख है, उसमें भी वे कारिकाएं नहीं हैं जो प्रथम भाष्य के दूसरे हस्तलेखों में मिलती हैं।

---

१ **ग्रामे-ग्रामे जातो गोमति व्यचिकार।** पृ० २४०, अ०१, अ० २, ऋग्वेद व्याख्या, माधवकृत, डा० कुहनन राज, अडयार, १९३९।

देवराज यज्वा के उपोद्घात से यही निश्चित होता है कि वह वेङ्कट माधव के उस भाष्य का कथन करता है, जिसमें देवराज की उद्धृत की हुई अनुक्रमणियों का मूल है। और इसी ग्रन्थ से वह माधव के नाम से अधिकांश प्रमाण देता है। कहीं कहीं उसने प्रथम भाष्य भी प्रयोग किया है। प्रस्तुत स्थान में तो उसने **प्रथमभाष्य** शब्द का प्रयोग करके सारे सन्देह का निवारण कर दिया है।

देवराज यज्वा का वेद भाष्यकार माधवदेव, सामवेद-विवरणकार माधव प्रतीत होता है।

वेङ्कट माधव के प्रथम भाष्य के हस्तलेख

१. त्रिवेन्द्रम, राजकीय पुस्तकालयस्थ। प्रथमाष्टक प्रथमाध्याय पर्यन्त।

२. पं० साम्ब शिव शास्त्री द्वारा नारायणन् नीलकण्ठन्नम्पूरि से प्राप्त।

३. मद्रास, राजकीय प्राच्य पुस्तकालयस्थ। इसी की देवनागरी प्रति लाहौर में है। इसमें चतुर्थाष्टक नहीं है, अन्यत्र भी कहीं कहीं त्रुटित है।

४. त्रिवेन्द्रम, राजकीय पुस्तकालयस्थ। श्री सुब्रह्मण्यन्वलियराज से प्राप्त। अन्तिम चार अष्टक।

५. मैसूर राजकीय पुस्तकालयस्थ। प्रथमाष्टक के तृतीयाध्याय के मध्य से प्रथमाष्टक की समाप्ति तक। इसी की प्रति दयानन्द कालेज के पुस्तकालय में है। पं० साम्बशिव शास्त्री को मैंने यही ग्रन्थ भेजा था।

६. त्रिवेन्द्रम पुस्तकालयस्थ। श्री ब्रह्मदत्तन् नम्पूरि से प्राप्त। प्रथम और द्वितीयाष्टक सम्पूर्ण।

७. लाहौर, पन्जाब यूनिवर्सिटी पुस्तकालयस्थ। प्रायः समग्र। इसमें चतुर्थाष्टक विद्यमान है।

८. लाहौर, दयानन्द कालेज लालचन्द पुस्तकालयस्थ। प्रायः समग्र। इसमें भी चतुर्थाष्टक विद्यमान है।

९, १०. डा० राज के मलयालम में दो ग्रन्थ। एक में पूर्व और दूसरे में उत्तर अष्टकों का भाष्य है।

इससे स्पष्ट है कि लाहौर के हस्तलेखों को छोड़कर शेष सब प्रायः अपूर्ण हैं। फिर भी इतने ग्रन्थों की सहायता से इस भाष्य का विश्वस्त संस्करण निकाला जा सकता है। मेरे मित्र डा० स्वरूप इस भाष्य के सम्पादन में कृत सङ्कल्प हैं।[१]

वेङ्कट माधव के प्रथमभाष्य की विशेषताएं—१. यह भाष्य भी याज्ञिकपद्धत्यनुसारी है। स्कान्दभाष्यदिवत् यह विस्तृत नहीं है। इसमें अत्यन्त संक्षेप से काम लिया गया है। यथा—

ये यजत्रा य ईड्यास्ते ते पिबन्तु जिह्वया।
मधोरग्ने वषट्कृति ॥ ऋ० १।१४।८॥

---

१. वेङ्कटक माधव के भाष्य के उद्धरण परिशिष्ट में देखें।

प्रथमभाष्य—ये यष्टव्याः । ये चेड्याः । **मनुष्या वा ईडेन्याः पितरो नमस्या देवा यज्ञिया** इति ब्राह्मणम् ।[1] ते तव जिह्वया सोमस्य वषट्कृतं हुतं पिबन्तु ॥

दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः ।
आयातं रुद्रवर्तनी ॥ ऋ० १ । ३ । ३ ॥

प्रथमभाष्य—दर्शनीयौ युष्मत्पानकामाः सोमाः । **सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः ।**[2] **सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः ।**[2] वृक्तबर्हिषः सोमाः स्तरणार्थं छिन्नबर्हिषः । आगच्छतं युद्धे घोरगमनमार्गौ ॥

मन्त्र के मूल पदों का भाष्य में अत्यल्प समावेश किया गया है । जहां पद अति सरल है और अर्थ का अनायास द्योतक है, वहां पर तो वह लिख दिया गया है ।

अपने भाष्य के संक्षेप के विषय में वेङ्कट माधव स्वयं गर्व पूर्वक लिखता है—

वर्जयन् शब्दविस्तरम्[3]
शब्दैः कतिपयैरिति ।[3]

अर्थात् इस भाष्य में शब्द विस्तार नहीं है और स्वल्प शब्दों में ही सारा अर्थ कहा गया है ।

२. वेङ्कट माधव ने ब्राह्मण ग्रन्थों के अभ्यास में असाधारण यत्न किया था, यह उसके भाष्य से बहुत स्पष्ट है । उसका मत भी है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के ज्ञान विना वेदार्थ का समझना कठिन है ।—

अस्माभिस्त्विह मन्त्राणामर्थः प्रत्येकमुच्यते ।
ये ऽज्ञाता ये च सन्दिग्धास्तेषां वृद्धेषु निर्णयः ॥८॥
संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः ।
निरुक्तव्याकरणयोरासीद्येषां परिश्रमः ॥९॥
अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः ।
शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि ॥१०॥
ताण्डके शाट्यायनके श्रमः शतपथे ऽपि च ।
कौषीतके काठके च स्याद्यस्येह स पण्डितः ॥११॥
ऐतरेयकमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम् ।
तृतीयं तित्तिरिप्रोक्तं जानन् वृद्ध इहोच्यते ॥१२॥
न भाल्लबकमस्माभिस्तथा मैत्रायणीयकम् ।
ब्राह्मणं चरकाणां च श्रुतं मन्त्रोपबृंहणम् ॥१३॥[4]

---

१. शतपथ ब्राह्मण १।५।२।३॥ **ईडेन्याः** के स्थान में पं० साम्बशिव शास्त्री **डेन्याः** पाठ मानता है । यह उनकी भूल है ।
२. ६।१३॥ निरुक्त ।
३. देखें, डा० स्वरूप, Indices and Appendices to the Nirukta, पृ० ७० ।
४. अष्टमाष्टक, प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिकाएं ।

अर्थात्—इस भाष्य में हमने प्रत्येक मन्त्र का अर्थ कहा है। जिन मन्त्रों का अर्थ अज्ञात वा सन्दिग्ध है, उन का वृद्धों=ब्राह्मण ग्रन्थ जानने वालों में निर्णय होता है।

आधुनिक विद्वान् जिन का निरुक्त और व्याकरण में परिश्रम है, वे ऋक्संहिता का केवल चतुर्थांश जानते हैं।

और जो ब्राह्मणार्थों के जानने वाले और उनमें श्रम किये हुए हैं, वे शब्द रीति को जानते हैं और संहिता का सारा अर्थ कहते हैं।

ताण्ड्य, शाट्यायन, शतपथ, कौषीतकि और काठक ब्राह्मणों में जिस का श्रम है, वह इस लोक में पण्डित कहा जाता है।

हमारा ब्राह्मण ऐतरेय, आथर्वणों का पैप्लाद, तीसरा तैत्तिरीय, इन को जो जानता है, वह वृद्ध कहाता है। हम ने भाल्लवि, मैत्रायणीय, और चरकों का मन्त्रोपवृंहण करने वाले ब्राह्मण नहीं सुने।

इस से प्रतीत होता है कि वेङ्कटमाधव ने १—ऐतरेय, २—कौषीतकि, ३—शतपथ, ४—तैत्तिरीय, ५—कठ, ६—ताण्ड्य, ७—शाट्यायन और ८—पैप्पलाद (गोपथ?) ब्राह्मणों में अभ्यास किया हुआ था। भाल्लवि, मैत्रायणीय और चरकब्राह्मण[1] उसे नहीं मिल सके। इन सब में से इस प्रथम-भाष्य में शाट्यायन ब्राह्मण बहुत उद्धृत है। यह ध्यान रखना चाहिए कि शाट्यायन ब्राह्मण के ये पाठ जैमिनीय ब्राह्मण से बहुत मिलते हैं।

३. इनके अतिरिक्त वेङ्कट माधव के भाष्य में कात्यायन, कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी, जैमिनिकृत निदानसूत्र, निघण्टु, निरुक्त, शौनक, और बृहद्देवता बहुत उद्धृत हैं। अनेक स्थानों पर निरुक्त का पाठ बिना निरुक्त या यास्क का नाम स्मरण किए दिया गया है। वेङ्कट माधव निरुक्त के लघुपाठ को ही प्रायः उद्धृत करता है।

बृहद्देवता को भी वेङ्कट माधव बहुत उद्धृत करता है। उसका पाठ मैकडानल की A शाखा के प्रायः अनुकूल है। बृहद्देवता का जो पाठ वेङ्कट माधव ने लिखा है, वह कई स्थानों पर मैकडानल के पाठ से अधिक अच्छा है। यथा—

मैकडानल का पाठ

एकादशी प्रथमा च मारुतस्तृच उत्तरः[2] ।
समागच्छन् मरुद्भिस्तु चरन् व्योम्नि शतक्रतुः ॥४६॥
दृष्ट्वा तुष्टाव तानिन्द्रस्ते चेन्द्रमृषयोऽब्रुवन् ।

अर्थात्—एकादशी और प्रथमा ऋचा भी (इन्द्र की हैं)। अगला तृच (ऋ० १।१।१६५।१३-१५॥) मरुतों का है। शतक्रतु=इन्द्र आकाश में विचरता हुआ मरुतों से मिला। उन्हें देखकर इन्द्र ने उन की स्तुति की। और वे ऋषि इन्द्र से बोले।

---

१. चरक ब्राह्मण का अस्तित्व वेङ्कट माधव को स्कन्दादिभाष्य से ज्ञात ही था। ऋग्वेद १।१०।११॥ के भाष्य में स्कन्द चरक ब्राह्मण उद्धृत करता है, परन्तु वेङ्कट माधव कोई अन्य ब्राह्मण लिखता है।
२. उत्तमः पाठ चाहिए।

ऋग्वेद १।१६५।। आदि सूक्तों का ऋषि अगस्त्य है, मरुत नहीं। मैकडानल के पाठ के अनुसार मरुत ऋषि थे। यह बात असङ्गत है। इस स्थान पर बृहद्देवता का जो पाठ वेङ्कट माधव देता है, वह बड़ा प्रशस्य है—

दृष्ट्वा तुष्टाव तानिन्द्रस्ते चैनं मरुतोऽब्रुवन्।

अर्थात् उन मरुतों को देख कर इन्द्र ने उन की स्तुति की और वे मरुत् इन्द्र से बोले।

इसी प्रकार अन्यत्र भी कई स्थलों पर वेङ्कट माधव का दिया हुआ बृहद्देवता का पाठ मैकडानल स्वीकृत पाठ से अधिक युक्त है।

४. अष्टक, अध्याय, वर्ग मण्डल, सूक्त और मन्त्रों के विषय में वेङ्कट माधव का विचार देखने योग्य है। अतः वह आगे लिखा जाता है—

अष्टकाध्यायविच्छेदः पुराणैर्ऋषिभिः कृतः।
उदग्राहार्थं प्रदेशानामिति मन्यामहे वयम् ।।१।।
वर्गाणामपि विच्छेद आर्ष एवेति निश्चयः।
ब्राह्मणेष्वपि दृश्यन्ते वर्गसंशब्दनादि च ।।२।।
शतैश्चतुर्भिरधिकमयुतं गणितं मया।
द्वे च यान्यतिरिच्येते द्विपदाश्चात्र संगताः ।।२१।।
पृथग्यदा तु गणनं द्विपदानां तदाधिका।
चतुश्शतादशीतिश्च वाक्यं च ग्रहवानयम् ।।२२।।
ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि वै।
ऋचामशीतिः पादश्च पाठोऽयं न समञ्जसः ।।२६।।[2]

अर्थात्—अष्टक, अध्याय (सूक्त, वर्ग आदि) का विभाग पुराने ऋषियों ने संहिता के स्थानों के जानने के लिए किया है। ऐसा हम मानते हैं।

वर्गों का विभाग भी आर्ष ही है, ऐसा निश्चय है। ब्राह्मणों में वर्ग आदि शब्द देखे जाते हैं।

मैंने ऋचाओं की गणना १०४०२ की है। इन में द्विपदा सम्मिलित हैं।

जब द्विपदा पृथक् गिनी जावें, तो १०४८० होती हैं।

१०५८० ऋचा और एक पाद ऐसा जो (अनुवाकानुक्रमणी और चरणव्यूह आदि में) पाठ है. वह युक्त नहीं। यह ऋग्वेद की २१ शाखाओं या शाकल्य संहिता के मन्त्रों की गणना है। सब शाखाओं का इतना पारायण है, ऐसा चरणव्यूह का मत है।

अनुवाकानुक्रमणी और चरणव्यूह आदि में किस शाखा की गणना दी है, यह सब शाखाओं की सम्मिलित गणना है। ऐसा जाने बिना ही वेङ्कट माधव ने उस गणना का निरादर किया है।

---

१. मरुत शब्द पर देखें इसी इतिहास का ब्राह्मण तथा आरण्यक भाग, पृ० १९९-२०३, भगवद्दत तथा सत्यश्रवा कृत।

२. पञ्चमाष्टक पञ्चमाध्याय की भूमिकात्मक कारिकाएं।

५. वेङ्कट माधव का मत है कि यास्कीय निरुक्त का मूल जो निघण्टु है वह भी यास्क प्रणीत ही है। ऋग्वेद ७।८७।४।। की व्याख्या में वह लिखता है—

तत्रैकविंशतिर्नामानि काचिद् गौर्बिभर्तीति पृथिवीमाह। तस्या हि यास्कपठितान्येकविंशतिर्नामानि।

अर्थात् पृथिवी वाची गौ शब्द के यास्क पठित २१ नाम हैं।

६. भट्ट गोविन्द—लगभग विक्रम संवत् १३६७

भट्ट गोविन्द ने ऋग्वेद के अष्टम अष्टक पर श्रुतिविकास नामक भाष्य रचा था।[1] यह भाष्य अभी तक छपा नहीं है। वाराणसी के सरस्वती भवन में रीवा नगर से लगभग दो सहस्र हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रह सन् १९३० में लाया गया था। इसी संग्रह में यह अलभ्य प्रति थी। इस ग्रन्थ के १ से ५९ तक पत्र हैं। इनमें से २६ तथा २७ संख्या के पत्र विलुप्त हैं। इसका रचना काल १३६७ विक्रम संवत् इस ग्रन्थ के अन्त में वर्णित हैं—

पुष्पिका

इति भट्टश्रीगोविन्दविरचिते श्रुतिविकासाख्ये चतुःषष्टिविवरणे चतुःषष्टोऽध्यायः ।। समाप्तमिदं ।। छ ।। श्रीमद्विक्रमकालस्य संवत्सरशतेष्विह। त्रयोदशसु यातेषु सप्तषष्टयधिकेषु च ।। मार्गे मासि सिते पक्ष एकादश्यां गुरोर्द्दिने। द्विवेदधारिगेनेदमलेख्यृग्भाष्यपुस्तकम् ।। २ ।। छ ।। संवत् १३६७ वर्षे मार्ग शु ११ गुरौ श्रीनांदुरव्वार्यां श्रीमदानन्दपुरवास्तव्येन द्वि० धारिगेन इदं ऋग्भाष्यपुस्तकमलेखि ।। छ ।। सहस्यनुत्तरे दले हरेस्तिथौ गुरोर्दिने। ऋचां तु भाष्यपुस्तकं द्विवेदधारिगोऽलिखत् ।। छ ।। मंगलं महाश्रीः ।। राजहंसाविमौ यावत् क्रीडतः पृथु पुष्करे। विद्वद्भिर्मान्यमानोसौ तावन्नंदतु पुस्तकः ।। ग्रंथः ।। ३००० ।। 'भट्ट श्रीधरनी पोथी, (भिन्नाक्षरेषु)

ग्रन्थारम्भ—ग्रन्थ का प्रारम्भ निम्न प्रकार से है—

ॐ स्वस्ति ।। प्र होतेति ।। प्रकर्षेण यः जातो होता महानादित्यस्य बोद्धा। तस्मादेव जातः तत आहृते वायुनान्तरिक्षं प्रापितः। ततस्तत्रैवा(पा)मुपस्थाने प्रशस्तेषु मध्यस्थाने देवगणेषु मध्ये तिष्ठेत्। योऽसौ धाता यज्ञे स्थितः स ते हविर्लक्षणानामन्नानां नियंता कल्याणरूपाणां। यस्मात्तस्मै परिचरते त्वं शरीरस्य रक्षिता भवसि ।। इयमिति ।। सूर्यमंडले निगूढे चरंतं भृगवो मुनयः कामयमाना वायुद्वारेण तमग्निमलभंत। तमेवाग्निमन्तरिक्षं प्राप्तं तत्र हारितं पशुमिव पदान्यनुसृत्यान्वगच्छन्परिचरन्तः ।। इममिति ।। त्रितो नाम कश्चिन्मुनिः तमेवाग्निमिच्छन् विभूवसोः संबंधी रश्मिरूपाया गोर्म्मूर्द्धनि सूर्यमंडलेऽग्निमलभत। स एव सुखयिता पृथिव्यां गृहेषु जातः यज्ञेन हवींषि प्राप्य तस्यैव भ्राजमानस्य सूर्यस्य तैरेव हविर्भिन्निचकरो भवति। तस्यात्मस्थितिहेतुः वृद्धोऽपि सन्पुनर्यु (वा) ।। मंद्रमिति ।। मदयितारं देवानां ह्वातारं कामयितारः हविर्लक्षणैरन्नैः यज्ञमुपगतं यज्ञानां देवान्प्रति नेतारं ते भृगवो कुर्वन् मनुष्याणां

---

१. सारस्वती-सुषमा नामक वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की पत्रिका के जुलाई १९४९, तृतीय अंक, चतुर्थ वर्ष को देखें।

आश्रयणीयं मानुष्यमर्थिनं हविषां वोढारं धारयन्तः ।। प्रेति ।। स्तमीज्जंयतं रक्षो गताः महान्तं वाचां धारकं रश्म्या अश्वं तथाधारमसूर्यं । दस्यूनां गृहाणां विदारयितारं मूढा इमे जडा अरण्या गर्भं बहिर्भवं नयंतः वननीया स्तुतिं तं प्रतिधारयंति । हारद्रूपं अग्न्याख्यकेशं । अथवा सूर्यं तथाभूतमिव अन्येषां आश्रयं धनैरर्च्चनीयं[1] ।।१।।

प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर स्पष्ट भट्ट गोविन्द कृत श्रुति विकास का वर्णन है । यथा—

पुष्पिका

भट्टगोविन्दविरचिते श्रुतिविकासाख्ये चतुःषष्टिविवरणे सप्तपंचाशोऽध्यायः ।।[2]
भट्टगोविन्दविरचिते श्रुतिविकासाख्ये चतुःषष्टिविवरणे अष्टपंचाशोऽध्यायः ।।[3]
भट्टगोविन्दविरचिते श्रुतिविकासाख्ये चतुःषष्टिविवरणे एकोनषष्टोऽध्यायः ।।[4]
भट्टगोविन्दविरचिते श्रुतिविकासाख्ये चतुःषष्टिविवरणे षष्टितमोऽध्यायः ।।[5]
भट्टगोविन्दविरचिते श्रुतिविकासाख्ये चतुःषष्टिविवरणे एकाषष्टोऽध्यायः ।।[6]
भट्टगोविन्दविरचिते श्रुतिविकासाख्ये चतुःषष्टिविवरणे द्वाषष्टोऽध्यायः ।।[7]
भट्टगोविन्दविरचिते श्रुतिविकासाख्ये चतुःषष्टिविवरणे त्रिषष्टोऽध्यायः ।।[8]

ग्रन्थ की समाप्ति—ग्रन्थ समाप्ति के वाक्य निम्न हैं—

संसमिति ।। इह संवनन ऋषिः अग्निः स्तुल्यः हे अग्ने रश्मितस्त्वं सर्वाणि देवमनुष्यादीनि भूतानि परस्परं संवध्नासि यज्ञादिद्वारेण उत्तरवेद्यां हविषां स्थाने त्वं संदीप्यसे स त्वं धनान्याहर ।। समिति ।। इदं सत्रे बहून् यजमानान् प्रत्युच्यते संप्रतिपत्यर्थं यूयं गमने संसृष्टा भवत । संप्रतिपत्या च वाचं वदत । युष्माकं च मनांसि संप्रतिपत्या जानन्तु यथा सर्वे (पूर्वे) देवाः हविरादिभागं सगतिमेव धारयन्तः प्राप्नुवन् ।। समान इति ।। युष्माकं मंत्र समानो मनु संगतिश्च समानरूपा मनश्च..... समानार्थाभिलाषादियुक्तं मनसश्च यश्चेतनाव्यापार ˙ हसैव प्रवर्त्ततां कार्येषु एकरूपमेव च मंत्रं स्तुतियागादिसिद्धचर्थमह... रोमि । युष्माकं च यज्वनां संबंधिना समानेन हविषा जुहोमि ।। समानीति ।। युष्माकमभिप्रायः समानो भवतु । हृद्गतानि जानाहि ˙ राटीनि समानानि संतु । तथा युष्माकं मनः समानं भवतु । तत्रेत्युक्तेपि

१. ऋग्वेदः—अष्टमाष्टक-प्रथमाध्याय-प्रथमवर्गः ।
२. पत्र ६, निरङ्क पृष्ठ, पंक्ति १०-११ ।
३. प० १६, निरङ्क पृष्ठ, पं० ५ ।
४. प० २४, निरङ्क पृष्ठ, पं० १० ।
५. प० ३०, निरङ्क पृष्ठ, पं० १७ तथा साङ्क पृ०, पं० १ ।
६. प०. ३७, नि० पृ०, पं० १ ।
७. प० ४२, नि० पृ०, १७ तथा सा०, पृ०, पं० १ ।
८. प० ५०, नि० पृ०, पं० ११-१२ ।

पुनर्वचनं निखिलसंकल्पादि-नोव्यापारभेदसिद्धयर्थं येन प्र ं कारेण युष्माकं तन्मनः सुष्ठु मननीये सुखं भवतु ।। तच्छंयोरिति ।। बृहस्पतिपुत्रः शंयुः तस्माद्वयं प्रार्थयामहे...गतिं देवविषयां यज्ञपत्यर्थां च स्वर्गमोक्षगतिं देवेभ्यः सकाशादस्माकं सातिशयश्रेयो भावोऽस्तु मनुष्येभ्यश्च सुधा शा ं य यद्युलोकगतं भेषजं तदस्माना-गच्छतु । अस्माकं द्विपदे पुत्रपौत्रादिरूपाय चतुष्पदे च गवादिकाय श्रेयो भवतु ।।४६।।

ऋग्वेद के दो प्रकार के विभाग हैं। एक है मण्डल, अनुवाक, सूक्त आदि का तथा दूसरा अष्टक, अध्याय, वर्ग का। भट्ट गोविन्द ने इन दोनों को स्वीकार नहीं किया। उसने केवल अध्याय वर्ग विभाग अपनाया है। यद्यपि इसका केवल अष्टम अष्टक पर ही भाष्य उपलब्ध है, परन्तु प्रतीत होता है कि उसने सम्पूर्ण ऋग्वेद पर भाष्य रचा था। इस प्रति के आरम्भ में मंगलाचरण आदि नहीं है। यह पुष्टि करता है कि प्रथम सात अष्टक पर भी उसने अवश्य भाष्य रचा था। प्रयुक्त अध्याय संख्या भी यह निर्देश करती है।

वेङ्कट माधव अपने भाष्य के एक श्लोक में अपने पुत्र का नाम 'गोविन्द' वर्णन करता है। यथा—

सङ्कर्षणानुजो यस्य भ्रातासीदनुजः कविः ।
आत्मजो वेंकटो यस्य गोविन्दस्तदनन्तरः ।। इति ।।

सायणाचार्य वेङ्कट माधव को माधव भट्ट के नाम से स्मरण करता है। क्या माधव भट्ट अपर नाम वेङ्कट माधव का ही पुत्र भट्ट गोविन्द था ?

भट्ट गोविन्द तथा वेङ्कट माधव की भाष्य शैली भी समान है।

७. लक्ष्मण—सं० ११५० के लगभग

शारदातनय ने अलंकार शास्त्र विषयक भावप्रकाशन नाम का एक ग्रन्थ रत्न लिखा है। शारदातनय का काल सं० १२३२-१३०७ है।[1] वह अपने मङ्गल श्लोकों में लिखता है—

आर्यावर्ताह्वये देशे स्फीतो जनपदो महान् ।
मेरूत्तर इति ख्यातस्तस्य दक्षिणभागतः ।।५।।
ग्रामो माठरपूज्याख्यो द्विजसाहस्रसम्मितः ।
तत्र लक्ष्मणनामासीद्विप्रः काश्यपवंशजः ।।६।।
त्रिंशता क्रतुभिर्विष्णुं तोषयामास वेदवित् ।
वेदानां भाष्यमकरोन्नाम्ना यो वेदभूषणम् ।।७।।

अर्थात् आर्यावर्त देश में मेरूत्तर एक सुन्दर महान् जनपद है। उसके दक्षिण में माठर नाम ग्राम है। उस में एक सहस्र ब्राह्मण रहते हैं। वहां कश्यपगोत्र का लक्ष्मण नाम का एक ब्राह्मण था। उसने तीस यज्ञों से विष्णु की संतुष्टि की। वह वेद का जानने वाला था। उसने **वेदभूषण** नाम का वेदों का भाष्य किया।

---

१. भावप्रकाशन, भूमिका, पृ० १०।

यह लक्ष्मण शारदातनय का प्रपितामह था। पूर्व श्लोकों में इस बात का निर्देश नहीं है कि लक्ष्मण ने किस किस वेद का भाष्य किया। ऋग्वेद का भाष्य उस ने किया या नहीं, यह भी अभी अनिश्चित है। उस के ग्रन्थ वा ग्रन्थों का अन्वेषण हो, इसी प्रयोजन से हम ने उस का यहां उल्लेख कर दिया है।

शारदातनय का काल सं० १२३२--१३०७ है। अतः उस के प्रपितामह ने इस से लगभग ७५ वर्ष पहले ही अपने वेदभाष्य लिखे होंगे।

८. धानुष्कयज्वा—विक्रमीय १३वीं शताब्दी

१. त्रिवेदीभाष्यकारेण धानुष्कयज्वना तु चरणशब्दस्सुदर्शनाभिधायीति देवताविशेषस्सुदर्शनमिति स्पष्टं व्याख्यातम्।

२. यद्वा—महस्वत् अरवत्। एवं धन्वयज्वना व्याख्यातम्।

३. त्रयीनिष्ठवृद्धेन धानुष्कयज्वना त्रिष्वपि वेदभाष्येषु सप्रमाणमुपन्यस्तः।

ये तीनों लेख वेदाचार्य धानुष्कयज्वा की सुदर्शनमीसांसा के पृ० ५, ७ और ५६ पर हैं। इन से प्रतीत होता है कि धानुष्कयज्वा अथवा धन्वयज्वा नाम के किसी व्यक्ति ने तीनों ऋग्, यजुः और साम वेदों पर भाष्य किया था। यह धानुष्कयज्वा वैष्णव सम्प्रदाय का आचार्य प्रतीत होता है। इस के भाष्यों का अभी तक हमें कुछ ज्ञान नहीं है।

द्राह्यायवण श्रौत सूत्र का भाष्यकार धन्विन् का क्या धानुष्कयज्वा से सम्बन्ध था? धन्वी धनुष्मान् धानुष्कं इत्यमरः यह पाठ द्रष्टव्य है।

९. आनन्दतीर्थ सं० १२५५--१३३५

द्वैत सिद्धान्त के सुप्रसिद्ध समर्थक भगवत्पादाचार्य आनन्दतीर्थ ने भी ऋग्वेद पर अपनी लेखनी उठाई है। यही आनन्दतीर्थ पूर्णप्रज्ञ, मध्व आदि नामों से भी प्रसिद्ध है।

काल—आनन्दतीर्थ का काल संवत् १२५५ से १३३५ तक है। अपने महाभारततात्पर्यनिर्णय में वह स्वयं अपनी जन्मतिथि लिखता है—

चतुःसहस्रे त्रिशतोत्तरे गते संवत्सराणां तु कलौ पृथिव्याम्।
जातः पुनर्विप्रतनुः स भीमो दैत्यैर्निगूढं हरितत्वमाह॥ अध्याय ३२, श्लो० ३१॥

अर्थात्—कलि के ४३०० वर्ष बीतने पर मध्व ने जन्म लिया। मध्व ८० वर्ष जीवित रहा, ऐसा मध्व सप्रदाय में अब तक प्रसिद्ध है। अतः सं० १२५५-१३३५ तक आदन्दतीर्थ का काल निश्चित होता है।

एक अन्य विद्वान् ने एक पुरातन लेखानुसार मध्व की जन्मतिथि १२३८ ईसा निर्धारित की है।[1]

मध्व के वेदभाष्य का परिमाण—आनन्दतीर्थ का श्लोकमय भाष्य ऋग्वेद के प्रथम चालीस सूक्तों पर ही है। इस प्रकार दो अध्याय सम्पूर्ण और तीसरे के कुछ अंश पर ही मध्व ने अपना भाष्य

1. Vol. III No. 2, Oetober 1934, Jouranal of Annmalai University, B. N. Krishnamurti Shastri.

किया था। राघवेन्द्र यति इस संप्रदाय का एक प्रतिष्ठित आचार्य है। वह अपनी मन्त्रार्थमञ्जरी की भूमिका में लिखता है—

ऋक्शाखागतैकोत्तरसहस्रसूक्तमध्ये कानिचिच्चत्वारिंशत् सूक्तानि भगवत्पादैः.. व्याख्यातानि।

अर्थात् भगवत्पाद ने चालीस सूक्त ही व्याख्या किए हैं। मध्व भाष्य के जो हस्तलेख मिलते हैं, उन में भी चालीस सूक्तों की व्याख्या की समाप्ति पर लिखा है—**ऋग्भाष्यं सम्पूर्णम्** अर्थात् ऋग्भाष्य समाप्त हुआ।.

शैली—आनन्दतीर्थ नारायण भक्त था। उसके मत में नारायण में ही अखिल वेद का अर्थ है। वह अपने भाष्यारम्भ में लिखता है—

स पूर्णत्वात् पुमान्नाम पौरुषे सूक्त ईरितः।
स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च॥

वही नारायण सर्वत्र पूर्ण होने से पुरुष नाम से पुरुषसूक्त में कहा गया है। यही सारे वेद का अर्थ है और सारे शास्त्र का भी।

आनन्दतीर्थ के भाष्य का विवरणकार जयतीर्थ भी यही लिखता है कि आनन्दतीर्थ का अभिप्राय वेद का परमात्मपरक अर्थ दिखाने का है। अपने विवरण के आरम्भ में वह लिखता है—

अतस्तेषां भगवत्परत्वप्रकार प्रदर्शनार्थं कासांचिदृचां भाष्यं करिष्यन्...प्रयोजनं च दर्शयति।

अर्थात् वेदों का भगवत्परक अर्थ करने के लिए कुछ ऋचाओं का भाष्य करते हुए, ग्रन्थ का प्रयोजन दिखाता है।

इस अभिप्राय से आनन्दतीर्थ ऋग्वेदगत प्रथम मन्त्रस्थ अग्नि शब्द का अर्थ प्रभु करता है—

आह तं स्तौम्यशेषस्य पूर्वमेव हि तं प्रभुम्।

जयतीर्थ के अनुसार आनन्दतीर्थ वेद का तीन प्रकार का अर्थ मानता है—

ऋगर्थश्च त्रिविधो भवति। एकस्तावत् प्रसिद्धाग्न्यादिरूपः। अपरस्तदन्तर्गतेश्वरलक्षणः। अन्यो ऽध्यात्मरूपः। तत्त्रितयपरं चेदं भाष्यम्।

अर्थात् ऋगर्थ तीन प्रकार का है। एक प्रसिद्ध अग्नि आदि का, दूसरा उस के अन्तर्गत ईश्वर लक्षण वाला और तीसरा आध्यात्मिक। यह आनन्दतीर्थ का भाष्य तीनों प्रकार का अर्थ बताता है।

परन्तु आनन्दतीर्थ का प्रधान अर्थ ईश्वर सम्बन्धी ही है।

मध्व-भाष्य की विषेषताएं—१. अग्नि शब्द के अर्थ में आनन्दतीर्थ बादरायण का निर्वचन उपस्थित करता है—

अग्रणीत्वं यदग्नित्वमित्यग्रे नाम तद्भवेत्।
एवमेवाह भगवान् निरुक्ति बादरायणः॥

अर्थात् सब का अग्रणी होने से अग्नि ऐसा कहाता है। यह निर्वचन भगवान् बादरायण ने किया है।

आगे वह स्पष्ट लिखता भी है कि व्यास का बनाया हुआ कोई निरुक्त ग्रन्थ था—

ऋक्संहितायां स्वाध्याये निरुक्ते व्यासनिर्मिते। पत्र ३ ख

इस से प्रतीत होता है कि आनन्दतीर्थ को किसी व्यास विरचित निरुक्त का पता था।

२. पत्र ३ ख और ४ क, ख पर आनन्दतीर्थ पैङ्ग श्रुति, वर्क श्रुति, तुर श्रुति, आनन्द श्रुति, सौपर्णीश्रुति, और मान्य श्रुति को उद्धृत करता है। ये सब श्रुतियां या तो अत्यन्त नवीन खिलों का अंश है अथवा कल्पित हैं। आनन्दतीर्थ अपने गीताभाष्य में भी कोई बीस प्रकार की ऐसी ही श्रुतियां उद्धृत करता है।

३. वेदों के विभाग के विषय में पुराणों के प्रमाण से व्यास का इतिहास लिख कर आनन्दतीर्थ लिखता है—

ऋचः शाखात्वमापन्नाः शिष्यतच्छिष्यकैरिमाः।
मानस्तेनेति पूर्वासु ह्यूनता दृश्यतेऽर्थतः॥
शुनःशेपोदिताभ्यश्च पठ्यन्तेऽन्यत्र काश्चन।
अत्राप्यक्रमतो दृष्टिरति नैकक्रमो भवेत्॥
अनन्तत्वात्तु वेदानां प्रायः कर्मानुसारतः।
संक्षेपं कृतवान् देवः शिष्याश्च तदनुज्ञया॥
अष्टकाध्यायवर्गादिभेदं च कृतवान् प्रभुः।
स्वाध्यायविश्रमार्थाय तस्मात् क्रमविपर्ययः॥

अर्थात्—यही ऋचाएं व्यास के शिष्य और प्रशिष्यों द्वारा शाखा बनीं। ऋग्वेद २।२३।१६॥ की मा नः ऋचा का पूर्वार्ध अर्थ की दृष्टि से अपूर्ण है। शुनः शेप की ऋचाएं सारी यहां नहीं, अन्यत्र भी पढ़ी गई हैं। यहां भी क्रम नही है। सर्वत्र एक क्रम नहीं है। वेदों के अनन्त होने से (यज्ञों के) कर्मानुसार भगवान् व्यास और उनकी आज्ञा से उन के शिष्यों ने वेदों का संक्षेप किया। अष्टक, अध्याय और वर्ग का भेद भी व्यास ने किया। यह विभाग स्वाध्याय काल में विश्राम के लिए है, इसी लिए शाखाओं में क्रम का विपर्यय है।

इन्हीं श्लोकों के ऊपर जयतीर्थ का टीका का भाव निम्नलिखित है—

"आदि में एक मूल वेद था। उस से उद्धृत करके ऋचा, निगद आदि उपवेद बने। उन्हीं से ये ऋग्वेदादि शाखाएं बनीं। उन उपवेदों की अपेक्षा इस ऋग्वेद में कई ऋचाएं कम और कई अधिक हैं। ऋग्वेद २।२३।१६॥ में पूर्वार्ध किसी और ऋचा का है और उत्तरार्ध अन्य ऋचा का। इससे प्रतीत होता है कि कुछ मन्त्र यहां से कम हैं। यह सब पुराण के आश्रय से कहा गया है।"

आनन्द तीर्थ के पूर्वोक्त श्लोकों में वेङ्कट माधव के लेख की छाया प्रतीत होती है। वेङ्कट माधव ऋग्वेद ५।५॥ की कारिकाओं में लिखता है—

अष्टकाध्यायविच्छेदः पुराणैर्ऋषिभिः कृतः ।
उदग्राहार्थं प्रदेशानामिति मन्यामहे वयम् ॥१॥
वर्गाणामपि विच्छेद आर्ष एवेति निश्चयः ॥२॥
अध्ययनाय शिष्याणां विभागो वर्गशः कृतः ॥४॥

यदि हमारा अनुमान ठीक है तो वेङ्कट माधव का काल जानने में यह भी एक सहायक प्रमाण है ।

आनन्दतीर्थ का भाष्य सब प्रकार से सांप्रदायिक ही है ।

मध्वभाष्य पर जयतीर्थ की टीका

जयतीर्थ मध्व के बीस, पच्चीस वर्ष पश्चात् हुआ है । अर्थात् जयतीर्थ ने संवत् १३६० से अपने ग्रन्थ लिखने आरम्भ कर दिए होंगे । उस ने आनन्दतीर्थ के भाष्य पर अपनी टीका लिखी है ।

पूर्व पृ० ३६ टिप्पणी ३ में जहां जयतीर्थ स्कन्द स्वामी की ओर संकेत करता है, वह हम लिख चुके हैं ।

ऋग्वेद १।३।१०।। में प्रयुक्त **वाजिनीवती** पद पर जयतीर्थ लिखता है—

अविभक्तिको निर्देशः ।

इस पंक्ति पर नरसिंह (सं० १७१८) अपनी विवृत्ति में लिखता है—

एतेनान्नमन्नवत् क्रिया वा वाजिनीति माधवव्याख्या प्रत्युक्ता ।

इस से प्रतीत होता है कि नरसिंह के अनुसार जयतीर्थ यहां किसी माधव की व्याख्या का खण्डन कर रहा है । इसी पद पर माधव सायण की व्याख्या ऐसी है—

वाजिनीवतीति अन्नवत्क्रियावती

वेङ्कट माधव के प्रथम भाष्य में इस पद का व्याख्यान **अन्नवती**, इतना ही है । द्वितीय भाष्य में उसका व्याख्यान कैसा है, यह हम नहीं कह सकते । अतः यदि जयतीर्थ का अभिप्राय सायण माधव के खण्डन करने ही का था, तो उस का काल कुछ और कम करना पड़ेगा ।

जयतीर्थ का विवरण उसकी योग्यता का अच्छा प्रमाण है ।

सर्वदर्शन संग्रह में आनन्दतीर्थ-भाष्य-व्याख्या का स्मरण किया गया है । यह संभवतः जयतीर्थ ही की कोई व्याख्या होगी । यदि यह सत्य है तो जयतीर्थ का काल सायण से कुछ पहले अथवा साथ का होगा ।[1]

जयतीर्थ की टीका पर नरसिंह की विवृत्ति

नरसिंह अपनी विवृति के अन्त में लिखता है कि उस ने शक १५८३ अर्थात् संवत् १७१८ में अपनी विवृति लिखी ।

१. पृ० १५६, वामन शास्त्री सम्पादित । देखें पूर्ण प्रज्ञ दर्शन प्रकरण ।

नरसिंह वैदिक साहित्य का अच्छा पण्डित प्रतीत होता है। उसने काशिका, निरुक्त, एकाक्षरमाला, धातुवृत्ति, जैमिनीय मीमांसा, निघण्टु, अनुक्रमणी, अनुक्रमणिका भाष्य, उणादि, उणादिवृत्ति (पञ्चपादी), अमरकोश, धनञ्जय, विश्व, वररुचि, ब्राह्मण, कैयट, अभिधान, भगवद्गीता, छान्दोग्य-भाष्य, न्यायसुधा, उज्ज्वलदत्त (दशपादी वृत्ति) और महाभाष्य का उल्लेख किया है। इनमें से निघण्टु और उणादि को वह बहुधा उद्धृत करता है। पत्र ४६ पर आपस्तम्ब ब्राह्मण और पत्र १४८ पर आपस्तम्ब शाखा से प्रमाण दिये गए हैं। ये क्रमशः तैत्तिरीय ब्राह्मण और संहिता के पाठ हैं। पत्र २०१क पर **वाशी** शब्द का अर्थ किया गया है—**काष्ठतक्षणसाधनम्**। अर्थात् लकड़ी छीलने का साधन।

तदनन्तर नरसिंह लिखता है—

कर्नाटकभाषया बाड्वीति तथा महाराष्ट्रभाषया वासलेति उच्यते।

इससे प्रतीत होता है कि यह कर्नाटक और महाराष्ट्र के समीप ही का रहने वाला था।

राघवेन्द्र यति की मन्त्रार्थमञ्जरी

राघवेन्द्र यति मध्व संप्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थकार है। उपनिषदों के भाष्य के सम्बन्ध में इसका नाम सुविख्यात है। उसने आनन्दतीर्थ के भाष्य का स्वतन्त्र व्याख्यान किया है। वह अपने दूसरे मङ्गल-श्लोक में लिखता है

संग्रहीष्यामि ऋग्भाष्यप्रोक्तानर्थानृचां स्फुटम्॥

अपनी व्याख्या में वह शाबर भाष्य, चंद्रिका, ऐतरेय भाष्य, अनुव्याख्यान, गीता, कण्वश्रुति आदि को उद्धृत करता है।

ऋग्वेद १।३३।१४॥ में एक पद **नृषाह्याय** है। उसका शाकल्य कृत पदपाठ **नृऽसह्याय** है। राघवेन्द्र उसका पदपाठ **नृऽसाह्याय** देता है। फिर **नृऽसह्याय** पदपाठ देकर वह लिखता है—

नृऽसह्याय इति त्वध्यापकपदपाठः॥

यह अध्यापक कौन था? यह जानना चाहिए। यह मन्त्रार्थमञ्जरी राघवेन्द्रयति की योग्यता का अच्छा परिचय देती है।

नारायण की भाष्यटीका विवृति

नरसिंह के समान नारायण ने भी जयतीर्थ की टीका पर एक विवृति लिखी थी। उसे वह भावरत्नप्रकाशिका कहता है। इसका एक कोश बड़ोदा में है।[1] बड़ोदा के सूचीपत्र में इसे राघवेन्द्र का शिष्य लिखा है।

१०. आत्मानन्द—लगभग संवत् १२००-१३००

ऋग्वेदान्तर्गत **अस्य वामीय** सूक्त के भाष्यकार आत्मानन्द का परिचय सबसे पहले मैक्समूलर

१. संख्या ६४२६।

ने अपने 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' में दिया था।[१] वह परिचय नाम मात्र था। मैक्समूलर का मत है कि आत्मानन्द स्कन्द, भास्करादि को उद्धृत करता है और सायण को उद्धृत नहीं करता, अतः वह सायण से कुछ पहले हुआ होगा।

आत्मानन्दोद्धृत ग्रन्थ वा ग्रन्थकार—इस प्रश्न पर पूरा विचार करने के लिए आत्मानन्दोद्धृत सब ग्रन्थकारों का ज्ञान हमें आवश्यक है, अतः उनकी सूची आगे दी जाती है।

स्कन्दभाष्य, उद्गीथ, भास्कर, शौनक, वेदमित्र, बृहद्देवताकार, अनुक्रमणिकाकार, विष्णुधर्मोत्तर, निरुक्त, पुष्करोक्तकल्प, भगवद्गीता, महाभारत, पुराण, स्मृति, पदकार, केशवाचार्य (वेदान्त ग्रन्थकार), शङ्कराचार्य, वेदान्ती, उपनिषद्, विष्णुपुराण, निघण्टु, सम्प्रदायज्ञ, योगयाज्ञवल्क्य, वृद्धशौनक, योगग्रन्थ, शाकपूणि (दो वार), पञ्चरात्र, प्रशंसा (वेदप्रशंसा ?), वृद्धमनु, ग्रन्थकार का ज्येष्ठ भ्राता लक्ष्मीधराचार्य, शंख, चन्द्रिकाकार (आह्निक ग्रन्थ), विज्ञानेश्वर, आत्मज्ञान (आत्मबोध), यमस्मृति, हरिवंश, सर्वज्ञ, गदाधर, भट्टाचार्य (कुमारिल ?), नृसिंहमन्त्रकल्प, महाभागवत, श्वेताश्वतर, शिवधर्मोत्तर, याज्ञवल्क्य (स्मृति), ब्रह्मोपनिषत्परिशिष्ट, वासिष्ठ रामायण, स्कन्दपुराण कालिकाखण्ड, विष्णुरहस्य, तैत्तिरीय, ब्रह्मगीता, टिप्पणकार, पैङ्गिरहस्य, एकाक्षरनिघण्टु, भारद्वाजसूत्र, भोज, वार्तिककार, शङ्कराचार्य शिष्य द्रविड स्वामी, विवरण, वाचस्पति, महायोगशास्त्र, योगमित्र, वामन (वेदान्तग्रन्थकार), गर्भोपनिषद्, वृत्तिकार, सांख्य (कारिका), योगशास्त्र, बृहद्वृचारण्यक, वासिष्ठ वेदान्तकारिका, रत्नशास्त्र, भोजनिघण्टु, नारदीय पुराण, इतने ग्रन्थ व ग्रन्थकार इसी छोटे से भाष्य में उद्धृत हैं। इनके अतिरिक्त उपवर्ष भी मद्रास से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ में वर्णित है।[२]

काल—पूर्वोक्त नामों में से भोज, विज्ञानेश्वर और चन्द्रिकाकार ध्यान देने योग्य हैं। चन्द्रिकाकार देवणभट्ट है। उसी ने आह्निक काण्ड भी रचा था। पं० पाण्डुरङ्ग वामन काणे के अनुसार विज्ञानेश्वर का काल सन् १०७०-११०० तक है।[3] स्मृतिचन्द्रिका का काल तेरहवीं शताब्दी ईसा का प्रथम चरण है।

आत्मानन्द का ज्येष्ठ भ्राता लक्ष्मीधराचार्य कौन है? यह नहीं कहा जा सकता। वह कल्पतरु (संवत् १२००) का कर्ता लक्ष्मीधर नहीं है। उस लक्ष्मीधर के पिता का नाम भट्टहृदयधर था, और आत्मानन्द के पिता का नाम विष्णुप्रकाशक है।

पूर्वोक्त लेख से इतना निश्चित हो जाता है कि आत्मानन्द संवत् १२७५ के अनन्तर हुआ। वेद भाष्यकारों में से आत्मानन्द स्कन्द, उद्गीथ, भास्कर आदि को उद्धृत करता है। सायण का उल्लेख उसने नहीं किया। इससे अनुमान होता है कि वह सायण से कुछ पहले हुआ था। अतः अधिक प्रमाणों की अनुपस्थिति में अभी तक १४वीं शताब्दी विक्रम आत्मानन्द का काल माना जा सकता है।

---

१. पृ० १२३।

२. इसी इतिहास का ब्राह्मण तथा आरण्यक भाग भी देखें।

3. p. 290, History of Dharmasastra.

भाष्य के हस्तलेख—इस समय तक इस भाष्य के चार हस्तलेख हमारी दृष्टि में आए हैं। एक बड़ोदा में, दूसरा पञ्जाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में और तीसरा इण्डिया आफिस में है। चौथा हस्तलेख मद्रास में है।[१] बड़ोदा के कोष के अन्त में उस प्रति के लिखे जाने की कोई तिथि नहीं है। लाहौर के कोष के अन्त में लिखा है—

शके १७२४ दुंदुभीना[म]संवत्सरे माहे श्रावण शुध्य ८ भृगुवासरे ॥

यह हस्तलेख केवल १२६ वर्ष पुराना है।

इण्डिया आफिस के हस्तलेख के अन्त में भी तिथि नहीं दी गई। परन्तु इन्डिया आफिस के ग्रन्थों की सूची बनाने वाले एगलिङ्ग महाशय के विचारानुसार यह कोष लगभग १६५० सन् ईसा का है।

शैली—अपने भाष्यारम्भ में आत्मानन्द लिखता है कि स्कन्द, उद्गीथ और भास्करादि के भाष्य अधियज्ञ विषय के हैं। कहीं-कहीं निरुक्त के आश्रय से अधिदैवत विषय के हैं, परन्तु उसका भाष्य विष्णुधर्मोत्तर और शौनकादि के अनुसार अध्यात्म विषय का है। अपने भाष्य की समाप्ति पर वह स्पष्ट शब्दों में पुनः यही लिखता है—

अधियज्ञविषयं स्कन्दादिभाष्यम्। निरुक्तमधिदैवतविषयम्। इदं तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति। न च भिन्नविषयाणां विरोधः। अस्य भाष्यस्य मूलं विष्णधर्मोत्तरम्।

इससे कुछ पंक्ति पहले वह लिखता है—

यस्तु शाकपूणियास्कादिनिरुक्तेष्वपि व्याख्याभेद एव।

अर्थात् शाकपूणि और यास्कादि के निरुक्तों में भी व्याख्या भेद है।

आत्मानन्द शङ्करमतानुयायी अद्वैतवादी है। उसके भाष्य में स्थान-स्थान पर अद्वैत मत का भाव प्रकट होता है। ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मन्त्र का आत्मानन्द कृत भाष्य नीचे उद्धृत किया जाता है। इससे उसके भाष्य का प्रकारादि सुविज्ञात हो जायेगा।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥४६॥

ननु[२] **चत्वारि वाक्** [ऋग्वेद १।१६४।४५।।] इति वेदार्थानां[३] नानात्वमुक्तम्। तर्हि द्वैतापत्तिरित्याशंक्याह[४]—एकैव देवता परमात्मा। सर्वदेवता एकस्यैव[५] नाना नाम। ग्रहणीत्युच्यते[७]। यद्वा **त्रयः केशिनः** [ऋग्वेद १।१६४।४४।।] इत्यत्र देवतात्रित्वमुक्तम्। तर्हीन्द्रादयो न काश्चिद्देवता[८] इत्याशंक्याह[९] एकैव देवता परमात्मा। सर्वदेवता एकस्यैव[१०] नाम[११]। नामग्रहणी त्रित्वोक्तिस्तु

१. संख्या ५४६५, Vol. III, part I, Sanskrit, 1937.
२. लाहौर, नास्ति।
३. लाहौर, पदार्थानां।
४. लाहौर, ०शंक्य।
५. बड़ोदा, ०देवा।
६. लाहौर, अस्यैव।
७. बड़ोदा, ग्रहणं अग्रहणमित्युच्यते।
८. बड़ोदा, किं देवता। लाहौर, किंचिद्देवता।
९. लाहौर, ०शंक्य।
१०. लाहौर, तास्यैव। बड़ोदा, नास्ति।
११. बड़ोदा, नास्ति।

नानादेवतानां त्रित्वसंख्यावरोधार्थं[1] यज्ञादिप्रवृत्यर्थम् । तदुच्यते । इन्द्रं परेशमाहुः । **अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं**[2] [ऋग्वेद १।३२।२।।] इत्यादौ । मित्रं परेशमाहुः । **मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणः**[3] [ऋग्वेद ३।५९।१।।] इत्यादौ । वरुणं परेशमाहुः । **शतं ते राजन्भिषजः** [ऋग्वेद १।२४।९।।] इत्यादौ । अग्निं परेशमाहुः । **त्वमग्ने रुद्रः** [ऋग्वेद २।१।६।।] इत्यादौ । अथो[4] तथा । दिव्यः सूर्यः । तं[5] परेशमाहुः । **चित्रं देवानाम्** [ऋग्वेद १।११५।१।।] इत्यादौ । सः परेशो[6] गरुत्मान् सुपर्ण[6] इत्याहुः । **सौपर्णपक्षममितद्युतिमप्रमेयं छन्दोमयं विविधयज्ञतनुं वरेण्यम्** [?] इत्यादौ । पक्षौ बृहच्च भवतो रथवच्च यस्य तं वैनतेयमजरं प्रणमामि नित्यम् [?] इत्यादौ ।[7] इदानीमग्निं परेशमाहुः । अग्निशब्दोऽत्र[8] नेत्राग्निमतो रुद्रस्य वाचकः । **स्थिरेभिरङ्गैः** [ऋग्वेद १।३३।९।।] **अर्हन्न बिभर्षि** [ऋग्वेद २।३३।१०।।] इत्यादौ । यमं परेशमाहुः । **त्रिकद्रुकेभिः पतति** [ऋग्वेद १०।१४।१६।।] इत्यादौ । मातरिश्वानं परेशमाहुः । **आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भः** [ऋग्वेद १०।१६८।४।।] इत्यादौ । इन्दतीति इन्द्रः । इदि परमैश्वर्ये । मितो हिंसातस्त्रायत[9] इति मित्रः । एवं वृणुत इति वरुणः । अङ्गं नयतीत्यग्निः । अङ्गतीत्यग्निः ।[10] अगि गतौ णीञ् प्रापण इति गत्यर्था ज्ञानार्थाः । दिवि महापुरुषबुद्धौ द्योतनवत्यां भवो दिव्यः । शोभनो मोक्षपक्षः[11] सुपर्णः । संसारमोक्षाभ्यां[12] गरुत्मान् । रोदयतीति रुद्रः । स एवाग्रणीत्वादग्निः । यमयतीति यमः । येन तुष्टेन[13] मातरि मायायां क्षिप्तो जीवः श्वेव भवति स मातरिश्वा । एकं सद्ब्रह्म । सत्ब्रह्म ।[14] विप्रा ब्राह्मणत्वाद्यभिमानिनो[15] यज्ञादिसिद्धये बहुधाभिधानेनेन्द्रादिरूपेणाहु. । योजनान्तरे तु विप्रा मेधाविनः तत्वविदस्तु इन्द्रादिरूपेण बहुधा सद्ब्रह्म एकमाहुः । कल्पस्तु—

इन्द्रादिशब्दा गुणयोगतो वा व्युत्पत्तितो वापि परेशमाहुः[16] ।
विप्रास्तदेकं बहुधा वदन्ति प्राज्ञास्तु नानापि सदेकमाहुः ।।

यहां कल्प से पुष्करोक्त कल्प लेना चाहिए ।

इस मन्त्र का भाष्य हमने इसी दृष्टि से दिया है कि इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि सारे ही वेद का अर्थ परमात्मा में है । मन्त्रस्थ अग्नि आदि प्रत्येक पद पर आत्मानन्द वेद के ऐसे मन्त्र देता है, जिन में उनके अनुसार अग्नि आदि शब्दों से स्पष्ट परमात्मा का ग्रहण होता है । यही नहीं जो कल्प आत्मानन्द प्रत्येक मन्त्र भाष्य के अन्त में उद्धृत करता है, वह भी स्पष्ट इसी आध्यात्मिक अर्थ को बताता है । वह कल्प आत्मानन्द से कई शताब्दी पहले का है । मुद्रित विष्णुधर्मोत्तर में वह हमें नहीं

१. बड़ोदा, ०संख्यायामवरोधार्थं ।
२. बड़ोदा, लाहौर, परिशयानं ।
३. लाहौर, नास्ति ।
४. लाहौर, अथोदकं ।
५. बड़ोदा, तमु ।
६. बड़ोदा, परेशः सुपर्ण ।
७. लाहौर, नास्ति ।
८. बड़ोदा, ऽत्रनास्ति ।
९. लाहौर हिंसायास्त्रायत ।
१०. लाहौर, नास्ति ।
११. लाहौर, मोक्षः ।
१२. बड़ोदा, मोक्षपक्षाभ्यां ।
१३. बड़ोदा, रुष्टेन, पुनः प्रान्ते, सृष्टेन ।
१४. लाहौर, नास्ति ।
१५. लाहौर, ब्रह्मत्वा० ।
१६. बड़ोदा, वा परमेशमाहुः ।

मिला। परन्तु है वह विष्णुधर्मोत्तर का ही भाग। इससे प्रतीत होता है कि आत्मानन्द का भाष्य निराधार नहीं है। उससे बहुत पहले वेद का ऐसा आध्यात्मिक अर्थ विद्यमान था।

शाकपूणि से प्रमाण—आत्मानन्द ने जो प्रमाण शाकपूणि से दिए हैं, वे देखने योग्य हैं, अतः वे आगे दिए जाते हैं। ऋग्वेद १।१६४।१४॥ के भाष्य में वह लिखता है—

चक्रं जगच्चक्रं भ्रमतीति वा चरतीति वा करोतीति वा चक्रम् इति शाकपूणिः।[1]

पुनः मन्त्र ४० के भाष्य में वह लिखता है—**उदकम्—इति सुखनामेति शाकपूणिः।**[2]

इन में से प्रथम प्रमाण शाकपूणि के निरुक्त से हैं और दूसरा निघण्टु से। इस से प्रतीत होता है कि आत्मानन्द ने शाकपूणि का निरुक्त पढ़ा था। भाष्य के अन्त में उस के इस लेख से कि शाकपूणि और यास्क के निरुक्तों में व्याख्या भेद है, यही बात ज्ञात होती है।

आत्मानन्द का पाण्डित्य उसके भाष्य से सुविदित है।

मेरी प्रेरणा से आत्मानन्द के भाष्य का सम्पादन हमारे अनुसन्धान विभाग के शास्त्री पं० प्रेमनिधि कर रहे हैं। इसका एक संस्करण डाक्टर कूहनन राज ने सम्पादित कर मद्रास से सन् १९५६ में छपवा दिया है।

११. सायण—संवत् १३७२-१४४४

वैदिक भाष्यकारों में सायण[3] का स्थान विशेष है। उसका वैदिक वाङ्मय से प्रेम, उस का विस्तृत अध्ययन, उसका विजयनगर के राज्य को सुदृढ़ करना, ये सब बातें उसकी असाधारण योग्यता की द्योतक हैं।

काल—बड़ोदा, केन्द्रीय पुस्तकालय के संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचि में सायण के ऋग्वेद-भाष्य का एक कोश है। संख्या उस की १२२१५ है। यह चतुर्थाष्टक का भाष्य है। इसका प्रतिलिपि काल संवत् १४५२ है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि सायण संवत् १४५२ से पहले ऋग्भाष्य रच चुका था।

बुक्क प्रथम, कम्पण, सङ्गम द्वितीय, और हरिहर द्वितीय, विजयनगर और उसके उपराज्यों के इन चार राजाओं का मन्त्री सायण रहा है। सायण ऋग्वेदभाष्य के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर लिखता है—

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे ऋक्संहिताभाष्ये प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

अर्थात् वैदिक मार्ग प्रवर्तक श्री बुक्क महाराज के काल में ऋग्वेद भाष्य रचा गया था।

---

१. यह पाठ हमने लाहौर और बड़ोदा के कोशों से शोध कर दिया है। लाहौर के कोश में यह पाठ २० क पर और बड़ोदा के कोश में रोटो प्रति के २२ पत्र पर है।
२. बड़ोदा, उदकं कमिति सुख०। शाकपूणि का वास्तविक पाठ क्या था, इस में अभी सन्देह है।
३. देखें, इसी इसी इतिहास का ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग, भगवद्दत्त तथा सत्यश्रवा।

अपनी सुभाषितसुधानिधि के आरम्भ में सायण लिखता है कि वह कम्प राज का मन्त्री था। धातुवृत्ति, प्रायश्चित्तसुधानिधि, यज्ञतन्त्रसुधानिधि, और अलङ्कारसुधानिधि में वह लिखता है कि वह सङ्गम द्वितीय का मन्त्री था। शतपथ आदि ब्राह्मणों के भाष्य में वह लिखता है कि वह हरिहर द्वितीय का मन्त्री था।

इन में से बुक्क प्रथम का सबसे पुराना शिलालेख शक १२७६ (संवत् १४११) का है।[१]

महाराज हरिहर द्वितीय, बुक्क प्रथम का पुत्र था। हरिहर द्वितीय संवत् १४३६ में राज सिंहासन पर बैठा हुआ था। वह संवत् १४३४ में भी राज्य कर रहा था। मैसूर पुरातत्व विभाग सन् १९१५ की रिपोर्ट में इसी संवत् के उस के एक शिलालेख मिलने की बात लिखी है। हरिहर द्वितीय की मृत्यु-तिथि अभी तक अज्ञात है। परन्तु संवत् १४५६ तक वह राज्य करता था, ऐसा उसके एक शिलालेख से प्रमाणित होता है।[२] आफ्रेख्ट के मतानुसार सायण का देहान्त संवत् १४४४ में हो गया था।[३] हमने भी इसी तिथि को अभी तक सायण की मृत्यु तिथि मान लिया है। सायण ७२ वर्ष जीवित रहा, अतः संवत् १३७२ अनुमानतः उसकी जन्म तिथि होगी।

सायण का कुल – ऐपिग्राफिया इण्डिका, भाग ३, पृ० ११८ पर एक भग्न-शिलालेख का कुछ अंश छपा है। वह शिलालेख काञ्चीपुरम के एक मन्दिर में ग्रन्थाक्षरों में है। वह लेख आगे दिया जाता है—

स्वस्ति श्री श्रीमायी जननी पिता तव मुनिर्बोधाय[नो] मायणो...छो...भूषणरनुजः श्रीभोगन[ा]थः कविः स्वा[मी] [सं]ग[म]भूप[तिः]....पूश्री[क]ण्ठनाथो गुरुर्भारद्वाज[कु]लेश सा[य]ण गुणैस्वत्त

इस लेख में सायण को सम्बोधन करके कहा गया है कि तुम्हारा गोत्र भारद्वाज है, सूत्र बोधायन है, माता श्रीमायी है, पिता मायण है, कनिष्ठ भ्राता कवि भोगनाथ है, स्वामी संगम है, और गुरु श्रीकण्ठनाथ है।

यही बात सायण के बड़े भ्राता माधव के लेख से स्पष्ट होती है। पराशर स्मृति की टीका में माधव लिखता है –

श्रीमती जननी यस्य सुकीर्तिर्मायणः पिता।
सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरौ॥
यस्य बोधायनं सूत्रं शाखा यस्य च याजुषी।
भारद्वाजकुलं यस्य सर्वज्ञः स हि माधवः॥

१. ऐपिग्राफिया इण्डिका, भाग ३, पृ० ११५ पर जर्नल, बम्बई ब्राञ्च रायल एशियाटिक सोसायटी, भाग १२, पृ० ३८८ के प्रमाण से।

२. ऐपिग्राफिया इण्डिका, भाग ३, पृ० ११७।

३. बृहत्सूची, पृ० ७११।

अर्थात्—माता श्रीमती, पिता मायण, सायण भोगनाथ दो छोटे भाई, सूत्र बौधायन, याजुष शाखा, भारद्वाज गोत्र जिसका, ऐसा सर्वज्ञ माधव है।

अलङ्कारसुधानिधि के लेख से भी यही बात ज्ञात होती है—

महेन्द्रवन्माननीयो मंत्री मायणसायणः।
मण्डलेषु कृतचारमण्डलः सायणो जयति मायणात्मजः।
मंत्री मायणसायणस्त्रिजगतीमान्यापदानोदयः।

इति श्रीमत्पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरसमुद्राधिपति बुक्कराजप्रथमदेशिकमाधवाचार्यानुजन्मनः श्रीमत्संगमराजसकलराज्यधुरंधरस्य सकल-विद्यानिधानभूतस्य भोगनाथाग्रजन्मनः श्रीमत्सायणाचार्यस्य कृतावलङ्कारसुधानिधौ

इन पंक्तियों से भी पूर्वोक्त अभिप्राय ही निकलता है।

गत पृष्ठ पर जो शिलालेख उद्धृत किया गया है, उससे पता चलता है कि श्रीकण्ठनाथ सायण का गुरु था। ऋग्वेदादिभाष्यों के आरम्भ में सायण विद्यातीर्थ को अपना गुरु कहता है। अतः सायण के दो या इस से अधिक गुरु होंगे।

अलङ्कार सुधानिधि से यह भी ज्ञात होता है कि कम्पण, मायण और शिङ्गण नाम के सायण के तीन पुत्र थे। महाराज सङ्गम को उस के बाल्यकाल से सायण ने स्वयं पढ़ाया था। सायण भगवान् व्यास का अवतार था। सायण योद्धा भी था। किसी चम्पा राज पर उस ने विजय प्राप्त की थी—

दिष्ट्या दैष्टिकभावसंभृतमहासंपद्विशेषोदयं
जित्वा चम्पनरेन्द्रमूर्जितयशाः प्रत्यागतः सायणः॥

उस विजय का समाचार अलङ्कार सुधानिधि के इस श्लोक में है।

जन साधारण में एक भ्रम है कि विद्यारण्य स्वामी या तो सायण था, या माधव। यह नाम संन्यासी होते समय दोनों में से किसी एक ने धारण किया। यह बात सर्वथा भ्रम जन्य है। विद्यारण्य इन दोनों से पृथक् एक तीसरा व्यक्ति था।

सायण का ऋग्वेद भाष्य

सायण बड़ा विद्वान् था, इस में किसी को सन्देह नहीं। परन्तु वह राज मन्त्री भी था। विजय-नगर राज्य के मन्त्री का कार्य करते हुए वह इतनी विपुल-ग्रन्थ-राशि को लिखने के लिए कितना समय निकाल सकता था, यह विचारणीय है। हमारा विचार है कि ऋग्वेद का भाष्य करते समय सायण का सहायक भाष्यकार कोई बड़ा भारी ऋग्वेदीय ब्राह्मण था।

मैक्समूलर अपने उपोद्घात[1] में लिखता है कि ऋग्वेद १।१६४।३१। के भाष्य में सायण **अस्मद्-ब्राह्मण** कह कर ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण देता है। यदि यह बात सच होती तो और भी निश्चत हो जाता

१. द्वितीय संस्करण, पृ० १२८।

कि सायण का सहायक कोई ऋग्वेदीय ब्राह्मण था। तैत्तिरीय शाखाध्येता सायण ऐतरेय ब्राह्मण को **अस्मद् ब्राह्मण** नहीं कह सकता था। परन्तु **अस्मद् ब्राह्मण** वाला प्रमाण ऐतरेय ब्राह्मण या तैत्तिरीय ब्राह्मण दोनों में नहीं है।

संवत् १४४३ का एक ताम्रपत्र है। यद्यपि आरम्भ में उसके कई पत्र रहे होंगे, परन्तु अभी तक उनमें से मिला एक ही है। उस में लिखा है कि "वैदिकमार्गप्रतिष्ठापक" महाराज हरिहर द्वितीय ने तीन ब्राह्मणों को विद्यारण्य श्रीपाद की उपस्थिति में कुछ ग्राम दान किए। ये ब्राह्मण "धर्मब्रह्माध्वन्य" अर्थात्—धर्म और वेद के मार्ग पर चलने वाले थे। वे चार वेदों के भाष्यों के "प्रवर्तक" भी थे। उनके नाम हैं—(१) नारायण वाजपेययाजी, (२) नरहरिसोमयाजी और (३) पण्डरी दीक्षित। सम्भव है इन्हीं ब्राह्मणों की तीन कुल हों जिन की अब तक भी शृंगेरी मठ में प्रतिष्ठा विशेष होती है। संवत् १४३७ का एक और लेख है जिसके अनुसार नारायण वाजपेययाजी को कुछ और दान मिला था।

इन लेखों का उल्लेख मैसूर पुरातत्त्व विभाग की रिपोर्ट सन् १९०८ और एपिग्राफिया कर्णाटिका भाग ६ में है। वहीं के प्रमाण से इण्डियन एण्टीक्वरी सन् १९१६ के पृष्ठ १९ पर इन का कुछ वर्णन है। हमारे लेख का आधार इण्डियन एण्टीक्वेरी है।

ताम्रपत्रों की पूर्वोक्त घटना से अनुमान होता है कि ये तीनों व्यक्ति वेदभाष्यों के करने में सायण के सहायक रहे होंगे।

ऋग्वेदभाष्य की रचना में सायण के अनेक सहायक थे, ऐसा विचार परलोकगत डा० गुणे का भी है।[1]

सायण का ऋग्वेदभाष्य याज्ञिक पद्धति का एक उज्ज्वल उदाहरण है। इस की रचना में उस ने स्कन्द, नारायण और उद्गीथ के भाष्यों से बड़ी सहायता ली है। दशम मण्डल के उद्गीथभाष्य के तीस सूक्तों के साथ हम ने सायण भाष्य की तुलना की है। उससे सहसा यह बात सिद्ध होती है कि कई कोई स्थानों पर सायण उद्गीथ की प्रतिलिपि कर रहा है। दो चार शब्द बदल कर वह उद्गीथ का ही भाष्य लिख देता है।

इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ४३ पर सायण भाष्य के पाठों के विषय में हम जो कुछ लिख चुके हैं, वह भी ध्यान रखने योग्य है। सायण भाष्य का मैक्समूलर का संस्करण यद्यपि बहुत अच्छा है, परन्तु फिर भी उसे अधिक अच्छा करने का स्थान है। इस काम में बड़ोदा के संवत् १४५२ के हस्तलेख की सहायता अवश्य लेनी चाहिए।

कामज और क्रोधज सात मर्यादा हैं। इन के सम्बन्ध में ऋग्वेद १०।५।६ पर मैक्समूलर सम्पादित सायण भाष्य में लिखा है—

पानमक्षाः स्त्रियो मृगया दण्डः पारुष्यमन्यदूषणमिति।

इस पंक्ति पर पाठान्तरों की टिप्पणी में मैक्समूलर लिखता है कि मनु ७।५०, ५१॥ के प्रमाण से **अर्थदूषणम्** पाठ अधिक युक्त है, परन्तु सारे हस्तलेख **अन्यदूषणम्** की ओर ही संकेत करते हैं। वस्तुतः

१. सर आशुतोश मुकर्जी सिल्वर जुब्ली वाल्यूम्स, ओरिएण्टेलिया, भाग ३, पृष्ठ ४६७-४७६।

पाठ अर्थदूषणम् ही चाहिए। कौटल्य अर्थशास्त्र ८।३॥ के अनुसार भी यही पाठ उचित है। इस से प्रतीत होता है कि सायण के ऋग्वेद भाष्य का पुनः यत्नपूर्वक सम्पादन होना चाहिए। इस समय शाट्यायन ब्राह्मण आदि के अनेक ग्रन्थ भी मिल चुके हैं. जो मैक्समूलर को नहीं मिल सके और जिन के प्रमाण सायण ने अपने ऋग्भाष्य में दिए हैं। उन का भी नूतन संस्करण में उपयोग करना चाहिए।

सायणकृत-ऋग्भाष्य में उद्धृत ग्रन्थकार—मैक्समूलर ने स्वसम्पादित सायण-ऋग्भाष्य के उपोद्घात में सायणोद्धृत ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है। वहीं से लेकर हम इस विषय का आगे निदर्शन करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में से शाट्यायन, कौषीतकी, ऐतरेय, तैत्तिरीय, ताण्ड्य और शतपथ प्रायः उद्धृत हैं। सायण चरक ब्राह्मण भी उद्धृत करता है। इस का मैक्समूलर ने उल्लेख नहीं किया। अपनी धातुवृत्ति के सम्बन्ध में ऋग्वेद १।५१।८॥ पर सायण लिखता है—

इत्यस्माभिर्धातुवृत्तावुक्तम्।

अन्यत्र भी सायण धातुवृत्ति को उद्धृत करता है।[1] भाष्यप्रस्तावना में वह जैमिनीय न्यायमालाविस्तर को सङ्ग्रहश्लोकों के नाम से उद्धृत करता है। न्यायमालाविस्तर उस का अपना रचा हुआ ग्रन्थ नहीं है। यह उस के भ्राता माधव की कृति है। इस सम्बन्ध में सायण के शब्द देखने योग्य हैं। सायण लिखता है—**आरचयति**। यह पद सायण अपने लिए नहीं लिख रहा।

ऋग्वेद भाष्य लिखने से पहले सायण तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक का भाष्य लिख चुका था।

वेद भाष्यकारों में से भट्टभास्कर मिश्र ऋग्वेद १।६३।४॥ पर उद्धृत है। ऋग्वेद ६।१।१३॥ में वह भरतस्वामी का नाम लेता है। ऋग्वेद १।८८।५॥ और ५।१२।३॥ पर स्कन्द स्वामी के भाष्य से प्रमाण मिलते हैं। उद्गीथ का वचन ऋग्वेद १०।४६।५॥ पर मिलता है। माधव भट्ट की पंक्ति ऋग्वेद १०।८६।१॥ पर लिखी गई है।

आपस्तम्ब-श्रौत सूत्र भाष्यकार कपर्दी स्वामी का उल्लेख ऋग्वेद १।६०।१॥ पर मिलता है। ऋग्वेद १।६७॥ की भूमिका में श्रौतसूत्रकर्ता भारद्वाज वर्णित है। आपस्तम्ब सूत्र भी बहुधा उद्धृत है। ऋग्वेद ५।४०।८॥ पर हारिद्रविक ब्राह्मण का नाम मिलता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य को भी सायण उद्धृत करता है। यास्कीय निरुक्त और निघण्टु के प्रमाणों से तो यह भाष्य भरपूर है। डा० स्वरूप ने सायणोद्धृत निरुक्त के सारे पाठ एक स्थान में एकत्र कर दिए हैं।[2]

अपने से पूर्व के भाष्यकारों को सायण—**केचन, अन्य आह, अपर आह, कश्चिदाह संप्रदायविदः** आदि कह कर संतुष्ट रहता है। वह उन के नामादि नहीं बताता।

इन के अतिरिक्त और भी ग्रन्थकार हैं जिन के प्रमाणों से सायण का भाष्य अलङ्कृत है। उन के नाम भाष्य के पाठ से ही जानने चाहिएं।

---

१. १।४२।७॥ ऋग्वेद।

२. पृष्ठ २९३-३५२ निरुक्त की सूचियां।

पूना में इस भाष्य का नया संस्करण—पूना से सायण के ऋग्भाष्य का नया संस्करण तैयार हुआ है। **वाजसनेयकम्** के नाम से जो प्रमाण सायण ने दिए हैं, वे कण्व और माध्यन्दिन दोनों शतपथों में ठीक उन्हीं शब्दों में नहीं मिलते। मेरा भी इस से पहले यही विचार था। वाजसनेयकों का एक मूल ब्राह्मण और सम्भवतः १५ अवान्तर ब्राह्मण ग्रन्थ थे। सायण उन में से किस का उपयोग करता है, यह हम नहीं कह सकते। पूना का नया संस्करण अधिक उपयोगी होगा।

सायण के अन्य ग्रन्थ—सायण रचित जितने ग्रन्थों का अब तक पता लग चुका है, उन का नाम यहां दे देना उचित ही है। इसलिए अब उन की सूची दी जाती है।

१. धातुवृत्ति।
२. वैदिकभाष्य—तैत्तिरीय, ऋक्, काण्व यजुः, साम, अथर्व संहिताओं के भाष्य।
३. ब्राह्मण भाष्य—तैत्तिरीय ऐतरेय, साम अष्ट ब्राह्मणों के भाष्य।
४. आरण्यक भाष्य—तैत्तिरीय आरण्यक, ऐतरेय आरण्यक भाष्य।
५. ऐतरेय उपनिषद् दीपिका।
६. सुभाषितसुधानिधि।
७. प्रायश्चित्त सुधानिधि अथवा कर्मविपाक।
८. अलङ्कार सुधानिधि।
९. पुरुषार्थ सुधानिधि।
१०. यज्ञमन्त्र सुधानिधि।

सायण के राज्य-प्रतिष्ठा-लब्ध होने से ही सायण के वैदिक भाष्यों का बहुत प्रचार हो गया, और इसी कारण से उस के पहले के वेदभाष्य मिलने भी कठिन हो गये। इसे ईश्वर-कृपा ही समझना चाहिए कि सायण का इतना प्रभाव बढ़ जाने पर भी प्राचीन भाष्यों के कुछ हस्तलेख अब मिल गए हैं।

१२. रावण—सोलहवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व

रावण एक दाक्षिणात्य पण्डित था। पार्थ अथवा पाथरी के समीप का निवासी मुरारी उसके विषय में लिखता है—

परमेश्वरस्य येंऽशा रावणाद्यास्तैः कृता ये उपाया भाष्यादयस्तैर्व्यक्तीकृता प्रकटीकृता रावणभाष्याद्यवलोकनेन तदुक्तकर्माचरणं सम्यगेव स्यादिति।[1]

जनवरी १५ सन् १८५५ के पत्र में फिट्ज एडवर्ड हाल बनारस से मैक्समूलर को लिखते हैं[2] —

'क्या आपने रावण का ऋग्भाष्य कभी सुना है। सूर्यपण्डित अपनी परमार्थप्रभा में, जो भगवद्गीता पर एक टीका है, लिखता है कि उसने इसे देखा है। मुझे यह भी कहा गया है कि किसी याजुष शाखा पर भी रावण का भाष्य अभी तक विद्यमान है।''

---

१. पृ० ३, बनारस, १९०४।
२. ऋग्वेद भाष्य, प्रथम संस्करण के तीसरे भाग का उपोद्घात। दूसरा संस्करण, पृष्ठ ४८। हमने मूल में अंगरेजी पत्र का अनुवाद दिया है।

पुनः एशियाटिक सोसायटी बंगाल के जर्नल[1] के सन् १८६२ के दूसरे अङ्क में फिट्ज एडवर्ड हाल का मुम्बई एप्रिल ११, सन् १८६२ का एक और पत्र छपा है। उस में लिखा है—

किसी रावण ने वेदों के कुछ भाग पर भाष्य किया, ऐसा संकेत मल्लारि करता है।[2] अजमेर, ग्वालियर और अन्यत्र भी पण्डितों ने मुझे बार-बार निश्चय कराया है कि उन्होंने रावण भाष्य देखा ही नहीं, प्रत्युत ऋग्वेद, और यजुर्वेद पर उन के पास भी सारा रावण भाष्य रहा है। इस विषय में वह मुझे धोखा नहीं दे रहे थे।

तदनन्तर हाल महाशय ने रावण भाष्य का उपलब्धांश प्रकाशित किया है।

रावण को स्मरण करने वाले सूर्य पण्डित का परिचय—फिट्ज एडवर्ड हाल लिखता है कि भगवद्गीता पर परमार्थप्रपा नाम की टीका लिखने वाले दैवज्ञ सूर्य पण्डित ने लीलावती पर अपनी टीका शक १४६३ में लिखी थी। लीलावती की टीका के अन्त में सूर्य पण्डित ने स्वयं यही लिखा है।

सन् १९१२ में मुम्बई के गुजराती प्रेस से अष्टटीकोपेत एक गीता छपी है। उस के सम्पादक का नाम है शास्त्री जीवाराम लल्लुराम। उस में सूर्य पंडित की परमार्थप्रपा भी छपी है। उसके अन्त में लिखा है—

गोदोदक्तटपूर्णतीर्थनिकटे पार्थाभिधानं पुरं
तत्र ज्योतिष्कान्वये समभवच्छ्रीज्ञानराजाभिधः।
तत्सूनुर्निगमागमार्थनिपुणः सूर्याभिधानः कविः
कृष्णप्रेरणया तदर्पणधिया गीतार्थभाष्यं व्यधात्॥

अर्थात् गोदावरी के तट पर पूर्णतीर्थ के निकट पार्थ नाम का नगर है। पार्थ वर्तमान पाथरी है।[3] वहां ज्योतिषियों के कुल में श्री ज्ञानराज नाम का ब्राह्मण था। ज्ञानराज के पिता का नाम नागनाथ था। ज्ञानराज का पुत्र सूर्य नाम का कवि वेद शास्त्र के अर्थ में निपुण था। उसी ने श्री कृष्ण की प्रेरणा से गीता भाष्य रचा।

सूर्य पंडित की गीता टीका की भूमिका से निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं। सूर्य पंडित का गुरु सम्भवतः चतुर्वेदाचार्य अथवा चतुर्वेद स्वामी था। चतुर्वेद स्वामी ने एक ऋग्वेदभाष्य रचा था।

सूर्य पण्डित-रचित-ग्रन्थ—सूर्य पण्डित ने एक साम भाष्य भी रचा था। गीता ११।३॥ की टीका में वह लिखता है—

अथ वामदेवस्य साम्नः प्रवृत्तिरापस्तम्बशाखायाम्[4]—विश्वेभिर्देवैः पृतना जयामि...इति। अत्र सामगायने स्तोभस्तोमादिलक्षणमस्माभिः सामभाष्ये प्रोक्तम्।

---

१. पृष्ठ १२६।
२. पृ० ५, ग्रहलाघव, कलकत्ता संस्करण।
३. देखें, भाग प्रथम, भूमिका, Catalogue of C. P. and Berar.
४. २।५॥ और ८।१६॥ पर भी एक आपस्तम्ब संहिता का प्रमाण उद्धृत है।

गीता ११।५५।। पर वह लिखता है कि उसने भक्तिशत ग्रन्थ रचा था। गीता ३।४३।।; ८।१६।। और १०।३४।। आदि पर वह अपने शतश्लोक भाष्य का नाम लेता है। मूल ग्रन्थ शङ्कर प्रणीत है। इस में श्रुतियों की व्याख्या होगी।

सूर्य पंडित की लीलावती टीका का उल्लेख पहले हो चुका है।

सूर्योद्धृत ग्रन्थविशेष—गीता ६।३२।। पर वह सामदर्पण का नाम लेता है। १०।३५।। पर गायत्री मन्त्र की व्याख्या के सम्बन्ध में वह किसी कण्वसंहिताभाष्यकार को स्मरण करता है। १७।२३।। पर वह सर्वानुक्रमकार शाकल का नाम लेता है।

रावण का ऋग्भाष्य—कई विद्वानों का मत है कि लेखक प्रमाद से सायण का भ्रंश ही रावण हो गया है। यह बात ठीक नहीं। एक तो रावण भाष्य सायण भाष्य से सर्वथा भिन्न है और दूसरे सूर्य पण्डित का निम्नलिखित लेख इस सन्देह को सदा के लिए दूर कर देता है। गीता ११।३३।। पर वह लिखता है—

सायनभाष्यकारैराधिदैविकाभिप्रायेण बाह्यसंग्रामविषयो दर्शितः। रावणभाष्ये तु अध्यात्म-रीत्याभ्यन्तरसंग्रामविषयो दर्शितः। वोटभाष्ये (?) तूभयमपि।

सूर्य पंडित का यह लेख ऋग्वेद ६।४६।१।। पर है। इस का अभिप्राय यह है कि सायण का अर्थ आधिदैविक है। रावण का अर्थ आध्यात्मिक है। वोट पद से उवट का नाम प्रकट होता है। यह मन्त्र यजुर्वेद २७।३७।। भी है। इसलिए सम्भव है सूर्य के मन में उवट का ध्यान हो।

यहां रावण और सायण दो भिन्न-भिन्न भाष्यकार माने गये हैं।

फिटज एडवर्ड हाल ने रावण का जो मन्त्र भाष्य एकत्र किया है, उस की तुलना मैंने अपने संग्रह से नीचे की है।

हाल	मुद्रित-गीता-टीका	गीता-स्थान
ऋ० १।२२।२०।।	१।२२।२०।।	५।२८।।
१।२२।२१।।	१।२२।२१।।	,,
१।१६४।२०।।	१।१६४।२०।।	८।४।।
३।८।४।।	नास्ति	
१०।७१।६।।	१०।७१।६।।	१०।११।
१०।७१।८।।	१०।७१।८।।	३।१८।।
१०।७१।६।।	१०।७१।६।।	३।१८।।
१०।७१।१०।।	१०।७१।१०।।[1]	६।३३।।
नास्ति	१०।८१।२।।	६।१०।।
१०।१०७।१।।	१०।१०७।१।।	१८।६८।।

१. यह रावण के नाम से शतश्लोक टीका में उद्धृत है।

१०।११४।३॥	१०।११४।३॥	७।१४॥
१०।११४।४॥	१०।११४।४॥	७।१४॥
नास्ति	१०।१२९।१॥	९।१०॥
नास्ति	१०।१२९।२॥	९।१०॥

इस प्रकार मुद्रित टीका में रावण के नाम से दिए हुए तीन ऐसे स्थान हैं, जो हाल के हस्तलेख में या तो निर्दिष्ट नहीं थे या उनकी दृष्टि से रह गए हैं। और एक स्थान वहां ऐसा था, जो मुद्रित टीका में निर्दिष्ट नहीं है।

रावण भाष्य के इन अंशों के पाठ से प्रतीत होता है कि रावण शाङ्करमतानुयायी वेदान्ती था। उसका भाष्य सरल और योग्यता से लिखा हुआ है। वह आत्मानन्द के पश्चात् हुआ होगा। आत्मानन्द का भाष्य उसी ढंग का है। अतः यदि आत्मानन्द को उस का पता होता तो अपने मत की पुष्टि के लिए उस का प्रमाण अवश्य देता।

किसी वेदान्त ग्रन्थ से रावण ने एक श्लोक उद्धृत किया है। यदि उस श्लोक का मूल स्थान ज्ञात हो जाए तो रावण के काल का कुछ निश्चय हो सकता है। वह श्लोक ऋग्वेद १०।११४।३॥ के भाष्य में है—

यथा स्वप्नमुहूर्ते स्यात् संवत्सरशतभ्रमः।
तथा मायाविलासोऽयं जायते जाग्रति भ्रमः॥

रावण कृत ऋग्वेद का पाठ—ऋग्वेद का प्राचीन पदपाठ शाकल्य कृत है। रावण ने ऋग्वेद का भाष्य ही नहीं रचा, प्रत्युत उसने ऋग्वेद का पदपाठ भी किया था। उस के पदपाठ के सप्तमाष्टक का एक हस्तलेख हमारे पुस्तकालय में है।[1] उस के अन्त में निम्नलिखित लेख है—

॥ इति सप्तमाष्टके ऽष्टमोऽध्यायः॥ इतिरावणकृतपदसप्तमाष्टकः समाप्तिमगात्॥ सप्तमाष्टकस्य वर्गा अष्टचत्वारिंशदुत्तरं शतद्वयं २४८ परिधाव्यब्दे १७२९ कुमंतौ शके १५९४ वर्षंतौ आषाढे मासि कृष्णपक्षे त्रयोदश्यां भृगुवासरे आर्द्रानिक्षत्रे हर्षणयोगे शर्वर्यां महाजनी भास्करज्येष्ठात्मजहरिणा लिखितं कर्कस्थयो रविबुधयोः सिंहस्थे गुरौ केतौ च मिथुनस्थे शुक्रे मीनस्थे मंदे कुंभस्थयो राहुमंगलयोर्मिथुनस्थे चंद्रमसि॥

यह हस्तलेख २५९ वर्ष पुराना है। इस से भी निश्चित होता है कि रावण ने वेद विषय में पर्याप्त परिश्रम किया था।

---

१. रावण का यह संवत् १७२९ का पदपाठ फरूखाबाद निवासी श्री पंडित केशव देव निर्मल के यहां सुरक्षित था। उसमें आठ अष्टक पूर्ण थे। इसी का सातवां अष्टक डी० ए० वी कालेज, लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में कुछ काल तक रहा। इसकी फोटो प्रतिलिपि के लिए, यह डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप जी को दिया गया था। यह फोटो प्रतिलिपि पाकिस्तान के पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर, में सुरक्षित होनी चाहिए। मूल प्रति डाक्टर स्वरूप द्वारा कहीं गुम हो गयी थी।

रावण कृत पद पाठ शाकल्य के पद पाठ से कुछ भिन्न है। ऋग्वेद १०।२७।२४॥ में—**मा स्मैतादृक्** का पदपाठ रावण ने **मा । अस्मै । तादृक् ।** पढ़ा है । यही पदपाठ उद्गीथ ने और यही दुर्ग ने निरुक्त ५।१६॥ के व्याख्यान में स्वीकार किया है।[1] रावण के पदपाठ को किसी शोधक ने पीछे से शाकल्यानुसारी बनाने की चेष्टा की है।

ऋग्वेद १०।१२९।१॥ में शाकल्य दो पद पढ़ता है—**कुह कस्य ।** इस के स्थान में रावण अपने भाष्य में लिखता है—**कुहकस्यैन्द्रजालिकस्य ।**

अर्थात्—रावण **कुहकस्य** एक पद मानता है। शतश्लोक में यही पाठ शङ्कर स्वयं मानता है। यथा **कुहकसलिलवत्**[2] वर्तमान ऋग्वेद संहिता के अनुसार स्वर की दृष्टि से शाकल्य का पदपाठ ही ठीक है, परन्तु सम्भव हो सकता है कि रावण की दृष्टि में कोई दूसरी शाखा रही हो। यह बात ध्यान से देखने योग्य है कि भिन्न-भिन्न शाखाओं में स्वर कितना बदला है।

एक रावण ने एक पदरत्न लिखा है। इसी को एकाक्षरीबैठ भी कहते हैं। इसका एक ग्रन्थ हमारे पास है। यह अड्यार की प्रतिलिपि है।[3]

हमारे मित्र श्री राम अनन्तकृष्ण शास्त्री अपने २९ सितम्बर १९३१ के पत्र में लिखते हैं कि उनकी तीस वर्ष की पुरानी डायरी में यह लिखा है कि रावणाचार्य चतुर्थ शताब्दी ईसा का ग्रन्थकार है। इस के लिए उनके पास क्या प्रमाण है, यह हम नहीं कह सकते। रावण भाष्य ढूंढने के लिए पूर्ण यत्न होना चाहिए।

रावण भाष्य के उपलब्ध उदाहरण निम्न हैं—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥
१०।१२९।१॥

अथैतस्य प्रश्नोत्तरस्य प्रतिपादिकां श्रुतिमाह नासद् इति । अनया सृष्टेः प्राङ् निरस्तसमस्तप्रपञ्चलयावस्था निरूप्यते । प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तदसच्छशविषाणवन्नीरूपाख्यं नासीत् । नहि तादृशात्कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः सम्भवति । तथा नो सदासीत् । परमार्थसतः परमात्मनोऽन्यत्सदस्तीत्युच्यमाने द्वैतत्वप्रसङ्गः । नापि व्यवहारसत् । अग्रे व्यवहाराभावस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तस्मादुभयविलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीदित्यर्थः । अथ व्यावहारिकसत्वं निषेधति—तदानीमिति । 'लोका रजांस्युच्यन्ते'' इति यास्कः । अत्रः सामान्यापेक्षमेकवचनम् । एवं व्यवहारसत्ता पृथिव्यादीनामभावादित्यर्थः तथा व्योमान्तरिक्षं तदपि नासीत् । पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते । व्योम्नः परस्ताद्द्युलोकप्रभृतिसत्यलोकान्तं यदस्ति तदपि नासीदित्यर्थः । अनेन ब्रह्माण्डमपि निषिद्धं भवति । यत

१. देखें, ऊपर पृष्ठ ४२ ।

२. श्लोक. २३ ।

३. पृ० २९३ अथवा संख्या २५७, कैटलाग आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल ।

एतद्भासमानं भूतजातं पूर्वं नासीत् । किन्तु शुक्तिकारजतवन्मध्ये एवोत्पन्नमिति श्रुत्या निरूपितम् । नत्वासीदिति धातोस्तदानीमित्यव्ययस्य च भूतकालवाचित्वाद् व्योमादीनामसम्भवेपि किञ्चित्काल आसीदिति चेन्न । "आनीदवातम्" इति श्रुत्या तस्यापि निषेधात् । अतः सकलमपि दृश्यजातं प्राङ्निरूपितसदसद्विलक्षणोपादानकं प्रातिभासिकमिति पर्यवसन्नम् । अथैतस्य ज्ञानैकनाश्यत्वेन प्रातिभासिकत्वं दृढ़ीकुर्वन्नाह— 'किमावरीव' इति । प्रागुक्तं दृश्यजातं शर्मन्निति शर्मण्यबाधिते ब्रह्मणि किमावरीवः किमावरकं भवति वा नेत्यर्थः । अनेन यत्सदसद्विलक्षणमासीत्तत्स्वाश्रयाव्यामोहकमित्युक्तम् । यथा कुहकस्यैन्द्रजालिकस्य गहनं गम्भीरमक्षोभ्यमम्भस्तेन मायया रचितमम्भोमध्य एवोत्पन्नं सत्कुहकस्यावरकं भवति वा नेत्यर्थः ।

अर्थात्—इस प्रश्नोत्तर की प्रतिपादक 'नासद्' यह श्रुति प्रमाण है। इस में सृष्टि के पूर्व की समस्त प्रपञ्चों से हीन प्रलयावस्था का निरूपण किया गया है। प्रश्न होता है कि क्या प्रलयावस्था में स्थित इस भावरूप जगत् का मूल कारण असत्, जो शशशृंग के सदृश अत्यन्ताभाव रूप है, वह था ? अथवा सर्वास्था में विद्यमान परमात्मा से पृथक् कोई सत् था ? या व्यवहार दशा में सद् रूप कोई वस्तु थी ? । उत्तर–अभाव भाव का कारण नहीं हो सकता और न ही परमात्मा से भिन्न कोई दूसरी सद्वस्तु ही हो सकती है। क्योंकि परमात्मा को अद्वैत कहा गया है। इस की सत्ता में परमात्मा अद्वैत नहीं रहता। तथा व्यवहार दशा में भी कोई सद्वस्तु कारण नहीं हो सकती है। कारण आगे जाकर व्यवहार दशा को भी अभाव ही कहा जाएगा। इसलिए अब यह समझना चाहिए कि प्रलयास्वथा में जगत् का मूल कारण असत् अथवा सत् से विलक्षण अवर्ण्य कोई तीसरा ही कारण था। 'तदानी' इस से व्यवहार दशा में सद् वस्तु का खण्डन है। उस समय न तो पृथिवी थी, न अन्तरिक्ष था, और न ही द्युलोक। फलतः यह सार ब्रह्माण्ड ही न था। हां सिप्पी में रजत की भांति श्रुति में उत्पत्ति जरूर कही गई है। भूतकालिक 'आसीत्' क्रिया से और वर्तमानकाल बोधक 'तदानी' अव्ययपद से काल की सत्ता अवश्य सिद्ध होती है। तो काल ही कारण क्यों न माना जाय। इस का उत्तर 'आनीदवातम्' श्रुति से मिल जाता है। तात्पर्य, उक्त सदसद् वाद से विलक्षण आभासरूप कोई तीसरा ही कारण चराचर जगत् का उपादान कारण है। पहले यह कहा गया कि जगत् का कारण प्रतिभास है परन्तु आभास अज्ञानजन्य होता है। और ज्ञान पर परदा पड़े बिना अज्ञान नहीं हो सकता। अतः हम पूछते हैं कि क्या यह सकल जगत् ब्रह्म में किसी आवरण में छिपा था, या नहीं ? इस से तो यह सिद्ध होता है कि जैसे ऐन्द्रजालिक अपनी झूठी माया से पानी उत्पन्न कर के उस से छिप सा जाता है परन्तु वह उसका यथार्थ आवरण नहीं कहा जाता, इसी तरह यह आभास भी अपने आश्रय ब्रह्म का सन्देहजनक है।

१३. मुद्गल—संवत् १४७०-१४७९

फिटज एडवर्ड हाल के जिस पत्र का उल्लेख पृ० ७४ पर किया गया है, उसी पत्र में हाल महाशय ने मैक्समूलर को मुद्गल के ऋग्भाष्य का पता दिया था। मुद्गल के भाष्य के जिस कोश का वर्णन डा० हाल ने किया है, वह अब इण्डिया आफिस में है। एक प्रति मैसूर के राजकीय प्राच्य भण्डार में है।[1] यह प्रथमाष्टक तक ही है। तीसरी प्रति चतुर्थाष्टक के लगभग पांचवें अध्याय तक की हमारे

१. संख्या ४६५०।

पुस्तकालय में है।[१] इण्डिया आफिस की प्रति ॥ **संवत् १४७-॥** की है। ७ के अगले अङ्क न होने से इस का ठीक काल नहीं जाना जा सकता। अतः हमने संवत् १४७०-१४७९ ही इसके लिखे जाने का काल मानकर वही काल मुद्गल का मान लिया है।

मुद्गल द्वारा सायण भाष्य का संक्षेप—हाल और मैक्समूलर का कथन है कि मुद्गल सायण भाष्य का संक्षेप करता है। मुद्गल भाष्य में व्याकरण संबन्धी सारा व्याख्यान छोड़ दिया गया है। यह बात सर्वथा सत्य है। मुद्गल अपने भाष्यारम्भ में स्वयं इस बात को मानता है—

आलोच्य पूर्वभाष्यं च बह्वृचस्य समन्ततः।
गहनं मन्यमानेन सुबोधेन समुद्धृतम् ॥
नवनीतं यथा क्षीरात् सिकतायाश्च काञ्चनम्।
तथा समुद्धृतं सारं प्राणिनां बोधसिद्धये ॥
मौद्गल्यगोत्रेण च मुद्गलेन ह्यात्मानुभूतेन सुसंकृतेन।
यथार्थभूतेन सुसाधकेन समुद्धृतं सारमिमं वरिष्ठम् ॥

अर्थात् ऋग्वेद के भाष्य को अच्छे प्रकार देखकर, और उसे कठिन समझ कर मौद्गल्य गोत्र वाले मुद्गल ने यह सुन्दर सार निकाला है। जैसे दूध से मक्खन निकाला जाता है, वैसे ही यह है, इत्यादि। यह भाष्य सायण का ही संक्षेप है, अतः इसके विषय में अधिक नहीं लिखा जाता।

सायण भाष्य के सम्पादन में मैक्समूलर ने इससे बड़ी सहायता ली थी। सायणभाष्य के भावी सम्पादकों को भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

मुद्गल भाष्य—**पञ्चमे मण्डले त्वामग्ने हविष्मन्त इति सप्तर्चं नवमं सूक्तम्। आत्रेय ऋषिः। सप्तमीपञ्चम्यौ पङ्क्ती। शिष्टा अनुष्टुभः। अग्निर्देवता।**

त्वामग्न हविष्मन्तो देवं मर्तास ईळते।
मन्ये त्वा जातवेदसं स हव्या वक्ष्यानुषक् ॥ ५।९।१॥

हे अग्ने त्वां देवं दीप्यमानं हविष्यन्तो **होमद्रव्यसमेता मर्तासो मर्त्या ईलते स्तुवन्ति। अहं च जातवेदसं** जातं वेदो धनं **यस्यासौ जातवेदाः तमेवंविधं त्वा त्वां मन्ये स्तौमि। स त्वं हव्यवाहन-साधनानि। हवींषि आनुषक् निरन्तरतयाऽऽनुषक्तं यथा तथा वक्षि वहसि।**[२]

अर्थात्—यह वेदान्तर्गत पांचवें मण्डल का सात ऋचाओं का नवम सूक्त है। इसका ऋषि आत्रेय, पांचवीं सातवीं ऋचाओं का छन्द पंक्ति और शेष का अनुष्टुप और अग्नि देवता है।

हे अग्ने यह यजमान लोग हवन-सामग्री लिए दीप्ति गुण वाले आपकी स्तुति करते हैं। परन्तु मैं धन बल युक्त की स्तुति करता हूं। वह देवताओं के लिए सदा हवियां ले जाया करते हैं।

---

१. संख्या ५५५७।
२. ऋ० अष्टक ४ पत्र १ख।

१४. चतुर्वेदस्वामी—सोलहवीं शताब्दी विक्रम का पूर्वार्ध

जैसा पृ० ७५ पर लिखा गया है, चतुर्वेदस्वामी सूर्य पण्डित का गुरु था। इस का रचा खण्ड-खाद्यक विवरण जम्मू में है। उसमें इस का अधिक वृत्त होगा।[1] सूर्य पंडित का संक्षिप्त वर्णन पृ० ७५-७६ तक कर दिया गया है। सूर्य पंडित के गीता भाष्य के आरम्भ के पाठ से अनुमान होता है कि चतुर्वेद स्वामी ने भी ऋग्वेद पर या कुछ आर्चश्रुतियों पर भाष्य किया था। बड़ोदा संग्रह में ऐसा पाठ मिलता है—**भट्ट मधुसूदनसुतचतुर्वेदपृथूदथकस्वामिकृते।**

उसका भाष्य साम्प्रदायिक शैली का कैसा ज्वलन्त प्रमाण है, यह अगली पंक्तियों से दृष्टिगत होगा—

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभिपौंस्यं रणम्।
अवृश्चदद्रिमिव सस्यदः सृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम्॥[2]

अत्र चतुर्वेदस्वामिकृतभाष्यम्। यः परमेश्वरो **जज्ञानः** प्रादुर्भूतमात्रो मायया बालदशां स्वीकुर्वाणोऽपि सन् **स्पृधः** स्पर्धां कृतवतः शत्रून् पूतनादीन् कंसान्तान् **व्यबाधत** बाधितवान्। न केवलं दैत्यान् अपितु शक्रादीनां गर्वमपीत्याह। यो **अद्रिं** पर्वतं गोवर्धनम् **अवृश्चत्** उद्दधार। किमुदिश्य। **सस्यदो** धान्यदातॄन् मेघाननवरतं वर्षमाणान् **अवसृजत** विसर्जितवान्। तेन **पृथुं** सामर्थ्यवन्तं **नाकम्** इन्द्रलोकम् **स्वपस्यया** मायया **अस्तभ्नात्** स्तम्भितवान् स्तम्भितशक्तिमकरोत्। अथ यौवनदशायामपि **अभिपौंस्यं** सर्वपुरुपार्थसाधकं **रणं** कुरुपाण्डवसंग्रामं **वीरो** ऽपि सन् **अपश्यत्** ताटस्थ्येन दृष्टवान् न तु स्वयं युयुधे।[3]

अर्थात्—उत्पन्न होते हुए ही बालक कृष्ण ने युद्ध में पूतनादि से कंस तक शत्रुओं को मारा, और गोवर्धन पर्वत को उठाया। धान्य देने वाले मेघों की निरन्तर वर्षा को बन्द किया। उसने सामर्थ्यवान् इन्द्रलोक को अपनी माया से स्तम्भित कर दिया। युवावस्था में भी सब पुरुषार्थों के सिद्ध करने वाले कौरव पाण्डवों के युद्ध को वीर होते हुए भी तटस्थ भाव से देखता रहा। स्वयं युद्ध नहीं किया।

कैसा विचित्र अर्थ है? श्रीकृष्ण की अटूट श्रद्धा में निमग्न आचार्य को ऐसा अर्थ करके असीम प्रसन्नता हुई होगी वह चित्त में विचारता होगा कि देखो हमने इस ऋचा का कैसा सुन्दर अर्थ लगाया। आज तक किसी दूसरे आचार्य को यह नहीं सूझा। अस्तु, हम ने तो साम्प्रदायिक भाव दिखाने के लिए ही इस मन्त्र का भाष्य यहां उद्धृत किया है।

१५. भरत स्वामी—लगभग १४वीं शती विक्रम

भरत स्वामी सामवेदादि ग्रन्थों का प्रसिद्ध भाष्यकार है। इसके पिता का नाम नारायण और माता का नाम यज्ञदा था। अपने सामवेद भाष्य की भूमिका में वह लिखता है—

होसलाधीश्वरे पृथ्वीं रामनाथे प्रशासति।
व्याख्या क्रियतेऽयं क्षेमेण श्रीरङ्गे वसता मया॥

---

१. भट्ट मधुसूदन सुत चतुर्वेद स्वामीकृते। यह इस हस्त लिखित ग्रन्थ के अन्त में लिखा है।
२. १०।११३।४॥ ऋग्वेद।

अर्थात् होसलाधीश्वर रामनाथ के राजत्व काल में श्रीरङ्गपटनम में निवास करते हुए मैंने यह व्याख्या की है। भाष्य के अन्त में भरत स्वामी लिखता है—

इत्थं श्रीभरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासुतः ॥
नारायणार्यतनयो व्याख्यात्सम्नामृचोखिलाः ॥[1]

अर्थात् नारायण और यज्ञदा के पुत्र कश्यपगोत्री श्री भरत स्वामी ने साम की सम्पूर्ण ऋचाओं का व्याख्यान किया। इस के ब्राह्मण भाष्य का एक हस्तलेख अलवर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसके अन्त में लिखा है—**इति सामविधाने आचार्य भरतस्वामीकृतौ पदार्थमात्रविकृतौ तृतीयोऽगात् प्रपाठक इति सामविधानभाष्यं समाप्तम्।** होसलराज राम का काल बर्नेल के कथानानुसार १२७३—१३१० है।

भरत स्वामी कृत ऋग्भाष्य—सायण अपने ऋग्भाष्य ६।१।१३।। में लिखता है—

अत्र भरत स्वामी वसुताते इत्येकं पदं सप्तम्यन्तं चकार

यह सामवेद में नहीं है। भरतस्वामी ऐतरेय ब्राह्मण को बहुधा उद्धृत करता है। अतः भरतस्वामी कृत ऋग्वेद भाष्य कदाचित् था।

१६. वरदराज

वरदराज कृत ऋग्वेदभाष्य का एक हस्तलेख मिलता है।[1]

१७. देव स्वामी

संपदां सदनं स्वर्गं जयत्युज्जयिनीपुरी ॥
पुण्यसेनाभिधानस्य तस्यामासीन्महीपतेः ॥
ब्राह्मणः सेवको धीमान् हरिस्वामीति विश्रुतं ।
देवस्वामी सुतस्तस्य बभूव श्रुतिपारगः ॥[2]

हरि स्वामी सुत देव स्वामी कथासरित्सागर में उद्धृत है।[3] किसी देव स्वामी को वराहमिहिर अपने होरा शास्त्र में उद्धृत करता है। आयुर्दा शास्त्र विष्णुगुप्त, देव स्वामी, और सिद्धसेन ने बनाया था।

हमारे मित्र श्री राम अनन्तकृष्ण शास्त्री ने मुझ से स्वयं कहा था कि उन्होंने एक स्थान पर देव स्वामी के ऋग्वेद भाष्य का कोई अंश देखा है। अपने पत्रों में भी उन्होंने यही बात मुझे लिखी थी। उनके कथन से मेरा विचार होता था कि ऐसा सम्भव हो सकता है। देवस्वामी ने ऋग्वेद पर भाष्य किया, इस अनुमान को निम्नलिखित बातें पुष्ट करती हैं।

---

१. पृ० १२४, भाग १, ग्रन्थाङ्क १४०७, संस्कृत मैनुस्क्रिप्टस प्राईवेट लाइब्रेरी, साऊथ इण्डिया।
२. पृ० १३७, बृहत्कथामंजरी।
३. पृष्ठ ४१८, ४३५, कथासरित्सागर।

१. देवस्वामी ने आश्वलायन श्रौत और गृह्य पर अपने भाष्य रचे थे। इन दोनों भाष्यों के हस्त लेख अनेक पुस्तकालयों में मिलते हैं। इस से सम्भव प्रतीत होता है कि ऋग्वेदीय श्रौत आदि पर भाष्य करने वाले आचार्य ने ऋग्वेद पर भी अपना भाष्य किया हो।

२. महाभारत के दुष्कर श्लोकों पर विमल बोध ने टीका लिखी है। वह महाभारतस्थ अश्वि सम्बन्धी श्लोकों की टीका में लिखता है—

मया भोजजनमेजयाचार्यदेवस्वामिवेदनिघण्टुविभ्राडनुवाकार्थपर्यालोचनेनायमर्थः कृतः।

अर्थात् मैंने भोज, जनमेजय, देवस्वामी, वेद, निघण्टु और अनुवाक्, विभ्राट् अर्थात् ऋग्वेद १०।१७१॥ का अर्थ देखने से यह अर्थ किया है।

देवस्वामी ने महाभारत पर टीका लिखी हो, ऐसा कोई साक्ष्य अभी तक हमारे देखने में नहीं आया। इससे प्रतीत होता है कि विमल बोध का अभिप्राय देव स्वामी के ऋग्वेद भाष्य से ही हो सकता है।

देव स्वामी का काल—प्रपञ्चहृदय के दर्शन प्रकरण में लिखा है कि आचार्य देवस्वामी ने सम्पूर्ण मीमांसा पर उपवर्ष भाष्य के संक्षेप रूप में अपना भाष्य रचा था। यह भाष्य शबर स्वामी के भाष्य का आधार बना। यही देव स्वामी यदि ऋग्वेद भाष्यकार देव स्वामी है, तो इसका काल विक्रम से कुछ पूर्व का ही होगा।

मनुस्मृति पर कदाचित् देव स्वामी कृत मीमांसा भी थी।

१८. भट्टभास्कर

आपर्ट अपने सूचीपत्र भाग २, पृ० ५११ पर भट्ट भास्कर के ऋग्वेद भाष्य का पता देता है। भट्ट भास्कर कृत ऐतरेय ब्राह्मण भाष्य का एक हस्तलेख हमारे पुस्तकालय में है। अतः सम्भव हो सकता है कि ऐतरेय ब्राह्मण पर भाष्य करने वाले भट्ट भास्कर ने ऋग्वेद पर भी अपना भाष्य किया हो।

१९. उवट—संवत् ११०० के लगभग

डा० राज पाञ्चवीं ओरिएण्टल कान्फ्रेंस के लेख में पृ० २६१ पर लिखते हैं कि "निघण्टु ३।४।११॥ पर देवराज उवट से एक पंक्ति उद्धृत करता है! वह पंक्ति अमात्य पद सम्बन्धी है। अमात्य शब्द यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता में एक बार ही आया है। वहां उवट के भाष्य में देवराजोद्धृत पंक्ति का कोई चिन्ह नहीं है। अमात्य शब्द ऋग्वेद ७।१५।३॥ में भी है। अतः सम्भव हो सकता है कि देवराजोद्धृत पंक्ति उवट के ऋग्भाष्य में हो।"

उवट का ऋग्वेद पर कोई भाष्य था, उसे सिद्ध करने के लिए डा० राज का यह लेख अपर्याप्त ही है। देवराजोद्धृत उवट की पंक्ति उस के याजुष भाष्य ३।३२॥ में मिलती है। अतः उवट ने ऋग्वेद भाष्य किया, इस के लिए कोई अन्य प्रमाण खोजना चाहिए।

कात्यायनकृत ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी पर किसी उवट का एक भाष्य दयानन्द कालेज के

पुस्तकालय में है । वह भाष्य बड़ी योग्यता से लिखा गया है। एक प्रति नासिक में है, ऐसा हमें श्रीधर शास्त्री वारे ने कहा था। उवट ने ऋक्प्रातिशाख्य पर भी भाष्य लिखा था। अतः सम्भव हो सकता है कि उसने ऋग्वेद पर भाष्य किया हो।

२०. हरदत्त

हरदत्ताचार्य ने आश्वलायन मन्त्रपाठ पर अपना भाष्य रचा था। उस के कोश मैसूर, मद्रास और त्रिवेन्द्रम में मिलते हैं। देवराज यज्वा उसे निघण्टु-भाष्य में कई स्थानों पर उद्धृत करता है। इसी हरदत्त ने निम्न ग्रन्थ रचे थे—

(१) एकाग्निकाण्ड व्याख्या।
(२) आपस्तम्बगृह्यसूत्र व्याख्या, अनाकुला।
(३) आपस्तम्बधर्मसूत्र व्याख्या, उज्ज्वला।
(४) आश्वलायनगृह्यसूत्र व्याख्या, अनाविला।
(५) गौतमधर्मसूत्र व्याख्या, मिताक्षरा।

हरदत्त के भाष्य का एक नमूना उस के आश्वलायनगृह्य सूत्र १।१।५॥ की व्याख्या में से नीचे दिया जाता है।

अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः।
घृतात्स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥[१]

स्तुतिलक्षणां गां वाचं यो न निरुणद्धि तस्मै **अगोरुधाय**। **गविषे** गामिच्छते **द्युक्षाय** द्युःस्थानाय **दस्म्यम्** अनुरूपं स्तुतिलक्षणं **वचः**। **घृतात् मधुनश्च स्वादीयः** स्वादुतरं दर्शनीयं **वोचत** ब्रूत हे मदीया ऋत्विजः पुत्रपौत्रा वा।

अर्थात् स्तुतिरूपी वाणी को न रोकने वाले के लिए, गौ को चाहने वाले के लिए, द्युस्थानी के लिए, हे मेरे ऋत्वजो अथवा पुत्रपौत्रो. घृत और मधु से भी अधिक मीठी स्तुति रूप वाणी को बोलो।

हरदत्त का आश्वलायन-मंत्र-भाष्य शीघ्र मुद्रित होना चाहिए। इसकी मृत्यु सन् ८७८ में हुई थी।[२]

२१. सुदर्शन सूरि से उद्धृत बह्वृच संहिताभाष्य

सुदर्शनसूरि अपरनाम वेदव्यास ने सन्ध्यावन्दनमन्त्रभाष्य नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें सन्ध्या मन्त्रों की सुन्दर व्याख्या है। उस के पृ० ९ पर यह लिखा है—

यथा—काममूता इति बह्वृचसंहितायाम्। तत्र या कामेन मूर्छिता सा काममूता। इति भाष्यम्।

---

१. ८।२४।२०॥ ऋग्वेद।
२. पृ० २२६, तीसरी ओरिएण्टल कान्फ्रेंस।

काममूता पद ऋग्वेद १०।१०।११।। में आता है। इस पर उद्गीथ, वेङ्कटमाधव और सायण के भाष्य निम्नलिखित हैं—

उद्गीथ—काममोहिता सती। कामेन बद्धा गृहीता वशीकृता सती।

वेङ्कट माधव—साहङ्कारमूर्छिता।

सायण—साहं काममूता कामेन मूर्छिता।

इन में से सायण की पंक्तियां सुदर्शन के उद्धृत भाष्य से मिलती हैं। परन्तु जहां तक हमें पता है, आचार्य सुदर्शन सायण से पहले हो चुका था। सुदर्शन ने ही रामानुज के वेदान्तसूत्र भाष्य पर श्रुतप्रकाशिका नाम की विद्वज्जनविस्मयोत्पादक टीका लिखी है। भावी विचारकों को अधिक सामग्री के मिलने पर यह ग्रन्थी सुलझानी चाहिए।

२२. दयानन्द सरस्वती—संवत् १८८१–१९४०

दयानन्द सरस्वती के साथ हम वैदिक भाष्यकारों के इतिहास के आधुनिक युग में प्रवेश करते हैं। वैदिक विद्या के लिए वह समय नितान्त अनुपयोगी था। इस युग में वैदिक ग्रन्थों का ह्रास हो रहा था। वेदाभ्यासियों की गणना अङ्गुलियों पर हो सकती थी। काशी सदृश विद्याक्षेत्र में वेदार्थ जानने वाला कठिनाई से मिलता था। वेदों की अनेक शाखाएं लुप्त हो चुकी थीं। जो विद्यमान थीं, वह भी सुलभ न थीं। राजकीय आश्रय का कोई अवसर न था। वह राज्य-सहायता जो सायण और हरिस्वामी आदि को प्राप्त थी, अब प्राचीन काल का स्वप्न हो चुकी थी। वे विद्वान् सहायक जो स्कन्दस्वामी और सायण आदि को अनायास मिल सकते थे, अब खोजने पर भी दृष्टिगत नहीं होते थे। ऐसी अवस्था में दयानन्द सरस्वती ने जन्म लिया।

काल—दयानन्द सरस्वती का जन्म संवत् १८८१ में हुआ।[1] उन की जन्म तिथि के विषय में उन के शिष्य कवि ज्वालादत्त का निम्नलिखित वचन है—

क्षोणीभाहीन्दुभिरभियुते वैक्रमे वत्सरे यः
प्रादुर्भूतो द्विजवरकुले दक्षिणे देशवर्ये।
मूलेनासौ जननविषये शङ्करेणापरेण-
ख्यातिं प्रापत् प्रथमवयसि प्रीतिदः सज्जनानाम् ॥१॥[2]

अर्थात्—संवत् १८८१ में श्रेष्ठ दक्षिण देश के एक ब्राह्मणकुल में दयानन्द सरस्वती का जन्म हुआ, उन का पहिली आयु का नाम मूलशंकर था।[3]

१. संवत् १९८१ की दयानन्दसरस्वती-जन्म-शताब्दी उत्सव के अवसर पर एक महाशय ने हमसे कहा था कि दयानन्द सरस्वती की जन्म तिथि आश्विन वदी ७ थी। यह तिथि मेरठ निवासी बाबू जैशीराम को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वयं बताई थी।

२. फर्रुखाबाद निवासी पं० गणेशदत्त कृत श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की कुछ दिनचर्या के अन्त में दूसरी बार की छपी, सन् १८८७।

३. बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का मत है कि उनका जन्म नाम मूलजी था।

अध्ययन—दयानन्द सरस्वती औदीच्य ब्राह्मण थे। सामवेदी होने पर भी उन्होंने रुद्राध्याय का पाठ करके यजुर्वेद पढ़ा था। मथुरा में एक संन्यासी सत्पुरुष विरजानन्द स्वामी रहते थे। वे व्याकरण के अद्वितीय विद्वान् थे। उन से संवत् १९१७-१९१९ तक दयानन्द सरस्वती ने व्याकरण आदि शास्त्र पढ़े। उनके मृत्यु-पर्यन्त दयानन्द सरस्वती उन से अपनी शंकाओं का समाधान कर लेते थे। उनका देहान्त संवत् १९२५ में हुआ। उनके योग्य शिष्य पं० उदयप्रकाश के पुत्र पं० मुकुन्ददेव ने विरजानन्द स्वामी के मृत्यु-दिन निम्नलिखित श्लोक कहा था। यह श्लोक २८ दिसम्बर सन् १९१९ को मथुरा उन्होंने स्वयं मुझे लिखाया था—

इषुनयननवक्ष्माहायने वैक्रमार्के
सुरनुतपितृपक्षे कामतिथ्यां मृगांके।
सकलनिगमवेत्ता दण्ड्युपाख्यः सुधीन्द्रः
समगत सुरलोके देवराजेन साकम्॥

अर्थात्—विक्रम संवत् १९२५, मास आश्विन, वदी १३, सोमवार को विरजानन्द उपनाम दण्डी स्वामी का देहान्त हुआ।

दयानन्द सरस्वती के विषय में रुडल्फ हार्नले का लेख

सन् १८७० मास मार्च के क्रिश्चियन इण्टैलीजैन्सर में प्रो० रुडल्फ हार्नले ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में एक लेख लिखा था। उस के कतिपय वाक्य नीचे लिखे जाते हैं—

He is well versed in the Vedas, execepting the fourth or Atharva Veda, which he had read only in fragments, and which he saw for the first time in full when I lent him my own complete Ms. copy...........he is an independent student of the Vedas, and free from the trammels of traditional interpretation. The standard commentary of the famous Sayanacharya is held of little account by him.

अर्थात्—दयानन्द सरस्वती का अथर्ववेद को छोड़ कर शेष वेदों में अच्छा अभ्यास है। उसने अथर्ववेद के कुछ भाग ही पढ़े हुए थे। सम्पूर्ण अथर्ववेद उसने पहली बार तभी देखा, जब मैंने अपना हस्तलेख उसे दिया। वह वेदों को स्वतन्त्र रूप से पढ़ता है और परम्परागत (मध्यम कालीन) पद्धति की उपेक्षा नहीं करता है। प्रसिद्ध सायणाचार्य का भाष्य उस की दृष्टि में किसी काम का नहीं है।

संवत १९३३ में दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद का भाष्य करना आरम्भ किया। वेदभाष्य-प्रचारार्थ विज्ञापनपत्र में वह स्वयं लिखते हैं—

इदं वेदभाष्यं संस्कृतार्यभाषाभ्यां भूषितं क्रियते।
कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले।
प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया॥

तदिदमिदानीं पर्यन्तं दशसहस्रश्लोकप्रमितं तु सिद्धं जातम्। तच्चेदं प्रत्यहमग्रेऽग्रे न्यूनान्न्यूनं पञ्चाशच्छ्लोकप्रमितं नवीनं रच्यत एवमधिकादधिकं शतश्लोकप्रमाणं च।[1]

अर्थात् यह भाष्य संस्कृत और आर्यभाषा जो कि काशी प्रयाग आदि मध्यदेश की है, इन दोनों भाषाओं में बनाया जाता है। इस में संस्कृत भाषा भी सुगम रीति की लिखी जाती है और वैसी आर्य-भाषा भी सुगम लिखी जाती है। संस्कृत ऐसी सरल है कि साधारण संस्कृत पढ़ने वाला भी वेदों का अर्थ समझ ले। तथा भाषा का पढ़ने वाला भी सहज समझ लेगा। संवत् १९३३ भाद्र मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन इस भाष्य का आरम्भ किया है। संवत १९३३ मार्गशिर शुक्ल पौर्णमासी पर्यन्त दश हजार श्लोकों के प्रमाण भाष्य बन गया है। कम से कम ५० श्लोक और अधिक से अधिक १०० श्लोक पर्य्यन्त प्रति दिन भाष्य को रचते जाते हैं।[2]

पुनः उसी विज्ञापन में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के सम्बन्ध में लिखा है—

"भूमिका के श्लोक न्यून से न्यून संस्कृत और आर्यभाषा के मिलकर आठ हजार हुए हैं। इस में सब विषय विस्तार पूर्वक लिखे हैं।"

ऋग्वेदभाष्य का नमूना संवत् १९३३ में छप गया था।

भूमिका संवत् १९३४ में मुद्रित होनी आरम्भ हुई थी और संवत् १९३५ में मुद्रित हो गई थी। वेदभाष्य की रचना संवत् १९३३ में आरम्भ हो गई थी। उसके विषय में ऋग्वेद-भाष्य के आरम्भ में लिखा है—

विद्यानन्दं समवति चतुर्वेदसंस्तावना या
संपूर्येशं निगमनिलयं संप्रणम्याथ कुर्वे।
वेदत्र्यङ्के विधुयुतसरे मार्गशुक्लेऽङ्गभौमे
ऋग्वेदस्याखिलगुणगुणिज्ञानदातॄहि भाष्यम्॥

अर्थात् जो चारों वेदों की प्रस्तावना विद्यानन्द को देती है, उसे समाप्त कर के वेद के निलय परमेश्वर को नमस्कार करके संवत् १९३४, मार्गशुक्ल ६, मंगलवार के दिन सम्पूर्ण गुण-गुणी के ज्ञान को देने वाले ऋग्वेद-भाष्य का आरम्भ करता हूं।

यह वेदभाष्य मुद्रित होकर मासिक अङ्कों में निकला करता था। इसका प्रथमाङ्क संवत् १९३५ में छप गया था। दयानन्द सरस्वती का देहावसान संवत् १९४० की दीपमाला के दिन हुआ था। उस के पश्चात् भी यह वेद-भाष्य मुद्रित होता रहा। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद ७।६१।२।। तक यह भाष्य किया है।

दयानन्द सरस्वती का ऋग्भाष्य—दयानन्द सरस्वती की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उनकी असाधारण योग्यता का जीवित प्रमाण है। वेद का अभ्यास करने वाले दयानन्द सरस्वती के विचार से

१. पृ० ५६, भगवद्दत्त सम्पादित, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग।
२. पृ० ५८, वही।

कितने ही असहमत हों, परन्तु भूमिका का पाठ करके वह एक वार मुक्त कण्ठ से उनकी प्रशंसा करने लगते हैं। मैक्समूलर लिखता है—

"We may divide the whole of Sanskrit literature, beginning with the Rig-Veda and ending with Dayananda's Introduction to his edition of the Rig-Veda, his by no means uninteresting Rig-Veda-Bhumika, into two great periods."[1]

अर्थात् संस्कृत वाङ्मय का आरम्भ ऋग्वेद से है और अन्त दयानन्द सरस्वती की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पर। यह भूमिका किसी प्रकार भी अरुचिकर नहीं।

वेदभाष्यभूमिका और वेदभाष्य में दयानन्द सरस्वती का मुख्य वल इस वात पर है कि वेदों में एकेश्वर उपासना है। नैरुक्तों के तीन देवताओं की पूजा का,[2] याज्ञिकों के तेतीस देवताओं की स्तुति का[2] और पाश्चात्य लोगों की अग्नि आदि जड़ पदार्थों की आराधना का वेद में विधान नहीं है। वेद में अग्नि आदि नामों से शुद्ध रूप से परमात्मा का वर्णन है। वेदमन्त्रों की औपनिषदी व्याख्या दयानन्द सरस्वती के पक्ष की परम सहायक है।

इस विषय में अनुभवी योगी, वीतराग श्री अरविन्द घोष का लेख पढ़ने योग्य है। वह नीचे दिया जाता है—

It is objected to the sense Dayananda gave to the Veda that it is no true sense but an arbitrary fabrication of imaginative learning and ingenuity, to his method that it is fantastic and unacceptable to the critical reason, to his teaching of a revealed Scripture that the very idea is a rejected superstition impossible for any enlightened mind to admit or to announce sincerely.

I shall only sate the broad principles underlyiug his thought about the Veda as they present themselves to me.

To start with the negation of his work by his critics, in whose mouth does it lie to accuse Dayananda's dealing with the Veda of a fantastic or arbitrary ingenuity? Not in the mouth of those who accept Sayana's traditional interpretation. For if ever there was a monument of arbitrarily erudite ingenuity, of great learning divorced, as great learning too often is, from sound judgment and sure taste and a faithful critical and comparative observation, from direct see ng and often even from

१. India What Can It Teach Us, Lecture III.

२. नैरुक्त और ब्राह्मणों के प्रवक्ता ब्रह्म के उपासक थे, परन्तु उन ग्रन्थों का जो संकुचित अर्थ अब समझा जाता है, हमारा संकेत उसी की ओर है।

plainest common sense or of a constant fitting of the text into the Procrushean bed of preconceived theory, it is surely this commentary, otherwise so imposing, so useful as first crude material, so erudite and laborious, left to us by the Acharya Sayana. Nor does the reproach lie in the mouth of those who take as final the recent labours of European scholarship. For if ever there was a toil of interpretation in which the loosest vein has been given to an ingenious speculation, in which doubtful indications have been snatched at as certain proofs, in which the boldest conclusions have been insisted upon with the scantiest justification, the most enormous difficulties ignored and preconceived prejudice maintained in face of the clear and often admitted suggestions of the text, it is surely this labour, so eminently respectable otherwise for its industry, good will and power of research, performed through a long century by European Vedic scholarship.

What is the main positive issue in this matter ? An interpretation of Veda must stand or fall by its central conception of the Vedic religion and the amount of support given to it by the intrinsic evidence of the Veda itself. Here Dayananda's view is quite clear, its foundation inexpugnable. The Vedic hymns are chanted to the One deity under many names, names which are used and even designed to express His qualities and powers. Was this conception of Dayananda's arbitrary conceit fetched out of his own too ingenious imagination ? Not at all; it is the explicit statement of the Veda itself ; "One existent, sages" not the ignorant, mind you, but seers, the men of knowledge,—"speak of in many ways, as Indra, as Yama, as Matarisvan, as Agni." The Vedic Rishis ought surely to have known something about their own religion, more, let us hope than Roth or Max Mueller, and this is what they knew.

We are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn, they say, was a late production, this loftier idea which it expresses with so clear a force rose up somehow in the later Aryan mind or was borrowed by those ignorant fire-worshipers, sun-worshipers, sky-worshipers from their cultured and philosophic Dravidian enemies. But throughout the Veda we have confirmatory hymns and expressions : Agni or Indra or another is expressly hymned as one with all the other gods. Agni contains all other divine powers within himself, the Maruts are described as all the gods, one deity is addressed by the names of others as well

as his own, or, most commonly, he is given as Lord and King of the universe, attributes only appropriate to the Supreme Deity. Ah, but that cannot mean, ought not to mean, must not mean the worship of One; let us invent a new word, call it henotheism and suppose that the Rishis did not really believe Indra or Agni to be the Supreme Deity but treated any god or every god as such for the nonce, perhaps that he might feel the more flattered and lend a more gracious ear for so hyperbolic a compliment ! But why should not the foundation of Vedic thought be natural monotheism rather than this new fangled monstrosity of henotheism ? Well, because primitive barbarians could not possibly have risen to such high conception and if you allow them to have so risen you imperil our theory of evolutionary stages of the human development and you destroy our whole idea about the sense of the Vedic hymns and their place in the history of mankind. Truth must hide herself, common sense disappear from the field so that a theory may flourish ! I ask, in this point, and it is the fundamental point, who deals most straightforwardly with the text, Dayananda or the Western scholars ?

But if this fundamental point of Dayananda is granted, if the character given by the Vedic Rishis themselves to their gods is admitted, we are bound, whenever the hymns speak of Agni or another, to see behind that name present always to the thought of Rishis, the one Supreme Deity or else one of His powers with its attendant qualities or workings. Immediately the whole character of the Veda is fixed in the sense Dayananda gave to it; the merely ritual, mythological, polytheistic interpretation of Sayana collapses, the merely meteorological and naturalistic European interpretation collapses. We have instead a real scripture, one of the world's sacred books and the divine word of a lofty and noble religion.

अर्थात्[१] दयानन्द के वेदभाष्य के सम्बन्ध में अनेक शंकाएं की जाती हैं।......मैं दयानन्द के वेद-भाष्य के आधाररूप उन प्रसिद्ध नियमों का उल्लेख करूंगा, जो मुझे समझ आए हैं।

सायण-भाष्य को ठीक समझने वाले व्यक्ति दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। महाविद्वान् सायण का भाष्य ऊपर से महत्व वाला दिखाई देता हुआ भी वेद का यथार्थ और सीधा अर्थ नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् भी दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। उनका परिश्रम, शुभेच्छा, अनुसन्धान शक्ति से एक शताब्दी में किया गया अर्थ भी ठीक नहीं, क्योंकि इसमें पूर्वापर सम्बन्ध का अभाव है, और सन्दिग्ध विषयों को प्रमाणभूत मानकर अर्थ किया गया है।

वेदार्थ तो वेद से होना चाहिए। इस विषय में दयानन्द सरस्वती का विचार सुस्पष्ट है,

१. हमने श्री अरविन्द के लेख का भावमात्र दिया है। वैदिक मैगजीन, १९१६।

उसकी आधारशिला अभेद्य है। वेद के सूक्त भिन्न-भिन्न नामों से एक ईश्वर को ही सम्बोधन कर के गाए हैं। विप्र, अर्थात् ऋषि एक परमात्मा को ही अग्नि, इन्द्र, यम, मातरिश्वा और वायु आदि नामों से बहुत प्रकार से कहते हैं। वैदिक ऋषि अपने धर्म के विषय में मैक्समूलर या राथ की अपेक्षा अधिक जानते थे। अतः वेद स्पष्ट कहता है कि एक ईश्वर के ही अनेक नाम हैं।

हम जानते हैं, आधुनिक विद्वान् किस प्रकार इस बात को खींचतान करके उलटते हैं। वे कहते हैं, यह सूक्त नये काल का है। ऐसे ऊंचे विचार बहुत प्राचीन आर्य लोगों के मन में नहीं आ सकता था। इसके विपरीत हम देखते हैं कि वेद में अनेक सूक्त इसी भाव को बताते हैं। अग्नि में ही सब दूसरी दैवी शक्तियां हैं, इत्यादि। देवताओं के ऐसे विशेषण हैं जो सिवाय ईश्वर के और किसी के हो नहीं सकते। पाश्चात्य इस बात से घबराते हैं। वेद का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिए, निस्संदेह ऐसे अर्थ से उनका चिरकाल से पनप रहा विचार नष्ट होता है। अतः सत्य को छिपाना चाहिए। मैं पूछता हूं, इस बात में, इस मौलिक बात में दयानन्द सरस्वती वेद का सीधा अर्थ करता है या पाश्चात्य विद्वान्।

इस एक के समझने से, दयानन्द के इस मौलिक सिद्धान्त के मानने से नहीं, वैदिक ऋषियों के इस विश्वास के जानने से कि सब देवता एक महान् आत्मा के नाम हैं, हम वेद का वास्तविक भाव जान लेते हैं। बस वेद का वही तात्पर्य निकलता है, जो दयानन्द सरस्वती ने इससे निकाला। केवल याज्ञिक अर्थ या सायण का बहुदेवतावाद आदि का अर्थ भस्मीभूत हो जाता है। पाश्चात्यों का केवल अन्तरिक्ष आदि लोकों के देवताओं के सम्बन्ध में किया हुआ अर्थ मलियामेट हो जाता है। इनके स्थान में वेद एक वास्तविक धर्म ग्रन्थ, संसार का एक पवित्र पुस्तक और एक श्रेष्ठ और उच्च धर्म का दैवी शब्द हो जाता है।

अपने वेदभाष्य के विषय में दयानन्द सरस्वती का निम्नलिखित लेख भी देखने योग्य है।

परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैर्यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। ......तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते।..... एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि॥[1]

अर्थात्—दयानन्द सरस्वती की प्रतिज्ञा है कि उनके भाष्य में कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डों का विस्तार से वर्णन नहीं होगा। ये विषय ब्राह्मणों, उपनिषदों और दर्शनों आदि में विस्तार से कहे गए हैं। उनका पुनः कहना पिष्टपेषण है। अतः इस भाष्य में वैदिक मन्त्रों का प्रायः मूलार्थ ही होगा।

सायणादि के सम्बन्ध में दयानन्द सरस्वती की सम्मति

सायण और योरुप के अनुवादकों के विषय में दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—

पूर्वेषां भाष्यकृतां सायणाचार्यादीनां ये गुणाः सन्ति ते त्वस्माभिरपि स्वीक्रियन्ते, गुणानां सर्वैः शिष्टैः स्वीकार्यत्वात्। तेषां ये दोषाः सन्ति ते ऽत्र दिग्दर्शनेन खण्ड्यन्ते।[2]

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय।
२. वेदभाष्य का नमूना, पृ० ७।

अर्थात्—पूर्वभाष्यकार सायण आदिकों के गुणों को मैं स्वीकार करता हूं। परन्तु उनके दोषों का खण्डन करता हूं।

इसमें आगे रावण, उवट, सायण, माधव, और महीधर का नाम लेकर लिखा है कि इनके अनेक समान दोष हैं। अतः एक का खण्डन होने से सबका खण्डन जानना चाहिए। और इनसे भी अधिक दोष पाश्चात्य अनुवादकों के हैं।

संवत् १९३३ में जब वेदभाष्य का नमूना छप गया, तो पंजाब यूनीवर्सिटी के परामर्श पर प्रो० ग्रिफिथ, प्रो० टानि, पं० गुरुप्रसाद प्रधान पंडित ओरिएण्टल कालेज लाहौर और पंडित भगवानदास अध्यापक गवर्नमेण्ट कालेज लाहौर ने उस पर समालोचनाएं लिखीं। कलकत्ता के पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न ने भी एक विस्तृत समालोचना मुद्रित कराई। उन सब का उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने दिया। इन सब में से पं० महेशचन्द्र के आक्षेप कुछ अधिक बलवान् थे। उनका उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भ्रान्ति निवारण पुस्तिका में कार्तिक शुक्ला २, संवत् १९३४ को दिया था।

यह उत्तर इतना सारगर्भित है कि पढ़ कर वेद विषय में बहुत ज्ञान होता है।

पं० गुरुप्रसाद ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के **विदधीमहि** और **वदामहे** प्रयोगों को अशुद्ध बताया था। इनके शुद्ध होने में दयानन्द सरस्वती ने पाणिनि, कैयट, नागेश, रामाश्रम और अनुभूति-स्वरूपाचार्य के कथन प्रस्तुत किए, और इनके अनुसार इन दोनों प्रयोगों को शुद्ध बताया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के **वेदभाष्य** पर इण्डियन नेशनल कांग्रेस के जन्मदाता मिस्टर ह्यूम ने भी एक लेख समाचार पत्रों में प्रकाशित किया था। उसका उत्तर भी स्वामी दयानन्द सरस्वती की ओर से छपा था।[1] ऐसी ही और भी अनेक घटनाएं इस भाष्य के सम्बन्ध में हैं, परन्तु विस्तरभय के कारण हम उन्हें यहां नहीं लिखते।

भाष्य की विशेषताएँ—१. इस भाष्य में वेदों के अनादि होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। ब्राह्मण ग्रन्थों और मीमांसा में विषय सूक्ष्म रूप से था, वह यहां सुस्पष्ट है।

२. वेदों में लौकिक-इतिहास का अभाव है, यह भी दयानन्द सरस्वती ने अच्छे रूप से दिखाया है।

३. वेदों के शब्द यौगिक और योगरूढ हैं, रूढि नहीं, यह इस भाष्य की आधार शिला है। अग्नि आदि शब्दों से किस प्रकार परमात्मा का ग्रहण होता है, उसकी विवेचना प्रथम मन्त्र के भाष्य में की गई है। जो प्रमाण इस अर्थ के समर्थन में प्रस्तुत किए गए हैं, वे देखने योग्य हैं। प्रमाणों की एक माला बना दी गई है। ऋग्वेद से लेकर मनुस्मृति और मैत्रायणी उपनिषद् तक के प्रमाण इस माला की मणियां हैं।

४. वाचकलुप्तोपमालंकार से अनेक मन्त्रों का भावार्थ स्पष्ट किया गया है। अर्थात् उषा के समान स्त्री, मित्र के समान अध्यापक, वरुण समान उपदेशक इत्यादि।

---

१. देखें, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृ० ४५, ४६।

५. स्वामी दयानन्द सरस्वती का सिद्धान्त है कि जहां-जहां उपासना का विषय है, वहां-वहां अग्नि आदि शब्दों से ईश्वर का अभिप्राय है । अन्यथा इन्हीं शब्दों से भौतिक पदार्थों का गहण किया जा सकता है ।

६. कहीं कहीं दयानन्द सरस्वती ने शाकल्य से भिन्न पदपाठ स्वीकार किया है ।

७. देवता भी कहीं-कहीं सर्वानुक्रमणी से भिन्न माने हैं ।

८. शतपथादि ब्राह्मण और निरुक्त, निघण्टु तथा अष्टाध्यायी और महाभाष्य के प्रमाणों से यह भाष्य भरा पड़ा है ।

९. एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दिए गए हैं, जैसे इन्द्र के अर्थ परमात्मा, सूर्य, वायु, विद्वान् राजा, जीवात्मा आदि किए गए हैं ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की असाधारण विद्वत्ता, अलौकिक प्रतिभा, असीम ईश्वर प्रेम और परम वेद-भक्ति इस भाष्य के पाठ से एक विपक्षी के हृदय पर भी अङ्कित हो जाती हैं ।

२३. नवीन भाषा-भाष्यकार

इन भाष्यों के अतिरिक्त ऋग्वेद के बहुत से भागों पर परलोकगत पं० शिवशङ्कर काव्यतीर्थ, पं० आर्यमुनि, राय शिवनाथ अग्निहोत्री आदि महानुभावों ने भी अपने भाष्य इस आधुनिक काल में लिखे हैं, परन्तु उनका महत्त्व विशेष न होने से उनका यहां वर्णन नहीं किया गया ।

श्री अरविन्द घोष ने भी ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों की व्याख्या लिखी है । वह व्याख्या अङ्गरेजी भाषा में है, अतः उसका भी यहां उल्लेख नहीं किया ।

तृतीय अध्याय

यजुर्वेद के भाष्यकार

१. शौनक

यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता का ३१ वां अध्याय पुरुषसूक्त कहाता है। उवट ने इस सूक्त पर अपना भाष्य नहीं लिखा। उसके पास इसका कोई प्राचीन भाष्य था। उसके सम्बन्ध में वह लिखता है—

अस्य भाष्यं शौनको नाम ऋषिरकरोत्

अर्थात् इस सूक्त का भाष्य शौनक नाम ऋषि ने किया था। वह भाष्य किसी क्रम से था। उस क्रम का उल्लेख भी उवट करता है—

प्रथमं विच्छेदः क्रियाकारकसम्बन्धः समासः प्रमेयार्थव्याख्येति।

अर्थात् इस भाष्य में पहले पदच्छेद, फिर अन्वय, फिर समास का खोलना और फिर प्रमेयार्थ व्याख्या है।

शौनक का पुरुषसूक्तभाष्य—उवट का विचार है कि शौनकानुसार इस सूक्त का मोक्ष में विनियोग है। शौनक का भाष्य बड़ा उत्कृष्ट है। इस में वेदान्त की झलक है। इस भाष्य में याज्ञिक और आध्यात्मिक पद्धति का मेल है। **केचित्** और **अपरे** कह कर दूसरों का मत भी दिया गया है। कहीं कहीं नैरुक्त पद्धति का अर्थ भी किया गया है। यथा १६ वें मन्त्र के भाष्य में लिखा है **एवं योगिनोऽपि दीपनाद्देवाः**—अर्थात् इस प्रकार योगी भी दीप्तिमान होने से देवता कहाते हैं।

पुरुषसूक्त का यह शौनक भाष्य उवट के काशी के हस्तलेखों में नहीं है। इस से प्राचीन होने का भी कभी-कभी संदेह होता है।

उवट के लेख से प्रतीत होता है कि यह भाष्य पर्याप्त प्राचीन काल का है। इस भाष्य का कर्त्ता शौनक यदि ऋषि न भी हो, और साधारण व्यक्ति ही हो तब भी यह भाष्य पुराना है। इस भाष्य के पाठ से प्रतीत होता है कि जितना हम पुराने काल में जाते हैं, उतना ही वेदों का गौरवयुक्त अर्थ हमारे सामने आता है।

शौनक का पदविच्छेद करना उसके काल में पदपाठकों के अभाव का सन्देह उत्पन्न करता है। यदि ऐसा ही है, तो वह अवश्य कोई ऋषि होगा।

इस भाष्य में एक दो स्थलों पर वैष्णव संप्रदाय की छाया भी है।[1] षड्गुरुशिष्य वेदार्थ दीपिका की भूमिका में लिखता है कि आश्वलायन गुरु शौनक वैष्णव धर्म का प्रवर्तक था।

२. हरि स्वामी—कलिसंवत् ३७४०, अथवा ६३८ ईसा

वाराणसी के संस्कृत (क्वीन्स) कालेज के सरस्वती भण्डार में माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के हविर्यज्ञ अर्थात् प्रथम काण्ड पर हरिस्वामी के भाष्य का एक हस्तलेख सुरक्षित है। उस के आरम्भ में निम्न श्लोक हैं—

नागस्वामी तन्न [प्ता] श्रीगुहस्वामीनन्दनः।
तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढ्यो लक्ष्म्या समेधितः ॥५॥
तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद्वेदवेदिमान्।
त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात् ॥६॥
यः सम्राट् कृतवान् सप्तसोमसंस्थास्तथर्क्कश्रुतिम्।
व्याख्या[i] कृत्वाध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः ॥७॥

अर्थात् श्री गुहस्वामी का पौत्र और नागस्वामी का पुत्र याज्ञिक, प्रमाणज्ञ और लक्ष्मी से युक्त हरि स्वामी था। वह वेदों के व्याख्यान में प्रवीण और गुरुमुख से विद्या पढ़ा हुआ था जिसने सात सोम संस्था करके सम्राट् की पदवी प्राप्त की और ऋग्वेद पर व्याख्या करने के पश्चात् मुझे पढ़ाया था, वह श्री स्कन्द स्वामी मेरा गुरु है।

हरि स्वामी का काल—इसी प्रथम काण्ड के भाष्य के अन्त में हरिस्वामी स्वयं लिखता है—

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

अर्थात् जब कलि के ३७४० वर्ष बीत गए तब यह भाष्य रचा गया। क्या इस का अर्थ कलि सम्वत् के ३०४७ वर्ष व्यतीत होने पर भी हो सकता है? कुछ विद्वानों ने ऐसा ही माना है। उन्होंने सप्त को पृथक् पद माना है। 'वै' पद का प्रयोग होने से इस प्रकार काल निर्देश हो सकता है। यदि यह व्याख्या ठीक हो तो द्वितीय श्लोक की पूर्व श्लोक के साथ संगति ठीक बैठ जाती है। ३७४० कलि अब्द अर्थ करने में एक आपत्ति यह भी है कि उस समय अर्थात् विक्रम संवत् ६९५ में अवन्ति अथवा उज्जैन में कोई विक्रम था इस की अभी इतिहास में सिद्धि नहीं हुई।

प्रथम काण्ड के ब्राह्मण भाष्य के अनेक अध्यायों की समाप्ति पर निम्नलिखित श्लोक लिखे हैं—

नागस्वामी सुतोऽवन्त्यां पाराशर्यो वसन् हरिः।
श्रुत्यर्थं दर्शयामास शक्तितः पौष्करीयकः ॥
श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्याच्छातपथीं श्रुति ॥

१. देखें मन्त्र १६ का भाष्य।

अर्थात् पराशर गोत्र वाले, नागस्वामी के पुत्र, पुष्कर निवासी, अवन्तिनाथ विक्रमार्क के धर्माध्यक्ष, हरिस्वामी ने शतपथ की श्रुति का व्याख्यान किया।

हरिस्वामी का काल सन्देह से परे है।

हरिस्वामी ने कात्यायनश्रौत पर भी अपना भाष्य लिखा था। उस का वर्णन आगे होगा। हरिस्वामी का मत महीधर भाष्य के बम्बई संस्करण में उद्धृत है। क्या यह कात्यायन श्रौत सूत्र से गृहीत है।

क्या हरिस्वामी ने यजुर्वेद पर भाष्य किया—अभी तक हम यह नहीं कह सकते कि हरिस्वामी ने यजुर्वेद पर भाष्य किया अथवा नहीं। हां, जम्बू के रघुनाथ-मन्दिर के पुस्तकालय के सूचीपत्र में एक ग्रन्थ का उल्लेख है। संख्या उस की ४५०६ है। वह रुद्राध्याय का पदपाठ है। उसके सम्बन्ध में उक्त सूचीपत्र में लिखा है कि वह हरिस्वामी मतानुसारी है। इस से अनुमान होता है कि हरिस्वामी ने यजुर्वेद पर भी अपना भाष्य लिखा होगा।

३. उवट—संवत् ११०० के लगभग

काल—शुक्ल-याजुष-सम्प्रदाय का प्रसिद्ध भाष्यकार उवट महाराज भोज के काल में हुआ है। अपने यजुर्वेद भाष्य के अन्त में वह स्वयं लिखता है—

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः॥
ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन्।
मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति॥

अर्थात् आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट ने सुनिश्चित पद वाक्यों से भाष्य किया। ऋष्यादियों को नमस्कार करके अवन्ती में रहते हुए उवट ने मन्त्र भाष्य किया, जब भोज राज्य कर रहा था।

यही श्लोक स्वल्प पाठान्तरों के साथ अन्य हस्तलेखों के भिन्न-भिन्न अध्यायों के अन्त में भी आए हैं। वे नीचे दिये जाते हैं। बड़ोदा के हस्तलेख संख्या १०४४७ के अन्त में लिखा है—

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति॥[१]

पूना के हस्तलेख संख्या २३२ के दशम अध्याय के अन्त में लिखा है—

ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य ह्यवन्त्या उवटो वसन्।
मन्त्रभाष्यमिदं चक्रे भोजे राज्यं प्रशासति॥

---

१. निरुक्त, डा० स्वरूप की सूचियां पृ० ७२। हमारे पुस्तकालय के कोश संख्या ३९९२ के २०वें और ३०वें अध्याय की समाप्ति पर भी यही श्लोक है।

बड़ोदा का संख्या १०४४७ का कोश संवत् १४६४ का है। पूना का संख्या २३८ का कोश संवत् १४३१ का है।

काशी-मुद्रित वाराणसीय राजकीय संस्कृतपाठशालीय उवट भाष्यानुसारी पाठ में १३वें अध्याय के अन्त में लिखा है—

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटस्य च सूनुना।
उवटेन कृतं भाष्यमुज्जयिन्यां स्थितेन तु॥

इन श्लोकों के देखने से निश्चित होता है कि उवट ने महाराज भोज के राज्यकाल में यह भाष्य लिखा था। भोज का राज्य काल संवत् १०७५-१११७ तक माना जाता है। अतः संवत् ११०० के समीप ही उवट ने यह भाष्य लिखा होगा।

उवट का कुल—उवट का नाम प्राचीन कोशों में उअट भी लिखा हुआ है।[1] उवट नागर ब्राह्मण था। जैसा पूर्वोक्त श्लोकों से ज्ञात हो गया होगा, उवट के पिता का नाम वज्रट था। आनन्दाश्रम, पूना में ईशावास्योपनिषद् पर अनेक टीकाएं छपी हैं। उनमें उवट भाष्य भी छपा है। उसके अन्त के लेख से प्रतीत होता है कि उवट का पिता वज्रट कोई उपाध्याय था—

इति श्रीमद्वज्रटभट्टोपाध्यायात्मजसकलनिगमविच्चूडामणि श्रीमदुवटभट्टार्यविरचिते......... चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥४०॥

उवट भाष्य के संस्करण—उवट भाष्य कलकत्ता, बनारस और बम्बई में मुद्रित हो चुका है। इनमें से एक को भी आदर्श संस्करण नहीं कहा जा सकता। मुम्बई संस्करण में अनेक मन्त्रों के महीधर भाष्य को ही उवट भाष्य मानकर छापा गया है। इसके सम्बन्ध में तृतीय दशक के सन् १९१३ के चौखम्बा संस्करण के पृ० १२१२ के दूसरे टिप्पण में मन्त्र २४।३॥ पर लिखा है—

अत्र महीधरोक्तमर्थं विलिखामीति पाठ श्रीवटभाष्ये कस्मिश्चिदादर्शे केनचिट्टिप्पण्यां समुद्धृत इत्यनुमीयते परं तु मुम्बईमुद्रितपुस्तके शोधकेन मूलभाष्य एव हठात् सन्निवेशित इति।

मुम्बई संस्करण का सम्पादन यत्नपूर्वक नहीं हुआ। काशी संस्करण के सम्पादक पं० रामसकल मिश्र ने उवट भाष्य का दो प्रकार का पाठ देखकर उन्हें पृथक्-पृथक् छाप दिया है। हमारे कोश का लेखन-काल यद्यपि मिट गया है, परन्तु है वह भी बहुत पुराना। मेरे अनुमानानुसार वह कोश ४५० वर्ष से अधिक पुराना है। उसमें भी पर्याप्त पाठान्तर दृष्टिगत होता है। इन सब बातों से सिद्ध है कि उवट भाष्य के सुसम्पादन की बड़ी आवश्यकता है।

प्रतीत होता है उवट भाष्य का पाठ दो प्रकार का हो गया है। एक पाठ काशी का है और दूसरा महाराष्ट्र का। काशी के पाठ में पुरुष सूक्त पर उवट का अपना भाष्य है परन्तु महाराष्ट्र-पाठ में इस स्थान पर शौनक का भाष्य मिलता है। हम जानते हैं कि महीधर उवट की प्रायः नकल करता है।

१. वैदिक कोश, हंसराज, २५वें अध्याय का अन्त।

पुरुष सूक्त का महीधर भाष्य उवट के काशी-पाठ की छाया है। इससे प्रतीत होता है कि काशीवासी महीधर को महाराष्ट्र-पाठ का पता नहीं था।

भाष्य की विशेषताएं

१. याज्ञिक पद्धति का अनुकरण करते हुए भी उवट कहीं-कहीं मन्त्रों का आध्यात्म अर्थ देता है। देखें २०।२३॥

२. उवट यास्कीय निरुक्त और निघण्टु को बहुत उद्धृत करता है, परन्तु उसके अनेक पाठ ग्रन्थ वा ग्रन्थकर्ता का नाम लिए बिना ही देता है। अपनी प्रस्तावना में वह बृहद्देवता के कई वाक्य देता है।

३. यजुर्वेद १८।७७॥ के भाष्य में वह निरुक्त १३।१२॥ को उद्धृत करता है। इससे सिद्ध होता है कि यह परिशिष्ट उसके समय में भी निरुक्त का भाग था।

४. यजुर्वेद ७।२३॥ और २५।२७॥ में वह चरकों के मन्त्र उद्धृत करता है।

५. यजुर्वेद ५।२॥ में उर्वशी और पुरूरवा का अपना अर्थ करके फिर वह ब्राह्मण ग्रन्थ का इतिहास-पक्ष देता है।

६. ५।३॥ में **रेप इति पापनाम** लिखा है। यह किसी लुप्त निघण्टु का पाठ है। ५।२०॥ में वह अवतारों का वर्णन करता है।

७. उवट याजुष सर्वानुक्रमणी का प्रयोग नहीं करता, प्रत्युत भाष्यारम्भ में लिखता है—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छन्दसं च यत्॥

अर्थात् गुरु से, तर्क से तथा शतपथ की श्रुतियों से मन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्द कहूंगा।

इससे प्रतीत होता है कि याजुष-सर्वानुक्रमणी या तो अनार्ष है अथवा प्रधानता से माध्यन्दिन शाखा की नहीं है।

८. यजुः २२।३४॥ पर भाष्य करते हुए उवट लिखता है

एकस्मै स्वाहा द्वाभ्यां स्वाहेति प्रकारदर्शनम्। त्रिभ्यः स्वाहा चतुर्भ्यः स्वाहेति आ[1] एकशतात्।

अर्थात् एकस्मै स्वाहा इत्यादि मन्त्रों का प्रकार दर्शन ही है। इस पर कात्यायन श्रौत २०।११३॥ के भाष्य में कर्क लिखता है—

इह च—एकस्मै स्वाहा द्वाभ्यां स्वाहा—इत्येवमादौ—त्रिभ्यः स्वाहा चतुर्भ्यः स्वाहा पञ्चभ्यः स्वाहा—इत्येवमादौ लुप्तः स्वाध्यायो द्रष्टव्यः।

अर्थात् यहां पर लुप्तस्वाध्याय देखना चाहिए।[2]

---

१. यह पद मुम्बई संस्करण में नहीं है। हमारे कोश में यहां का पत्र लुप्त है। क्वीन्स कालेज के हस्तलेख का यह पाठ काशी-संस्करण से लिया गया है।

२. इस बात की ओर नासिकक्षेत्रवासी श्री अण्णाशास्त्री वारे ने हमारा ध्यान दिलाया था।

यहां पर स्मरण रखना चाहिए कि काठक संहिता ५।२।१॥ और तैत्तिरीय संहिता ७।२।११।१। में इन मन्त्रों का अधिक पाठ है।

उवट के अन्य ग्रन्थ—मन्त्र भाष्य के अतिरिक्त उवट ने निम्नलिखित ग्रन्थ रचे थे—

१. ऋक् प्रातिशाख्य भाष्य।
२. यजु: प्रतिशाख्य भाष्य।
३. ऋक् सर्वानुक्रमणी भाष्य।

तीसरे ग्रन्थ का लेखक यही उवट है, इस बात का अभी निर्णय करना है।

उवट के मन्त्र भाष्य से शत्रुघ्न, महीधर आदि ग्रन्थकारों ने बड़ा लाभ उठाया है।

४. गौरधर—संवत् १३५० के लगभग

जगद्धर भट्ट कश्मीर का एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार है। इसने मालती-माधव आदि अनेक नाटकों पर अपनी टीकाएं रची हैं। इन टीकाओं के अतिरिक्त उसने भक्ति-भाव-पूर्ण स्तुतिकुसुमांजली नाम का भी एक ग्रन्थ निर्माण किया था। उस ग्रन्थ के अन्त में अपने वंश का वर्णन करते हुए वह लिखता है—

पुरा पुरारेः पदधूलिधूसरः सरस्वतीस्वैरविहारभूरभूत्।
विशालवंशश्रुतवृत्तिविश्रुतो विपश्चितां गौरधरः किलाग्रणीः ॥१॥
अनन्तसिद्धांतपथान्तगामिनः समस्तशास्त्रार्णवपारदृश्वनः।
ऋजुर्यजुर्वेदपदार्थवर्णना व्यनक्ति यस्याद्भुतविश्रुतं श्रुतम् ॥३॥

अर्थात् पहले श्रीशम्भु के पांव की धूलि से धूसर, विद्या से स्वेच्छा से विहार करने वाला, विशाल वंश, शास्त्र और आचार से प्रसिद्ध विद्वानों में अग्रणी गौरधर था।

वह गौरधर अनेक सिद्धान्तों के मार्गों को जानने वाला, सारे शास्त्ररूपी समुद्र का पारदर्शी था। उस के अद्भुत ज्ञान को यजुर्वेद के पद और अर्थों का वर्णन करने वाला ऋजु [भाष्य] प्रकट करता है।

अन्तिम पंक्ति पर टीकाकार रत्नकण्ठ ने लिखा है—

तादृशस्य गौरधरस्य ऋजुर्निर्मला निर्दोषा च यजुर्वेदपदानामर्थवर्णना भाष्यपद्धतिर्वेदविलास-नाम्नी यस्याद्भुतं च विश्रुतं प्रसिद्धं च श्रुतं व्यनक्ति प्रकटयति।

अर्थात् उस गौरधर ने यजुर्वेद पर वेदविलास नाम वाली एक निर्दोष भाष्य पद्धति रची। इस टीका का नाम शत्रुघ्न लेता है।[1]

इससे ज्ञात होता है कि गौरधर ने यजुर्वेद पर ऋजुभाष्य रचा था। उस भाष्य का नाम वेदविलास भी था।

बड़ोदा में विद्यमान एक ऋजुव्याख्या—बड़ोदा में वाजसनेयी संहिता भाष्य का एक कोश

१. शत्रुघ्न के वर्णन में आगे देखें।

है । संख्या उसकी १०६०० है । यह माध्यन्दिन-संहिता का भाष्य है । इसमें २९-३१ और ३८-४० अध्यायों का ही भाष्य है । उसके अन्त में लिखा है—

इति ऋजुव्याख्याने संहितायां चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥
संवत् १५६४ फाल्गुन शुद्ध १४ भौमे लिखितम् ।

बहुत सम्भव है कि गौरधर-प्रणीत ऋजुभाष्य यही हो ।

काल—गौरधर स्तुतिकुसुमाञ्जलि के कर्ता जगद्धर का पितामह था । स्तुतिकुसुमाञ्जलि के सम्पादक हैं पं० दुर्गाप्रसाद और पं० काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब । अपनी भूमिका में वे लिखते हैं कि सन् १३५२ के समीप जगद्धर का काल था । गौरधर उससे ५० वर्ष पहले हुआ होगा । अतः संवत् १३०० के समीप गौरधर का काल मानना चाहिए ।

५. रावण—सोलहवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व

हम पहले पृ० ७४ पर लिख आए हैं कि रावण ने यजुर्वेद पर भी भाष्य लिखा था । इसका एक प्रमाण रुद्रप्रयोगदर्पण में भी है । इस दर्पण का कर्ता पद्मनाभ था । उसके ग्रन्थ का शक १७०५ का एक हस्तलेख मैंने नासिकक्षेत्रवास्तव्य श्री अण्णाशास्त्री वारे के घर देखा था । उसके आरम्भ में पद्मनाभ ने लिखा है कि रुद्र-भाष्य के करने में उसने रावण-भाष्य का आश्रय भी लिया है ।

६. महीधर—संवत १६४५ के लगभग

महीधर काशी में रहता था । उसी ने मन्त्रमहोदधि नामक एक तन्त्र और उसकी टीका लिखी है । इससे प्रतीत होता है कि वह तान्त्रिक था । उसका वेददीप नामी यजुर्वेद-भाष्य उवट-भाष्य की छायामात्र है । भेद केवल इतना है कि उवट ने कात्यायनश्रौत की प्रतीकें अपने भाष्य में नहीं रखीं, परन्तु महीधर ने सायण के काण्वसहिता-भाष्य के आश्रय से वे सब यथास्थान जोड़ दी हैं ।

काल—डा० स्वरूप का मत है कि महीधर का काल ईसा की १२ वीं शताब्दी का आरम्भ है।[1] यह बात ठीक नहीं है । महीधर सायण माधव का स्मरण करता है और उस का प्रमाण भी अपने भाष्य में देता है । यह दोनों स्थल आगे दिये जाते हैं—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशं भाष्यं विलोक्यौवटमाधवीयम् ।
यजुर्मनूनां विलिखामि चार्थं परोपकाराय निजेक्षणाय ॥१॥[2]

अर्थात् उवट और माधव के भाष्य को देखकर मैं यजुर्वेद का अर्थ करता हूं । पुनः १३।४५॥ के भाष्य में वह लिखता है—

माधवस्तु-पृथिव्या उपरिस्थादुत वा.................

इस से आगे वह कई पंक्तियों में माधव का सारा भाष्य उद्धृत करता है ।

---

१. निरुक्त की सूचियां, पृ० ७४ । सत्यव्रत सामश्रमी तथा डा० स्वरूप का मत एक ही है ।
२. भाष्य का मंगल-श्लोक ।

डा० स्वरूप का मत है कि महीधर अपने भाष्य के मङ्गलश्लोक में जिस माधव का नाम लेता है, वह सम्भवतः वेङ्कट माधव है। इस सम्बन्ध में डा० स्वरूप का लेख आगे दिया जाया है—

This view is further confirmed as. Mahidhara, the commentator of the Sukla Yajurveda, who belonged to c. 1100 A. D. mentions a predecessor Madhava by name. This predecessor of Mahidhara is probably to be identified with Madhava. son of Venkata

वस्तुत यह बात ठीक नहीं है अपने मङ्गल श्लोक में महीधर सायरण माधव का ही स्मरण करता है और १३।४५।। के भाष्य में उसने काण्वसंहिता के सायण भाष्य का ही प्रमाण दिया है। माधव की जितनी पंक्तियां महीधर ने उद्धृत की हैं वे सब स्वल्प पाठान्तरों के साथ काण्वसंहिता अध्याय १४ अनुवाक ४ के सायरण भाष्य में मिल जाती हैं। यदि मुद्रित काण्वीय-सायरण भाष्य का सुसम्पादन होता, तो ये पाठान्तर भी बहुत ही कम रह जाते। अस्तु, इस से निश्चित होता है कि महीधर सायरण माधव को ही उद्धृत करता है।

मन्त्रमहोदधि का कर्ता महीधर—आफरेख्ट के बृहत्सूची के अनुसार याजुषभाष्यकार महीधर ही मन्त्रमहोदधि का भी कर्ता है। यदि महीधर के यजुर्वेद भाष्य के मङ्गल-श्लोक की मन्त्रमहोदधि के मङ्गल-श्लोक से तुलना की जाए, तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। वेददीप का मङ्गल श्लोक पहले लिखा जा चुका है। अब मन्त्रमहोदधि का मङ्गल श्लोक लिखा जाता है—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं महागणपतिं गुरुम्।
तन्त्राण्यनेकान्यालोक्य वक्ष्ये मन्त्रमहोदधिम्॥

इस श्लोक में ठीक उन्हीं देवताओं को नमस्कार किया गया है जिन्हें वेददीप के आरम्भ में नमस्कार किया गया है। इस बात के ध्यान में रखने से दोनों ग्रन्थ एक ही महीधर के प्रतीत होते हैं।

मन्त्रमहोदधि का लेखन-काल—मन्त्रमहोदधि के अन्त में महीधर ने उस ग्रन्थ के लिखने की तिथि निम्नलिखित प्रकार से दी है—

अब्दे विक्रमतो जाते बाणवेदनृपैर्मिते।
ज्येष्ठाष्टम्यां शिवस्याग्रे पूर्णो मन्त्रमहोदधिः॥१३२॥

अपने इस श्लोक का अर्थ महीधर अपनी टीका में स्वयं इस प्रकार करता है—

पञ्चचत्वारिंशदुत्तरषोडशशततमे विक्रमनृपाद्गते सति

अर्थात् विक्रम संवत् १६४५ ज्येष्ठाष्टमी को मन्त्रमहोदधि पूर्ण हुआ। इस से दो चार वर्ष पहले या पीछे ही यजुर्वेद भाष्य समाप्त हुआ होगा।

कलकत्ता एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल के सूची भाग २ में नवीन संख्या ८२९ के अन्तर्गत वेददीप का एक कोश है। वह शक १६२३ में लिखा गया था, परन्तु जिस मूल से वह लिखा गया था, वह मूल शक १५२३ अथवा संवत् १६५८ का है। वेददीप के इससे पुराने हस्तलेख का संकेत हमारी दृष्टि में अभी तक नहीं आया। इससे ज्ञात होता है कि कलकत्ता के कोश का मूल मन्त्रमहोदधि के लिखे

जाने के १३ वर्ष पश्चात् लिखा गया होगा। इस के कुछ ही पश्चात् का अर्थात् संवत् १६७१ का एक कोश पूना में है।[१]

महीधर के भाष्य में किसी प्रकार की भी कोई मौलिकता नहीं है।

७. दयानन्द सरस्वती—संवत् १८८१-१९४०

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद के समान यजुर्वेद पर भी अपना भाष्य लिखा है। उस भाष्य का आरम्भ कब हुआ, इस सम्बन्ध में भाष्यारम्भ में निम्नलिखित श्लोक है —

चतुस्त्र्यङ्कैरङ्कैरवनिसहितैर्विक्रमसरे
शुभे पौषे मासे सितवलभविश्वोम्मिततिथौ।
गुरोर्वारे प्रातः प्रतिपदमतीष्टं सुविदुषां
प्रमाणैर्निबद्धं शतपथनिरुक्ताविभिरपि ॥२॥

अर्थात् विक्रम के संवत् १९३४ पौष सुदि १३ गुरुवार के दिन यजुर्वेद के भाष्य बनाने का आरम्भ किया जाता है।

यह भाष्य कब समाप्त हुआ, इस विषय में भाष्य की समाप्ति पर निम्नलिखित लेख है—

मार्गशीर्ष कृष्ण १ शनौ संवत् १९३९ में समाप्त किया।

वैशाख शुक्ल ११ शनौ संवत् १९४६ में छप कर समाप्त हुआ।

दयानन्द सरस्वती के ऋग्भाष्य की जो विशेषताएं पहले दी जा चुकी हैं, वैसे ही इस यजुर्वेद भाष्य में भी समझनी चाहिएं। दयानन्द सरस्वती ने यज्ञ शब्द से धात्वर्थानुसार बड़ा विस्तृतार्थ ग्रहण किया है, अतः इस भाष्य में यज्ञ का अग्निहोत्र से अश्वमेध पर्यन्त ही अर्थ ग्रहण नहीं किया गया। विद्वानों की पूजा, स्तुति, सांसारिक पदार्थों से उपयोग लेना, यह भी यज्ञ का अर्थ समझा गया है।

---

१. देखें, नया सूची पत्र, संख्या २४२।

चतुर्थ अध्याय

काण्वसंहिता के भाष्यकार

१ सायण—संवत् १३७२-१४४४

महाराज बुक्क प्रथम के काल में ही सायण ने काण्व संहिता पर भाष्य लिखा था। यह भाष्य अब बीस अध्याय तक ही मिलता है। शेष अध्याय या तो लुप्त हो गए हैं, या सायण ने लिखे ही नहीं। काण्व संहिता भाष्यकार अनन्त का मत है कि सायण ने उत्तरार्ध पर भाष्य नहीं किया था। उसका लेख नीचे दिया जाता है—

व्याख्याता कण्वशाखीयसंहिता पूर्वविंशतिः।
माधवाचार्यवर्येण स्पष्टीकृत्य न चोत्तरा॥

अर्थात्—माधवाचार्य ने काण्वसंहिता के पहले बीस अध्यायों का ही व्याख्यान किया है, उत्तरार्ध के बीस अध्यायों का नहीं।

यदि अनन्त की बात ठीक है, तो आश्चर्य की बात है कि सायण ने उत्तरार्ध का भाष्य क्यों नहीं किया। हमारा अनुमान है कि या तो सायण का भाष्य लुप्त हो गया था, या इस भाष्य में उसके सहायक भाष्यकार का देहान्त हो गया होगा। भाष्य के लुप्त होने का अनुमान इस बात से भी होता है कि शतपथ के प्रथम काण्ड के अन्तिम भागों पर भी सायण भाष्य लुप्त हो चुका है। परन्तु यह सब अनुमान मात्र ही है।

काण्वसंहिता भाष्य में उद्धृत ग्रन्थ वा ग्रन्थकार—मनु, प्रकाशात्माचार्य और उनका विवरण ग्रन्थ, वेदान्त दर्शन, जैमिनि, भट्ट [कुमारिल], गुरु [भास्कर], कात्यायनोक्त सर्वानुक्रमणी, कात्यायन श्रौत, काण्व शतपथ ब्राह्मण, आपस्तम्ब, तैत्तिरीय और वासिष्ठरामायण आदि ग्रन्थ इस सायण भाष्य में उद्धृत हैं।

भाष्य की विशेषताएं—१. इस भाष्य की भूमिका में सायण शुक्ल-यजु के पन्द्रह भेद बताता है। परन्तु मुद्रित पुस्तक और हमारे हस्तलेख संख्या ५६५१ के पाठ में बड़ा भेद है। हमारा पाठ मद्रास के सन् १९१६-१९१९ तक के संग्रह के अङ्क २३९६ के कोश से सर्वथा मिलता है। मुद्रित पुस्तक का इन दोनों कोशों से भेद नीचे दिखाया जाता है—

मुद्रित—काण्वाः । माध्यन्दिनाः । शापेयाः । स्तापनीयाः । कापालाः ।
लाहौर—जाबालाः । गौधेयाः । काण्वाः । माध्यन्दिना । श्यामाः ।
मद्रास— ,, ,, ,, ,, ,,
मुद्रित—पौण्ड्रवत्साः । आवटिकाः । परमावटिका । पाराशर्याः ।
लाहौर—श्यामायनीयाः । गालवाः । पिंगलाः । वत्साः ।
मद्रास— ,, ,, ,, ,,
मुद्रित—वैधेयाः । वैनेयाः । औधेयाः । गालवाः । बैजवाः ।
लाहौर—आवटिकाः । परमावटिकाः । पाराशर्याः । वैणेयाः । वैधेयाः ।
मद्रास— ,, ,, ,, ,, ,,
मुद्रित—कात्यायनीयाः ।
लाहौर—गालवाः ।
मद्रास— ,,

हमारा कोश भी काशी से प्राप्त किया गया था। मुद्रित पुस्तक में और इन कोशों के पाठ में इतना भेद पाया जाता है कि मुद्रित पुस्तक का पाठ कल्पित प्रतीत होता है।

२. ऋग्वेद के वर्गादि के विभागविषय में वेङ्कटमाधव और आनन्दतीर्थाभिमत जो बात हमने पहले पृ० ५७ और ६३ पर लिखी है, वही सायण को भी मान्य है। सायण प्रथमाध्याय के दूसरे मन्त्र के भाष्य में लिखता है—

माणवकानामावर्तनसौकर्याय खण्डिकाविच्छेदस्य बुद्धिमद्भिरध्यापकैः कल्पितत्वात् । यथा बह्वृचानां तत्र तत्र सूक्तमध्येऽपि वर्गविच्छेदः कल्पितः । यथा वा तैत्तिरीयकाणां वाक्यमध्येऽपि पञ्चाशत्पदसंख्याया विच्छेदः आवृत्तिः सौकर्याय कल्प्यते । तद्वदत्राप्यवगन्तव्यम् ।

अर्थात् अध्येता बालकों के सुख पूर्वक स्मरण करने के लिए ही खण्ड आदि विच्छेद प्राचीन अध्यापकों ने बनाए हैं। ऋग्वेद में भी वर्ग विभाग इसी लिए है। इसी प्रकार यद्यपि तैत्तिरीय पाठ में मन्त्र की समाप्ति नहीं होती तो भी हर पचास पदों के पश्चात् विभाग किया गया है, इसी प्रकार काण्वसंहिता का वर्णन है।

काण्वसंहिता में भी बिना मन्त्र समाप्ति के विभाग किया गया है।

३. सायण का मत है कि ब्राह्मण मन्त्र का व्याख्यान है। वह इस भाष्य के उपोद्घात में लिखता है—

शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात्

अर्थात् शतपथ ब्राह्मण मन्त्रों का व्याख्यान रूप है।

इसी अभिप्राय से भाष्य के मध्य में वह प्रायः काण्व ब्राह्मण का पाठ उद्धृत करता है। सायण के काण्वसंहिता भाष्य के सुसम्पादन की बड़ी आवश्यकता है।

२. आनन्दबोध—स० १५००-१६००

आनन्दबोध भट्टोपाध्याय ने सम्पूर्ण काण्वसंहिता पर अपना भाष्य रचा है। इसके प्रथम बीस अध्यायों का एक कोश पूना में है।[1] पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में अध्याय १९-३८ का एक और कोश है। हमारे पुस्तकालय में संख्या ५६५१ के अन्तर्गत दो ग्रन्थ हैं।[2] इनमें से एक आनन्दबोध भाष्य है। यह बीसवें अध्याय से ३९वें तक है। हमारे पास इसी भाष्य के कुछ और भी पत्र हैं। उनकी संख्या २३ है। वे संख्या ४२५५ में प्रविष्ट हैं। इस भाष्य का उपनिषदात्मक चालीसवां अध्याय आनन्दाश्रम के ईशावास्योपनिषद् भाष्य में सन्निविष्ट है। उसका सम्पादन महामहोपाध्याय आगाशे उपनाम बालशास्त्री ने किया था। इस वृत्तान्त से ज्ञात हो जाता है कि इस समय भी इस भाष्य का समग्र भाग अभी तक मिल सकता है।

सूर्य पण्डित एक काण्व भाष्यकार को उद्धृत करता है।[3] अतः आनन्दबोध का तीसरे अध्याय का भाष्य सूर्य के उद्धरण से मिलना चाहिए।

भाष्य का नाम—अध्यायों की परिसमाप्ति पर इस भाष्य का नाम **काण्ववेदमन्त्रभाष्यसंग्रह** लिखा है। आनन्दाश्रम के संस्करण में उपनिषत् की समाप्ति पर निम्नलिखित लेख है—

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीवासुदेवपुरीपूज्यपादपरमकारुण्यासादितश्रीकृष्णभक्ति-साम्राज्यस्य श्रीमज्जातवेदभट्टोपाध्यायस्य सूनुना चतुर्वेदिश्रीमदानन्दभट्टोपाध्यायेन विरचिते काण्ववेद-मन्त्रभाष्यसंग्रहे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥

इससे ज्ञात होता है कि आनन्दबोध भट्टोपाध्याय के पिता का नाम जातवेद भट्टोपाध्याय था। क्या महाभारत के टीकाकार विमलबोध का इस आनन्दबोध से कोई सम्बन्ध था ?

काल—आनन्दबोध के काल के सम्बन्ध में अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। एक यति आनन्दबोध का काल १२००--१२९७ ईसा है।[4] पूना के कोश में पृष्ठमात्राएं हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि आनन्दबोध ३०० वर्ष से कुछ पहले हुआ होगा। देवयाज्ञिक ४२४ वर्ष से पूर्व का ग्रन्थकार है क्योंकि संवत् १५६४ का उसके इष्टकापूर्णभाष्य का एक हस्तलेख पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में है। बड़ोदा के सूची पत्र में कात्यायन श्रौत भाष्य का संवत् १५८१ का हस्तलेख है।[5] यह देवयाज्ञिक याजुष सर्वानुक्रमणी के भाष्य में किसी कण्वसंहिताभाष्य को उद्धृत करता है।[6] उसका उद्धृत पाठ निम्नलिखित है—

१. देखें १९१६ का सूचीपत्र, संख्या २४६।
२. यह संग्रह होशियारपुर में सुरक्षित है।
३. इसी पुस्तक के सामवेद के भाष्यकारों में सूर्य दैवज्ञ का वर्णन आगे देखें।
४. आनन्दबोध के काल के लिए Calcutta Oriental Journal, Vol. II, No 4, Jan, 1935 में P.K. Gode का लेख देखें।
५. पृ० १५६, १५७, भाग प्रथम, १९४७।
६. प्रथमाध्याय, पृ० १७, काशी संस्करण।

उर्वन्तरिक्षमित्यस्य रक्षोघ्नं ब्रह्मदेवतेति एवं कण्वसंहिताभाष्ये व्याख्यातमस्ति ।

अर्थात्—**उर्वन्तरिक्षम्** मन्त्र का रक्षोघ्न ब्रह्मदेवता है । ऐसा कण्वसंहिताभाष्य में व्याख्यान किया गया है । पुनः देवयाज्ञिक लिखता है—

अग्निदेवतेति माधवाचार्यः ।[1]

अर्थात्—**एष्टारायः** इस पंचमाध्याय के मन्त्र का अग्नि देवता है ।

यह दोनों पाठ सायण माधव के काण्वसंहिता भाष्य में हमें नहीं मिले । सायण अपने भाष्य में इस प्रकार से देवता नहीं देता । इनमें से यदि पहला पाठ आनन्दबोध के भाष्य में मिल जाय, तो आनन्दबोध के काल का कुछ सुनिश्चित पता लग जायगा ।

देवयाज्ञिक कात्यायन श्रौत सूत्र २।३।२६।। की टीका में भी माधवाचार्य को उद्धृत करता है । वह पुनः कात्यायन २।६।१६।। के भाष्य में माधवाचार्य को उद्धृत करता है । यह वचन सायण के शतपथभाष्य १।२।४।१५।। में मिलता है ।

आनन्दबोध के सम्बन्ध में हम इससे अधिक अभी तक और कुछ नहीं लिख सकते ।

इसके भाष्य का एक स्वल्प नमूना निम्नलिखित है—

अग्निप्रकरणं समाप्तं । अथ सौत्रामणी त्रिभिरध्यायैः प्रक्रियते । अग्न्यंगत्वात् सौत्रामण्यनंतरमुपक्रमः । तत्र प्रजापतिर्यज्ञमसृजतेत्युपक्रम्य सौत्रामणीमित्यादिना विस्तरेण प्रतिपाद्यते । स एतं महाक्रतुमपश्यत् सौत्रामणीमिति श्रुतेः । सौत्रामण्याः प्रजापति ऋषिः । यथापरमिदं भेषज्यार्थं अश्विनौ च सरस्वती च सौत्रामणीं ददृशुरिति । अतो अश्विनोः सरस्वत्याश्चार्षमिति । तत्र सुरा संधीयते ।

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन मधुमतीं मधुमता सृजामिसँ सोमेन । सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ।।१।।

स्वाद्वीं त्वेति । सुरादेवत्यानुष्टुप् । सोमोस्यादीनि चत्वारि सौराणि यजूंषि । स्वाद्वीं त्वा । स्वादु रुचिकरं तेन स्वादुना मिष्टेन स्वाद्वीं स्वादुरसोपेताम् । तीव्रेण । तीव्रशब्दः पटुवचनः शीघ्रमदजनकः । तेन तीव्रेण पटुरसेन तीव्रां । अमृतेन अमृतरसेन अमृताम् । मधुमतीं मधुरसोपेतां मधुमतीं सुरां त्वां सोमेन सोमरसेन सँसृजामि । यतस्त्वं सोमोऽसि । अतस्त्वां ब्रवीमि । सोमस्त्वमश्विभ्यामश्विनोरर्थे पच्यस्व । अत्र पाको विपरिणामः । तथा सरस्वत्यै सरस्वत्यर्थे पच्यस्व । इन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ।[2]

अग्निचयन प्रकरण की समाप्ति के अनन्तर अब तीन अध्यायों में सौत्रामणी का प्रारम्भ किया जाता है । क्योंकि अग्निचयन सौत्रामणी का अङ्ग है अतः उसका व्याख्यान पहले करना समुचित था । सौत्रामणी के ऋषि प्रजापति अश्वि और सरस्वती हैं । उसमें सुरा का सन्धान किया जाता है । इस मन्त्र में देवता सुरा है, छन्द अनुष्टुप् और चार सौर यजु हैं । स्वादु, रुचिकर, कटु, चरपरी होने से शीघ्र मदकारी अमृत तुल्य मीठी सुरा को सोमरस के सदृश समझता हूं । नहीं, नही यह साक्षात् सोम ही है । इस लिए तुम अश्वि, सरस्वती और सुत्रामा इन्द्र के लिए पाक है ।

१. प्रथमाध्याय, पृ० ७२, काशी संस्करण ।
२. काण्व संहिता दशक ३ पत्र, १ ख, उत्तरार्द्ध का प्रथमाध्याय ।

३. अनन्ताचार्य अथवा अनन्तभट्ट—संवत् १७०० के लगभग

अनन्ताचार्य के भाष्य के कोश तीन स्थानों में हैं। अलवर संख्या ११३ का कोश ३२-४० अध्याय तक है। पूना नवीन संख्या २४५ का कोश भी ३२-४० अध्याय तक का है। इसका लिपि काल शक १७२१ है। तीसरा कोश मद्रास में है।[१] वह अध्याय २१-३० तक है। इसके चालीसवें अध्याय का भाष्य ईशावास्योपनिषद् के बालशास्त्री के संस्करण में आनन्दाश्रम में मुद्रित हो चुका है।

काल—अनन्त ३०० वर्ष से अधिक प्राचीन है। अनन्त के प्रातिशाख्य भाष्य का २४५ वर्ष पुराना लेख कलकत्ता में विद्यमान है।[२] संवत् १७२१ का लिखा उसके एक ग्रन्थ का अन्य कोश एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में है।[३] लगभग ३०० वर्ष पुराने आचार्य कवीन्द्र के पुस्तकालय के सूचीपत्र में अनन्त रचित कण्व कण्ठाभरण का एक कोश दर्ज है।[४] अपने कण्वकण्ठाभरण में अनन्त होलीरभाष्य को उद्धृत करता है। याजुषसर्वानुक्रमणी का होलीरभाष्य बहुत पुराना ग्रन्थ नहीं है। यह सायण माधव के पश्चात् ही होगा, अतः अनन्त ३०० या ४०० वर्ष पुराना ही है। अनन्त सायण माधव को भी उद्धृत करता है। इस प्रकार भी पूर्वोक्त बात ही ठीक प्रतीत होती है। अनन्त काण्व यजु भाष्य के अन्त में लिखता है—

विभवेद्वत्सरे वर्षे श्रावणे कृष्णपक्षके ।
अर्कतिथ्यामर्कजदिने समाप्ता भाष्य पञ्जिका ॥१॥
अम्बा भागीरथी यस्य नागदेवः पिता सुधीः ।
काश्यां वासः सदायस्य चित्तं यस्य रमाप्रिये ॥८॥
त्रिपर्वतरसैकश्च मिते विक्रमे शके । (१६८३)
एषोऽधिकाश्यनन्तेन प्रणीतो ग्रन्थमुत्तमः ॥१६॥[५]

कुल—मद्रास के कोश के आरम्भ में लिखा है—

वन्दे श्रीपितृचरणान्] भट्टनागेषसंज्ञकान् ।
यत्प्रसादादहं प्राज्ञः सञ्जातो जडधीरपि ॥
वन्दे भागीरथीमम्बां......गुणशालिनीम् ।

पूना के कोश के अन्त में लिखा है—

अंबा भागीरथी यस्य नागदेवः पिता सुधीः ।
काश्यां वासः सदायस्य चित्तं यस्य रमाप्रिये ॥८॥

---

१. A Triennial Catalogue of Mss., Vol. III, part I, Sanskrit B, No. 2452.
२. एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकत्ता, नवीन सूची-पत्र, संख्या ६०० ।
३. पृ० ६६५-६६७, भाग २, नवीन सूचीपत्र ।
४. संख्या ५५२ ।
५. संग्रह सं. ३, वेष्टन ७८, क्वींस कालेज । देखें Sakas in India, पृ० ३७, सत्यश्रवा कृत ।

अर्थात्—पिता का नाम नागदेव या नागेश भट्ट था। माता भागीरथी थी, और काशी में वह रहता था। वह अपने को प्रथम शाखीय अर्थात् काण्वशाखीय लिखता है।

भाष्य—प्रतीत होता है, अनन्त ने उत्तरार्ध पर अपना भाष्य रचा है। मद्रास के कोश से यह बात स्पष्ट होती है—

व्याख्याता कण्वशाखीयसंहिता पूर्वविंशतिः।
माधवाचार्यवर्येण स्पष्टीकृत्य न चोत्तरा॥
अतस्तां व्याकरिष्ये ऽहमनन्ताचार्यनामकः।

अर्थात्—माधवाचार्य ने काण्व संहिता के पहले बीस अध्यायों का ही व्याख्यान किया है उत्तरार्ध के बीस अध्यायों का नहीं, अतः मैं अनन्ताचार्य नाम वाला उसकी व्याख्या करूंगा।

यह अनन्त कात्यायन श्रौत भाष्यकार से भिन्न है। अपने विधान पारिजात के तृतीय स्तवक के पृ० ४४२ पर उस अनन्त को उद्धृत करता है—

श्रीमदनन्तभाष्ये तु परेद्युरित्युक्तम्।

पूना कोश के अन्त में लिखा है—

कात्यायनकृतं सूत्रं ब्राह्मणं शतपथाभिधं।
पुरातनानि भाष्याणि निरुक्ताद्यंगमेव च॥४॥
आलोक्य सम्यग्बहुधा कृतं भाष्यमनुत्तम्।
सन्ति भाष्याण्यनेकानि प्रणीतानि हि सूरिभिः।

मद्रास कोश के आरम्भ में लिखा है—

अनेकग्रन्थमालोच्य दीपिका क्रियते मया।
बहूनि सन्ति भाष्याणि प्रणीतानि हि सूरिभिः॥
न पाण्डित्याभिमानेन न च वित्तस्य लिप्सया।
दीपिका रच्यते किन्तु लक्ष्मीकान्तस्य तुष्टये॥

अर्थात्—कात्यायनकृत सूत्र, शतपथब्राह्मण, पुराने भाष्य और निरुक्तादि अङ्गों को भले प्रकार देख कर यह अत्यन्त उत्तम भाष्य किया गया है। इसका नाम **भावार्थदीपिका** है। न तो अपने पाण्डित्य के अभिमान से, न ही धन के लोभ से, परन्तु लक्ष्मीकान्त अर्थात् विष्णु की प्रसन्नता के लिए किया गया है। अनन्त अपने भाष्य को कभी-कभी **वेददीप** भी कहता है—

अमुना वेददीपेन मया नीराजितो हरिः।

अर्थात्—इस वेददीप से मैंने विष्णु की पूजा की है।

काशीवासी महीधर भी अपने भाष्य को वेददीप कहता है। सम्भव है, अनन्त और महीधर समकालीन ही हों।

अनन्त के अन्य ग्रन्थ—१. शतपथ ब्राह्मण भाष्य। इस के १३वें अर्थात् अष्टाध्यायी काण्ड पर भाष्य का एक हस्तलेख मद्रास में है।[1]

२. कण्वकण्ठाभरण। इसके हस्तलेख भी मद्रास में है।[2]

३. याजुष प्रातिशाख्यभाष्य, **पदार्थप्रकाश**। इसके चार कोश कलकत्ता में हैं।[3]

४. भाषिकसूत्र भाष्य। इसका कोश एशियाटिक सोसाइटी नवीन संख्या १४६४ है।

५. विधान पारिजात का एक हस्तलेख यूनिवर्सिटी लायब्रेरी में है। कलकत्ता एशियाटिक सोसायटी में छपा विधान पारिजात इसी का है? इसके आरम्भ और अन्त के श्लोक इससे मिलते हैं।

६. प्रतिज्ञा भाष्य ?

७. कात्यायन-स्मार्त-मन्त्रार्थ-दीपिका। इसका कोश ऐशियाटिक सोसायटी में है।[4]

८. वेदार्थ-प्रदीपिका।[5] यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ था या नहीं, यह विचारणीय है।

४. कालनाथ—संवत् १२५० के समीप

कालनाथ के ग्रन्थ का नाम **यजुर्मञ्जरी** है। यह यजुर्मञ्जरी यजुर्विधानान्तर्गत लगभग २५० मन्त्रों का भाष्य है। कालनाथ अपने प्रारम्भिक श्लोकों में लिखता है—

विविच्य भाष्यं विविधांश्च कल्पान् एतस्य तोषाय मुद्रा व्यतानीत्।
भट्टस्वयम्भूतनयोऽत्र विद्वान् श्रीकालनाथः सहकारिभावम् ॥२५॥

अर्थात्—भाष्य को और अनेक कल्पों को देख कर इस राजा (महाराजदेव) की प्रसन्नता के लिए स्वयम्भूभट्ट के पुत्र कालनाथ ने इस ग्रन्थ को रचा।

काल—कालनाथ जिस राजा महाराजदेव का राज पण्डित था, उसके सम्बन्ध में उसने निम्न-लिखित श्लोक लिखे हैं—

अस्ति प्रशस्तं दिशि पश्चिमायामुच्चाभिधानं नगरं गरीयः ॥३॥
उच्चैस्तनारध्वरगावगाहं तीर्थं परं पञ्चनदं पवित्रम् ॥४॥
क्षितीश्वराः क्षत्रपदावतंसा तत्राविरासंस्तरुणप्रतापाः।
येषामभूत् वाघरनामधेयः प्ररूढशक्तिः प्रथमो नरेन्द्रः ॥५॥

अर्थात् पश्चिम दिशा में उच्च या (उध ?) नाम का एक प्रशस्त और बड़ा नगर है। वहां क्षत्रपदावतंस अनेक प्रतापी राजा हुए हैं। उनमें एक कुल का वाघर नाम का प्रथम राजा हुआ है।

अगले श्लोकों में उस राजा के वंश का निम्नलिखित वर्णन है—

---

१. A Triennial Catalogue of Mss. Vol. III, Part I, Sanskrit B, p. 3309-3312.
२. तथैव, पृ० ३३४३ और ३४२७।
३. एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल, कलकत्ता, नवीन सूचीपत्र, भाग २, पृ० ७४०-७४३।
४. देखें नवीन सूचीपत्र भाग २, संख्या ८४३।
५. पूर्वोक्त सूचीपत्र का पृ० ६६४।

वाघर
|
तोलोक
|
राम
|
हरिश्चन्द्र
|
सहदेव
|
हंसपाल
|
मंगल
|
वीरपाल
|
जयपाल और महाराजदेव

इसी अन्तिम राजा महाराजदेव के काल में यह ग्रन्थ रचा गया था।

भारत में पञ्चनद नाम के दो तीर्थस्थान हैं। परन्तु कालनाथ का पञ्चनद पाकिस्तान की रियासत बहावलपुर वाला ही प्रतीत होता है। वहीं पर एक उच्च नगर भी है। सम्भवतः वहीं के राजाओं का वर्णन कालनाथ ने किया है। यह स्थान कभी राजस्थान का भाग था।

एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल, कलकत्ता में यजुर्मञ्जरी का एक हस्तलेख संवत् १५८१ का है। अतः कालनाथ इससे तो पहले हुआ ही होगा। उच्च में मुसलमान राजाओं का आधिपत्य संवत् १२३२ से आरम्भ हो गया था। कालनाथ ने सब आर्य राजाओं का उल्लेख किया है। अतः वह संवत् १२३२ से पहले ही हुआ होगा।

सबसे अंतिम ग्रन्थ, जिसमें कालनाथोद्धृत एक प्रमाण मिला है, पार्थसारथि मिश्र की शास्त्र-दीपिका है। परन्तु पार्थसारथि का काल भी अनिश्चित ही है, अतः इस प्रमाण से पूर्वोक्त परिणाम से अधिक और कुछ बात नहीं निकाली जा सकती।

भाष्य—यजुर्मञ्जरी उवट-भाष्य की छायामात्र प्रतीत होती है। चाहे उसने उवट से उपयोगी सामग्री ली हो, या किसी ऐसे ग्रन्थकार से, जो उवट का भी आधार था।

यजुर्मञ्जरी का एक स्वल्प पाठ निम्न है—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥

द्वितीयं जुहोति। अत्र सूर्यः परापररूपेणावस्थितः स्तूयते। उदयकालादारभ्य तावदपररूपेण स्तूयते। चित्रमिति क्रियाविशेषणम्। चित्रं यथा स्यात्तथा उदगात्। आश्चर्यं स्वकीयेन ज्योतिषा शार्वरं

तमोऽपहत्यान्येषां च ज्योतिरादायोद्गच्छति। देवानां रश्मीनाम्नीकं मुखं। यच्चक्षुर्नेत्र मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। उपलक्षणं चैतत् सर्वस्यापि सदेवमनुष्यस्य जगतः। आदित्योदयेहि रूपाण्यवव्यज्यन्ते एतन्मण्डलाभिप्रायेण .....सकलिङ्गतयोच्यते। द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्ष च आप्राः.........।

उदयसमनन्तरमेव स्वकीयेन ज्योतिषा पूरितवान्। अथ पररूपेण स्तौति। पुरुषपरत्वेनोच्यते। जगतो जङ्गमस्य तस्थुषश्च स्थावरस्य च मध्यवर्ती सूर्य आत्मा। स्वरूपमात्मत्वेनोपास्य इत्यर्थ। तथा च श्रुतिः—'यमेवमादित्ये पुरुष वेदयन्ते स इन्द्रः। स प्रजापतिस्तद्ब्रह्म इति। एवं तावदधियज्ञगतोऽप्ययं मन्त्रोऽधिदैवमाचष्टे। अस्य मन्त्रस्याङ्गिरस ऋषिः सूर्यो देवता त्रिष्टुप् छन्दः। व्रीहिन्डुलानां पयसाक्तानां शतसहस्रं जुहुयात्। सर्वाति......महाव्याहृतिवत्कर्म।[1]

अर्थात्—इस मन्त्र से दूसरी आहुति दी जाती है। सूर्य के उदय की महिमा और आत्मभाव का इसमें वर्णन हैं। आश्चर्य है सूर्य रात्रि के अन्धकार को दूर कर समस्त तारागणों के प्रकाश को लेकर उदित हुआ है। रश्मियों का पुञ्ज है। मित्र, वरुण और अग्नि का ही प्रकाशमय नेत्र नहीं है वरन् सारे ही देव मनुष्यमय संसार का नेत्र है। इसके उदित होते ही समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष हो जाता है। पृथिवी लोक अन्तरिक्ष लोक और द्यु लोक प्रकाश से पूरित हो जाते है।

यह ही सूर्य स्थावर जङ्गमात्मक सृष्टि का आत्मा है। श्रुति भी आदित्य में रहने वाले पुरुष को इन्द्र, प्रजापति, ब्रह्म के भाव से प्रतिपादन करती है। अतः यज्ञ विषयक होता हुआ भी यह मन्त्र अधिदैव सम्बन्धी अर्थ का प्रतिपादक है। इसका ऋषि अङ्गिरा, देवता सूर्य और छन्द त्रिष्टुप् है। पायस से एक लक्ष आहुतियां देकर शेष सारा कर्म महाव्याहृति होम के समान समझना चाहिए।

५. मुरारिमिश्र—संवत् १४०० के समीप

मुरारिमिश्र ने पारस्करमन्त्रभाष्य नामक एक ग्रन्थ रचा है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, इसमें पारस्करगृह्यान्तर्गत मन्त्रों का भाष्य है। यह भाष्य मुरारिमिश्र ने अपने पिता वेदमिश्र कृत गृहभाष्य से सामग्री पृथक् करके बनाया है। इस वेदमिश्र का शान्तिभाष्य ८ पत्रों पर पूना के सूचीपत्र में है। उसका पहला श्लोक मुरारिमिश्र के श्लोकों से मिलता है। मुरारिमिश्र ने अपने श्लोक उसी की नकल करके लिखे हैं।[2] मुरारिमिश्र भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

प्रणम्य पूर्वं पुरुषं पुराणं तथैव कात्यायनपादपद्मम्।
तनोति पारस्करमन्त्रभाष्यं मुरारिमिश्रः पितृगृह्यभाष्यात्॥
गृह्यप्रकाशाभिधभाष्यगर्भाच्छ्रीवेदमिश्रैर्विधिवत् प्रणीतात्।
आकृष्य बन्धुं विदधाति मन्त्रे मुरारिमिश्रः श्रुतितो विविच्य॥

अर्थात् परमात्मा को और कात्यायन को नमस्कार करके पिता के गृह्यभाष्य से मुरारिमिश्र

१. पत्र १३।
२. पृष्ठ ३८४, संख्या ५४२।

पारस्करमन्त्रभाष्य का विस्तार करता है। वेदमिश्र ने जो गृह्यप्रकाश नामक भाष्य किया है, उससे मन्त्र लेकर और श्रुति से विवेचना करके मुरारिमिश्र मन्त्रभाष्य को करता है।

काल—एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल, कलकत्ता के नवीन सूचीपत्र भाग २ में संख्या ८४४ पर इस मन्त्रभाष्य का एक कोश है। वह संवत् १४३८ का लिखा हुआ है। इसी मन्त्रभाष्य का एक और हस्तलेख जम्बू के रघुनाथ मंदिर के पुस्तकालय में है। वह संवत् १४३० का लिखा हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि संवत् १४३० के पश्चात् यह ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

मुरारिमिश्र के विषय में निम्नलिखित बातें अधिक जाननी चाहिएं—

१. मुरारिमिश्र वेद-निघण्टु के लघुपाठ को उद्धृत करता है—

निघण्टुके सुखनामानि। बंशिगबाला। शतरा। शातपंता। शिल्गु। शेवृधं। स्यूमकं। मयः। सुरम्यं। सुदिनं। शूषं। शुनं। शं। भेषजं। जलाषं। स्योनं। इयेवं। शिवं। शग्मं। कदिति सुखस्य।

ये ते शतमित्यादि। शतसहस्रशब्दावत्र बहुत्वार्थौ। तथा च वेदनिघण्टुः—

उरु। तुवि। पुरु। भूरि। शश्वत्। विश्वं। परीणसा। व्यानशिः। शतं। सहस्रं। सलिलं। कुविदिति बहोः।[1]

इनमें से पूर्वगण के पाठों में मुद्रित निघण्टुओं में कुछ भेद है।

पत्र १८ क पर लिखा है—

संकल्पात्मकं मनः अन्तःकरणेन्द्रियं। हृदयाधारा च बुद्धिरिति भेदः सांख्यदर्शने श्रुतावपि च।

अर्थात् सांख्यदर्शन और श्रुति में मन और बुद्धि का यह भेद माना गया है कि संकल्पात्मक मन है और हृदयाधारा बुद्धि है।

अन्नप्राशन मन्त्रों के आरम्भ में लिखा है—

अन्नप्राशनमन्त्रार्थः पदवाक्यप्रमाणतः।
उद्धृत्य भाष्यात् क्रियते वेदमिश्रस्य सूनुना॥[2]

पुनः प्रथम काण्ड के मन्त्रों की समाप्ति पर लिखा है—

श्रीमद्दीक्षितविश्वरूपतनयः श्रीवेदमिश्रः श्रियो
नाथं कायमनोगिरामनुगमैराराध्य कामप्रदं।
हेरंबं च शिवां शिवं च सततं नत्वा विरंचि रविं
मन्त्रार्थं विवृणोति गृह्यविषये श्रद्धासमृद्ध्यै सतां॥
द्वितीयकांडस्य विविच्य भाष्यात्
श्रीवेदमिश्रैर्विधिवत्प्रयुक्तात्।
प्रारम्यते मन्त्रविभागभाष्यं
मुरारिमिश्रेण समाससारम्॥[3]

---

१. पूना का हस्तलेख, पत्र ४ ख।
२. पत्र ४९ ख, ५० क।
३. पत्र ५१ ख।

अर्थात् मुरारिमिश्र के पिता का नाम वेदमिश्र और पितामह का नाम दीक्षित विश्वरूप था। यहां प्रथम श्लोक में वह शिव को नमस्कार करता है, अतः वह शैव प्रतीत होता है।

औपनायनमन्त्रार्थो यथोद्देशं प्रकाशितः।
वेदमिश्रेण भाष्यात्तु तस्मादाकृष्य शिष्यते॥
गृह्यप्रकाशान्महाभाष्यादुधृत्यावशिष्यते।[1]

अर्थात् वेदमिश्र का गृह्यभाष्य, जिससे सामग्री लेकर यह मन्त्र-भाष्य रचा गया है, एक महाभाष्य था।

द्वितीय काण्ड के भाष्य के अन्त में पुनः लिखा है—

इति श्रीवेदमिश्रप्रणीतगृह्यप्रकाशाख्यान्महाभाष्यादुद्धृत्य मुरारिमिश्रकृतद्वितीयंकाण्डं समाप्तम्।[2]

उस गृह्य-महाभाष्य का अब कोई अस्तित्व ज्ञात नहीं होता। तीसरे काण्ड के भाष्य के आरम्भ में लिखा है—

तृतीयकाण्डमन्त्रार्थः पदवाक्याभिधानतः।
विविच्यते वेदमिश्रैर्नानाभाष्यानुसारतः॥

अर्थात् तृतीय काण्डस्थ मन्त्रों के अर्थ का विवेचन वेदमिश्र नाना भाष्यों के अनुसार करता है।

पहले दोनों काण्डों के मन्त्रार्थ के विषय में लिखा है कि उनका मन्त्रार्थ वेदमिश्र के भाष्य से लिया जाता है, और इस काण्ड के मन्त्रार्थ के विषय में उसने लिखा है कि यह उस वेदमिश्र के भाष्य के आधार पर है, जो नाना भाष्यों के अनुसार है। इसका यह अभिप्राय है कि वेदमिश्र के गृह्यमहाभाष्यान्तर्गत मन्त्रभाष्य में नाना वेदभाष्यों की सहायता ली गई थी।

काल—एशियाटिक सोसाइटी वङ्गाल, कलकत्ता के नवीन सूचीपत्र भाग २ में संख्या ८४४ पर इस मन्त्रभाष्य का एक कोश है। वह संवत् १४३८ का लिखा हुआ है। इसी मन्त्रभाष्य का एक और हस्तलेख जम्बू के रघुनाथ मंदिर के पुस्तकालय में है। वह संवत् १४३० का लिखा हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि संवत् १४३० के पश्चात् यह ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

इसके भाष्य का निम्न स्वल्प नमूना है—

अयाश्चाग्ने ऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि।
अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजम्॥

अयाश्चाग्न इत्यादि माध्यन्दिनीयान्तर्गतः शाखान्तरीयो मन्त्रः। माध्यन्दिन-शाखायाः कर्मणि गृहीतः। अस्यार्थो विविच्यते। प्रथमप्रसिद्धत्वात्। हे अग्ने त्वं अयाः असि। भवसि। या प्रापणे। न यातीत्ययाः। नित्यं सर्वत्र बाह्याभ्यन्तरेषु स्थितः। त्वमग्ने द्युभिः [यजुः ११। २७॥] इत्यादिश्रुतेः। यद्वा। अय गतौ। अयते सर्वत्र गच्छति। सर्वं जानाति वेत्ययाः। असुन्। अग्निः प्रियेषु धामसु [यजुः १२। ११७॥] इत्यादि श्रुतिः। यद्वै जात इदँ सर्वमयुवत तस्माद्यविष्ठः [शत० ७।५।२।३८॥]

१. पत्र ५३ ख।
२. पत्र ७५ क।

इति । धामानि त्रीणि भवन्ति ।[1] नामानि स्थानानि तेजांसीति च नैरुक्ताः । यदि वा । अयः शुभावहो विधिः । तत्प्रतिपादकः । कथंभूतः । अनभिशस्तिपाः । न अभिशस्तिं पातीति अनभिशस्तिपाः । शंसु प्रमादे । शंसु हिंसायां । अभिलक्षीकृत्य सर्वतोभावेन शंसनं प्रमादजोऽधर्मोऽभिशापोपवादः । सोऽभिशस्तिः । अभिशंसनं हिंसनं वा ऽभिशस्ति । स्त्रियां क्तिः । न अभिशस्तिरनभिशस्तिः । तया विशिष्टं कृत्वा पातीति अनभिशस्तिपाः । यदि वा । न विद्यते अभिशस्तिः शापो येषां ते अनभिशस्तयः । तान् पाति रक्षतीति । श्रुतिरपिअनाधृष्टमसि [यजु० ५ । ५ ॥] इत्यादि । अग्निरूपेणाज्यमुच्यते । हे वह्निरूपाज्य आज्यैः शपथकारिभिः त्वं अनाधृष्टं अनार्धषितं अनुल्लंघनीयं भवसि ।

पूर्वैः इदानींतनैरपि । अनाधृष्टं अनुल्लंघनीयं । किं च । देवानां तेजो भवसि । अनभिशस्तिपाः । अभिपूर्वः शंसतिर्गर्हायां वर्तते । न विद्यते अभिशस्तिर्यस्य तां पातीति । अभिशस्तेः परिरक्षतीत्यभिशस्तिपाः । अनभिशस्ते स्थाने स्वर्गे नयतीत्तनभिशस्तेन्यं तत् अनभिशस्तेन्यं । अंजसा प्रगुणेन मार्गेण यथा स्वरूपं । सत्यं नित्यं ब्रह्म । उपगेवं । उपगच्छेयमहं । अनेनैव सत्येन । स्विते मा धाः । सु इते साधुगते कल्याणवति लोके । नाके । मा मां । अधाः । निधेहि धारय ॥ हे अग्ने सत्यं तथ्यं । इत् एवार्थे । सत्यमेव । अयाः । शुभावहः असि । भवसि । पुनर्वचनं दाढर्यार्थं । पुनरप्ययाः कर्मप्रतिपादने समर्थः । कुशलः । नो ऽस्माकं यज्ञ यज्ञसंपादनीयं वस्तु हविः पुरोडाशादि । वहासि वहसि । वर्णागमः । डाच् वा । देवेभ्यः प्रार्थयसि तानित्यर्थः । पुनः पुनर्वचनं—भूयांसमर्थं मन्यन्ते । अग्निर्ज्योतिर्वत् । अयाः सुमनाः प्रसन्नो भूत्वा नो ऽस्मभ्यं धेहि देहि । भेषजं सुखोत्पादकमौषधमिष्टलक्षणं । भेषृ भये । भेषन्ति भेषन्ते वा । बिभ्यत्यस्मादिति भेषः श्वासजनको रोगो ऽधर्मादिस्तं जूनयतीति भेषजं । अथवा अयवयेत्वादि गत्यर्थे दण्डको धातुः । यज्ञं प्रति निष्पादनाय गन्ता । कर्मफलस्य साक्षित्वेन पाता वा ।

अर्थात्—यह मन्त्र माध्यन्दिनीय शाखा की अवान्तर शाखा में आया हुआ माध्यन्दिनी शाखा के कर्म में प्रयुक्त हुआ है । अयाः शब्द को भिन्न-भिन्न धातुओं से बना हुआ मानकर भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं । हे अग्निदेव ! तुम सब जगह जाने वाले वा सब कुछ जानने वाले हो । अथवा हे अग्निदेव ! तुम (सब के लिए) कल्याणकारक हो । हे अग्निदेव ! तुम हिंसारहित आचरण से (सब की) रक्षा करने वाले हो । अथवा हे अग्निदेव ! जो शापरहित जीव है, उनकी तुम रक्षा करने वाले हो । अथवा हे अग्निदेव ! तुम निन्दारहित जीवों की रक्षा करने वाले हो । हे अग्निदेव ! तुम सचमुच कल्याणकारक हो । तुम ही हमारे यज्ञ के पुरोडाश आदि पदार्थों को इष्ट देवताओं के पास पहुंचाते हो । आप प्रसन्न होकर हमें सुखोत्पादक औषध देवें ।

६. हलायुध—संवत् १२३२-१२५७

हलायुध ने काण्वसंहिता के मन्त्रों पर भाष्य किया है । उसके ग्रन्थ का नाम ब्राह्मणसर्वस्व है । ब्राह्मणसर्वस्व संवत् १९३५ में बनारस में छपा था । इस ग्रन्थ के हस्तलेख पर्याप्त संख्या में मिलते हैं । उनके देखने से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का अच्छा संस्करण निकलना चाहिए ।

१. तुलना करो निरुक्त ९ ।२८ ॥

१. अमरकोश १ । ४ । २७ ॥

हलायुध का मीमांसा सर्वस्व बिहार और उड़ीसा के रिसर्च जर्नल में जून-सितम्बर, सन् १९३१ के अङ्क से प्रकाशित होना आरम्भ हो गया है। यह कलकत्ता से १९६० में छप चुका है।

काल—हलायुध के सम्बन्ध में रायबहादुर मनमोहन चक्रवर्ती ने एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के जर्नल, सन् १९१५ में पृ० ३२७-३३६ तक एक लेख लिखा है। काणे महाशय ने भी अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में पृ० २३६-३०१ तक इसी सम्बन्ध में विचार किया है। इन दोनों महाशयों का मत है कि हलायुध संवत् १२३२-१२५७ तक ग्रन्थ लिखता रहा होगा। उनके इस विचार का आधार ब्राह्मण-सर्वस्व के आरम्भ का निम्नलिखित श्लोक है—

बाल्ये ख्यापितराजपण्डितपदं श्वेतार्चिबिम्बोज्ज्वल-
च्छत्रोत्सिक्तमहामहत्तनुपदं दत्त्वा नवे यौवने।
यस्मै यौवनशेषयोग्यमखिलक्ष्मापालनारायणः
श्रीमांल्लक्ष्मणसेनदेवनृपतिर्धर्माधिकारं ददौ।

अर्थात् बाल्य में जिसे राजपंडित का पद मिला। यौवनारम्भ में श्वेतछत्राधिकारी जो महामह बनाया गया। राजा लक्ष्मणसेनदेव ने जो राजाओं में नारायण था, उसे उत्तर यौवन में धर्माधिकारी बनाया।

यह राजा लक्ष्मणसेनदेव संवत् १२२७ से लगभग संवत् १२५७ तक राज्य करता रहा, अतः हलायुध का ग्रन्थ-निर्माण-काल संवत् १२३२-१२५७ तक ही समझना चाहिए।

मनमोहन चक्रवर्ती के अनुसार शुद्धिदीपिका का लेखक श्रीनिवास संवत् १२१७ में जीता था। उसके ग्रन्थ का एक प्रमाण हलायुध देता है, अतः हलायुध उसके पश्चात् ही हुआ होगा।

हलायुधोद्धृत ग्रन्थ वा ग्रन्थकार—हलायुध अनेक प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त पारस्करगृह्य-कर्कभाष्य, वेदभाष्यकार, यजुर्वेदभाष्यकार उवट, यज्ञपार्श्व, आदि ग्रन्थों को भी उद्धृत करता है।

हलायुध के ग्रन्थ—ब्राह्मणसर्वस्व के आरम्भ में हलायुध लिखता है—

मीमांसासर्वस्वं वैष्णवसर्वस्वं यत्कृतशैवसर्वस्वम्
पण्डितसर्वस्वमसौ सर्वस्वं सर्वधराणाम् ॥१९॥

अर्थात् मैंने मीमांसासर्वस्व, वैष्णवसर्वस्व, शैवसर्वस्व, पंडितसर्वस्व, रचे हैं। यह सब ग्रन्थ अभी तक मिल नहीं सके।

हलायुध अपने ब्राह्मण सर्वस्व में उवट भाष्य की बहुत सहायता लेता है।

७. आदित्यदर्शन—संवत् ९०० से पूर्व

आदित्यदर्शन ने कठमन्त्रपाठ अथवा सम्भवतः चारायणीय मन्त्रपाठ पर अपना भाष्य लिखा था। अपने कठगृह्यसूत्रविवरण के आरम्भ में वह स्वयं लिखता है—

प्रायेण मन्त्रविवृतौ विवृतं मयेवं
गृह्यं तथापि बहुभिः शबलीकृतत्वात्।

स्पष्टं सुयुक्ति लघुवाक्यविदामभीष्ट-
मिष्टं चिकीर्षुरहमत्र पुनर्विचित्रम् ॥

अर्थात् मन्त्रविवृति में मैंने प्रायः इस गृह्य का व्याख्यान कर दिया है, परन्तु अनेक व्याख्याकारों ने इसे दूषित कर दिया है, इस लिए इस अद्भुत, स्पष्ट और लघुवाक्य जानने वालों के अभीष्ट भाष्य को मैं पुनः करना चाहता हूं।

काल—काठकगृह्यपञ्चिका का कर्ता ब्राह्मणबल आदित्यदर्शन को उद्धृत करता है।[१] काठकगृह्यसूत्र का भाष्यकार देवपाल भी आदित्यदर्शन को उद्धृत करता है।[२] इससे प्रतीत होता है कि आदित्यदर्शन इन दोनों से पुराना था। परन्तु देवपाल और ब्राह्मणबल का भी अभी तक कोई निश्चित काल ज्ञात नहीं हो सका, अतः आदित्यदर्शन के काल सम्बन्ध में भी और कुछ नहीं कहा जा सकता।

कुल—अपने कुल के सम्बन्ध में आदित्यदर्शन लिखता है—

यो वेददर्शन इति द्विजवर्गमुख्यः
सत्यार्जवाशयविशुद्धगुणैः प्रसिद्धः।
आस्तिक्यनिर्मलमतिर्विहितानि चक्रे
चारायणीय चरणैकगुणः प्रदाता ॥
तस्यात्मजो विगतमत्सरमानसानां
मन्त्रार्थतत्त्वविदुषां जयनिन्द्रियाणि।
श्लाघ्यः श्रुताभिजनमाधवरातशिष्य
आदित्यदर्शन इमां विवृतिं व्यधत्त ॥[३]

इससे ज्ञात होता है कि आदित्यदर्शन के पिता का नाम वेददर्शन था। वह चारायणीय शाखा का एकमात्र जानने वाला था। आदित्यदर्शन के गुरु का नाम माधवरात था।

आदित्यदर्शन की चारायणीय मन्त्रविवृति वैदिक भाष्यों में एक अच्छा स्थान रखती है।

८. देवपाल

देवपाल का भाष्य भी कठ मन्त्र पाठ पर है। इस भाष्य का कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत देवपाल के कठगृह्यभाष्य के अन्तर्गत ही यह भाष्य भी है। देवपालभाष्य के पंजाब यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय के कोश के अन्त में लिखा है—

इति श्रीचारायणीमन्त्रभाष्यं भट्टहरिपालकृतं समाप्तम्।

काश्मीर संस्करण में प्रयुक्त दो में से एक कोश के अन्त में लिखा है—

---

१. काठकगृह्यसूत्र, लाहौर संस्करण, पृ० २८४।
२. वही।
३. काठकगृह्यसूत्र, काश्मीर संस्करण, भूमिका, पृ० २।

इति चारायणीयमन्त्रभाष्यं कृतिः श्रीमदाचार्यवर्यस्वामि-भट्टारकहरिपालपूज्यपादानाम् ।

इन दोनों लेखों से यह बात सम्भव होती है कि मन्त्र भाष्य हरिपाल का ही हो और पुत्र देवपाल ने अपने पिता का भाष्य ही अपने गृह्यभाष्य में सन्निविष्ट कर लिया हो।

देवपालभाष्य के अनेक अध्यायों के अन्त में लिखा है—

इति जलन्धरीय जयपुरवास्तव्य भट्टोपेन्द्रसूनुहरिपालपुत्र-देवपालविरचिते समन्त्रककाठक-गृह्यभाष्ये............।

इससे ज्ञात होता है कि देवपाल के कुल का मूल स्थान कोई जलन्धर नगर था परन्तु उसका वास जयपुर में था। उसके पिता का नाम हरपाल और पितामह का नाम भट्ट उपेन्द्र था।

उपेन्द्र हरिपाल गौडवहो की टीका का कर्ता है। उसके अन्त में भी वह अपने आप को जालन्धरीय लिखता है। गौडवहो की टीका में एक आगम[१], जयदेव छन्द[२], व्यास[३] तथा अभिसारिका लक्षण[४] को उद्धृत करता है।

देवपाल योगसार को भी उद्धृत करता है।[५] काठक गृह्यसूत्र में ही जिनेन्द्र और उसके एक लक्षण का उद्धरण मिलता है।

भाष्य—देवपाल अथवा हरिपाल का भाष्य कर्ता की महती योग्यता का परिचय देता है। इस भाष्य में निघण्टु और निरुक्त का नाम यद्यपि कम स्मरण किया गया है, तथापि उसके भाव का स्थान स्थान पर आश्रय लिया गया है। भाष्य में कहीं कहीं अध्यात्मिक अर्थ की भी झलक पड़ती है। उसके मन्त्र भाष्य में एक मन्त्र का भाष्य लिखा जाता है—

तस्मा अरंगमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥

यस्येति व्यत्ययेन कर्मणि षष्ठी। हे **आपः** यं रसं प्राणिषु **जिन्वथ**। जि जये। लट्। व्यत्ययेन श्नुः। ततः शप् बाहुलकात् क्वचिद्द्विविकरणादिता हुश्नुवोः सार्वधातुके [६।४।८७] इति यणादेशः। अनेकार्था धातवः। तेनायमर्थः—जयथोपचिनुथ वा। किमर्थम्। **क्षयाय**। क्षि निवासगत्योः। भूतानां निवासाय स्थितये गमनाय च नानारूपकर्मोपभोगार्थचेष्टायै ज्ञानाय च। **तस्मै अरङ्गमाम वः**। गत्यर्थकर्मणि [२।३।१२] इति कर्मणि चतुर्थी। तं युष्माकं सम्बन्धिनं रसं तूर्णमलं पर्याप्तं वा कृत्वा गच्छेम जीवनार्थमासादयामाशास्महे इति भोगासक्तैरद्भ्य आशास्यते।

---

१. पृ० ५४, पूना संस्करण, १९२७।
२. पृ० २२२, वही!
३. पृ० २४८, २६४, वही।
४. पृ० ३२०, वही।
५. पृ० १५१, पंक्ति प्रथम, भाग दूसरा, काठकगृह्यसूत्र।

मुमुक्ष्वभिप्रायेण त्वित्थं योजना—हे **आपः यस्य** परमात्मनः **क्षयाय** नित्यानन्दद्वारेणनुज्ञानाय **जिन्वथ** यतध्वम्। तं युष्माकमेव संबन्धिनं परं स्वभावं वयं युष्मत्प्रसादात्पूर्णं पर्याप्तं वा कृत्वा गच्छेम जानीयाम प्राप्नुयाम च, मोक्षप्राप्तिरस्माकमस्त्वित्याशास्महे इत्यर्थः। **आपो जनयथा च नः** यस्माद्युष्मत्-प्रसादादेवमाशास्महे तस्मादस्मान् मोक्षप्राप्तियोग्यान् जनयध्वं कुरुध्वम्। महानुभावत्वादेकैव च सर्वत्र देवता ब्रह्मरूपा आदित्यरूपा वा श्रूयते।

यहां दो प्रकार का अर्थ किया गया है। एक याज्ञिक और दूसरा अध्यात्मिक। एक और मन्त्र है—

आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म।

इस मन्त्र में **आपः** आदि चारों पद ब्रह्म के विशेषण माने गए हैं—

तत्र ब्रह्मेति विशेष्यपदम्। आप इत्यादीनि चत्वारिविशेषणपदानि। ब्रह्म विशेष्य है। वही ब्रह्म व्यापक होने से आप, ज्ञान और प्रकाशयुक्त होने से ज्योति, सारवाला होने से रस और नित्यानन्द तथा परमाविनाशी होने से अमृत कहा गया है। अन्यत्र भी वह **चित्रं देवानाम्, हंसः शुचिषत्**, आदि मन्त्रों का ब्रह्मपरक अर्थ अरता है।[1]

इस भाष्य में कठसंहितास्थ अनेक कठिन मन्त्रों का अर्थ मिल जाता है।

६. सोमानन्दपुत्र

सोमानन्द का कोई पुत्र था उसने भी कठ मन्त्रपाठ पर भाष्य किया है। उस के भाष्य का एक कोश जम्बू में है। उस का दूसरा मंगलश्लोक निम्नलिखित है—

विजयेश्वरवास्तव्यसोमानंदस्य सूनुना।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः ॥२॥

इस श्लोक का उत्तरार्ध उवट भाष्य के एक श्लोकार्ध की नकल है। कोश में केवल १२ पत्रे हैं। ग्रन्थ अपूर्ण है।

१. काश्मीर संस्करण पृ० ५४, ५५।

पाचवां अध्याय

तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार

१. कुण्डिन—पांचवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व

काण्डानुक्रमणी नाम का एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसका सम्बन्ध तैत्तिरीयसंहिता से है। उसमें लिखा है—

यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः।

अर्थात्—जिस शाखा का पदकार आत्रेय है, और जिसका वृत्तिकार कुण्डिन है।

काण्डानुक्रमणी में जिस प्रकार यह लेख आया है, उससे प्रतीत होता है कि कुण्डिन बहुत प्राचीन काल का व्यक्ति है। काल की दृष्टि से उसका पदपाठकार से थोड़ा सा ही अन्तर होगा।

पदपाठकार का काल भी नया नहीं है। प्रायः सारे पदपाठकार महाभारत काल के एक दो शताब्दी पश्चात् हो चुके थे। तभी यह वृत्तिकार कुण्डिन भी हुआ होगा। फिर भी सावधानी के लिये हमने इस का काल न्यून से न्यून पांचवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व का माना है।

बौधायनगृह्यसूत्र ३।९।६।। में लिखा है—

कौण्डिन्याय वृत्तिकाराय

इस से ज्ञात होता है कि वृत्तिकार का नाम कौण्डिन्य था। कुण्डिन और कौण्डिन्य में बड़ा भेद है। वृत्तिकार के इस नामभेद का कारण हम अभी नहीं कह सकते।

२. भवस्वामी—आठवीं शताब्दी से पूर्व

भट्ट भास्कर तैत्तिरीय संहिता भाष्य के प्रथम काण्ड के पृ० २ के अन्त में लिखता है—

वाक्यार्थैकपराण्यधीत्य च भवस्व म्यादिभाष्याण्यतो।
भाष्यं सर्वपथीनमेतदधुना सर्वांयमारम्यते।।

अर्थात्—वाक्यार्थ मात्र करने वाले भवस्वामी आदि के भाष्यों को पढ़ कर यह सर्वांग पूर्ण भाष्य का आरम्भ किया जाता है।

इस से स्पष्ट है कि भवस्वामी भट्टभास्कर से पूर्व का व्यक्ति है। वर्नल तञ्जोर के सूचीपत्र पृ० ७ पर लिखता है कि भट्ट भास्कर दशम शताब्दी में हुआ था। इसलिए यह निश्चित है कि भवस्वामी दशम शताब्दी से पहले हो चुका था।

त्रिकाण्ड मन्डन १।१०।१।। में केशव स्वामी का नाम मिलता है। त्रिकाण्ड मण्डन लगभग ११वीं शताब्दी का ग्रन्थ है।[1] केशव स्वामी इस से कुछ पूर्व हुआ होगा। यह केशव स्वामी अपने बौधायन प्रयोगसार के आरम्भ में लिखता है—

नारायणादिभिः प्रयोगकारैरेकं पक्षमाश्रित्य दर्शपूर्णमासादीनां प्रयोग उक्तः। आचार्यपादैः द्वैधे पक्षान्तराण्युक्तानि। भवस्वामीमतानुसारिणा मया तु उभयमप्यङ्गीकृत्य प्रयोगसारः क्रियते।

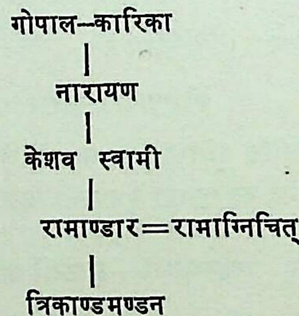
अर्थात्—नारायणादि प्रयोगकारों ने एक पक्ष का ही आश्रय लेकर प्रयोग कहा है। आचार्यपाद ने द्वैध में भी पक्षान्तर कहे हैं। भवस्वामी मतानुसार मैं दोनों को अङ्गीकार करके प्रयोगसार लिखता हूं।

जिस नारायण को केशव स्वामी उद्धृत करता है, वह बौधायन सूत्र का प्रयोगकार है। वह अपने प्रयोग में एक गोपाल को उद्धृत करता है—**पश्चार्धात् पूर्वार्धादिवदायेति गोपालः।**[2]

केशव स्वामी गोपालकारिका को उद्धृत करता है और गोपालकारिका में भवस्वामी उद्धृत है। यही गोपाल है जो अपनी बौधायन-कारिकाओं में भवस्वामी का स्मरण इस प्रकार करता है—
इति द्वैधोदिताः पक्षा भवस्वामिमतानुगाः।

रामाग्निचित्त=अण्डार केशव स्वामी को आपस्तम्ब श्रौत वृत्ति ६।४।४२।। पर उद्धृत करता है। रामाण्डार आपस्तम्ब श्रौत वृत्ति ६।२।८।३६।। पर भवस्वामी को भी उद्धृत करता है।[3]

अतः यह सम्बन्ध इस तालिका से सुस्पष्ट हो जाता है—



---

१. पाण्डुरंग वामन काणे का भी यही मत है। वह अपने "धर्मशास्त्र का इतिहास" पृ० २५१ पर लिखते हैं—TriKanda Mandana (who flourished beforc 1100 A.D.)

२. सूचीपत्र, रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई शाखा, पृ० १८३, १८४, भाग २, सन् १९२८।

३. पृ० १४७, भाग ३, मैसूर संस्करण।

ये ग्रन्थकार जिस प्रकार भवस्वामी का कथन करते हैं, उससे प्रतीत होता है कि भवस्वामी पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थकार है। कम से कम वह आठवीं शताब्दी विक्रम से पहले अवश्य हुआ होगा।

कुतूहल वृत्ति पृ० १८३ में भवस्वामी की एक पंक्ति उद्धृत है।

भावनापुरुषोत्तम नाटक का कर्त्ता श्रीनिवास भवस्वामी का पुत्र था। यह भवस्वामी बौधायन श्रौत सूत्र विवरण का भी कर्त्ता था।[1]

भवस्वामी ने तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, और बौधायन श्रौत पर अपने भाष्य व विवरण लिखे थे। इनमें से अब श्रौत विवरण के ही भिन्न भिन्न भाग भिन्न भिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं।

एक भवस्वामी का नारद स्मृति भाष्य भी मिला है।

भट्टभास्करादि भाष्यकार भी भवस्वामी का स्मरण करते हैं, यह हम अन्यत्र लिख चुके हैं। ये ग्रन्थकार जिस प्रकार से भवस्वामी का कथन करते हैं, उससे प्रतीत होता है कि भवस्वामी पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थकार है। कम से कम वह आठवीं शताब्दी विक्रम से अवश्य पहले हुआ होगा।

भवस्वामी का तैत्तिरीयसंहिता भाष्य अब भी प्राप्त हो जायगा, ऐसी मुझे दृढ़ आशा है।

३. गुहदेव अथवा गुहदेवस्वामी—आठवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व

देवराज यज्वा अपने निघण्टु भाष्य की भूमिका में लिखता है कि गुहदेव का कोई वेद भाष्य था। यह भाष्य किस वेद पर था? निघण्टु १।३।१४॥ पर भाष्य करते हुए वह पुनः लिखता है—

तथा च—रश्मयश्च देवा गरगिरः—इत्यत्र गुहदेवः—
गरमुदकं गिरन्ति पिबन्तीति गरगिरः—इति भाष्यं कृतवान्।[2]

रश्मयश्च देवा गरगिरः यह मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक में है। इस से प्रतीत होता है कि गुहदेव का भाष्य तैत्तिरीय संहिता पर था।

पुरुषोत्तम पण्डित अपनी प्रवरमञ्जरी में कहता है कि गुहदेव स्वामी ने भी सम्भवतः आपस्तम्ब श्रौत पर भाष्य किया था।[3]

काल—आचार्य रामानुज अपने वेदार्थसंग्रह में लिखता है—

यथोचितक्रमपरिणतभक्त्येकलभ्य एव भगवद्बोधायन-टङ्क-द्रमिड-गुहदेव-कपर्दि-भारुचि-प्रभृत्यविगीत-शिष्टपरिगृहीत-पुरातन-वेद-वेदान्तव्याख्यान-सुव्यक्तार्थ-श्रुतिनिकरनिदर्शितोऽयं पन्थाः।[4]

इस वाक्य में रामानुज वेद और वेदान्त के पुरातन व्याख्यानों का वर्णन करता है। जिन

१. देखें टी० आर० चिन्तामणी कृत राजचूडामणि रुक्मणी कल्याण की भूमिका।
२. यह पाठ हम ने शोध कर लिखा है।
३. पृ० १३, पंक्ति १४, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
४. काशी संस्करण, संवत् १९५२, पृ० १४८।

ग्रन्थकारों को रामानुज पुरातन ग्रन्थकार कहता है, वे उस से ४०० वर्ष से भी कहीं पूर्व के होंगे। रामानुज के स्मरण किए हुए उन्हीं पुरातन ग्रन्थकारों में से **गुहदेव** भी एक है। रामानुज गुहदेव के तैत्तिरीय संहिता भाष्य से अवश्य परिचित था। उसके लेख से यह भी प्रतीत होता है कि गुहदेव के भाष्य का झुकाव अध्यात्म पक्ष की ओर था।

गुहदेव का भाष्य आठवीं शताब्दी विक्रम से कहीं पहले का होगा। वह भवस्वामी से पहले था, या पीछे, इस विषय में हम अभी तक कुछ नहीं कह सकते। हमारा अनुमान है कि भट्टभास्कर मिश्र अपने तैत्तिरीय संहिता भाष्य के आरम्भ में **भवस्वाम्यादिभाष्य** पद से भवस्वामी के साथ गुहदेव आदि भाष्यकारों का भी स्मरण कर रहा है। राणांडार गुहदेवस्वामी को उद्धृत करता है।[1]

मेरा विश्वास है कि यत्न करने पर गुहदेव का भाष्य अब भी मिल सकता है।

४. कौशिक भट्टभास्करमिश्र—११वीं शताब्दी विक्रम

ऋग्वेद के सायण भाष्य के स्वकीय संस्करण के प्राक्कथन में मैक्समूलर लिखता है—"सायण निम्नलिखित स्थलों में भट्टभास्कर का उल्लेख करता है—

ऋग्वेद भाष्य १।६३।४॥; १।७१।४॥; १।८४।१५॥; ६।१।१३॥ तथा ७।१।७॥ इस के आगे मैक्समूलर लिखता है कि भट्ट भास्कर के ये प्रमाण सायण ने सम्भवतः उस के तैत्तिरीय भाष्यों में से लिए होंगे।"[2]

मैक्समूलर ने यह लेख सन् १८७४ में लिखा था। सन् १९०६ में सायण और भट्ट भास्कर भाष्य युक्त रुद्राध्याय की भूमिका में वामन शास्त्री ने लिखा था।

भट्टभास्यकरीयं माधवाचार्यान्न प्राचीन इति तु निश्चितमेवेति। अर्थात् यह भट्ट भास्कर माधवाचार्य (सायण) से प्राचीन नहीं, यह निश्चित है।

यहां यह वर्णन कर दिया जाय कि शिवरहस्य का बारहवां अंश रुद्रभाष्य कहाता है। इसमें एक लाख श्लोक का इतिहास है। भास्कर ने अपने रुद्राध्याय भाष्य में इस से विशेष सहायता ली है। यह शिव रहस्य स्कन्द के शिव रहस्य खण्ड से पृथक् है। तंजोर सूचीपत्र में रुद्र भाष्य के अन्त में बहुधा **ज्ञानयज्ञ** लिखा है। इस से यही प्रतीत होता है कि भट्ट भास्कर मिश्र ही उसका कर्त्ता है।

सन् १९२१ में आर० शाम शास्त्री ने भट्ट भास्कर भाष्य युक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण द्वितीयाष्टक के उपोद्घात में लिखा था—"**स क्रिस्ताब्दानां पञ्चदशशतकस्यान्ते प्रायेण समासीदिति संभाव्यते।...... एष निष्पावके..........।**[3]

इत्ययं श्लोकस्तृतीयकाण्डभाष्यस्यादौ दृश्यते। अत्र 'निष्पावके शाके' इति शब्दयोजना काचिम-

१. पृ० १०६, भाग दूसरा, ६।७॥ आपस्तम्ब श्रौत सूत्र।

२. पृ० १३०, भाग ४, ऋग्वेद भाष्य, दूसरा संस्करण।

३. यह श्लोक अन्तिम पद के थोड़े से परिवर्तन के साथ तैत्तिरीय ब्राह्मण भट्टभास्कर भाष्य के दूसरे अष्टक के पृ० ४३ पर भी मिलता है।

वेत्याद्यक्षरगणितानुसारेण १४२० तमशकाब्दसमकालिकत्वं ग्रन्थकर्तुर्द्योतयतीति संभाव्यते ।......... भट्टभास्करेण कृतं भाष्यं तदीय सायणभाष्यस्यैवानुवाद इति भाति ।"

अर्थात्—भट्टभास्कर ईसा की १५वीं शताब्दी के अन्त में हुआ था। इस में प्रमाण भास्कर का अपना श्लोक है। उस श्लोक के **निष्पावके शाके** का अर्थ १४२० शकाब्द बनता है। भट्टभास्कर का भाष्य सायण भाष्य का अनुवाद मात्र है।

भट्टभास्कर सायण का पूर्ववर्ती– भट्ट भास्कर भाष्य से लिए हुए पांच प्रमाणों में से जिन्हें मैक्समूलर ने ऋग्वेद के सायण भाष्य में पाया, तीन ठीक उन्हीं शब्दों में भट्ट भास्कर के भाष्यों में मिलते हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) ऋग्वेद १।६३।४।।	सायण	**पराचैरित्येतदव्ययं नीचैरुच्चैरिति वदति भट्टभास्करमिश्रः ।**
तै० सं० १।४।३६[२]।।	भट्ट भास्कर	**पराचैः...उच्चैरादिवदव्ययं द्रष्टव्यम् ।**
तै० सं० १।८।२२[४२]।।	भट्ट भास्कर	**पराचैः ..निपातोयं यथा उच्चैः नीचैः ।**
(२) ऋग्वेद १।८४।१५।।	सायण	**अपीच्योऽप्रकाश इतिभट्टभास्करमिश्रः ।**
तै० सं० ७।४।१६[५८]।।	भास्कर	**अपीच्यः अप्रकाशः ।**
(३) ऋग्वेद ६।१।१३।।	सायण	**भट्टभास्करमिश्रो ऽप्येकपदं सम्बुध्यन्तं (वसुताते) चकार ।**
तै० ब्रा० ६।१०[१३]।।[१]	भास्कर	**हे वसुताते । वसूनां धनानां कर्तः ।**

सायणीय ऋग्वेद भाष्यान्तर्गत ७।१।७।। पर उद्धृत चौथा प्रमाण तैत्तिरीय संहिता के चतुर्थ काण्ड से लिया गया प्रतीत होता है। निघण्टु भाष्यकार यज्वा भी २।१४।३७।। पर भास्कर के इसी प्रमाण को उद्धृत करता है। तैत्तिरीय संहिता चतुर्थ काण्ड पर अभी तक भास्कर का भाष्य नहीं मिला। इसलिए हम इस प्रमाण के खोजने में अशक्त हैं।

ऋग्वेद १।७१।४।। का प्रमाण हम नहीं खोज सके। इतने से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि भट्टभास्कर मिश्र सायण से पूर्वकाल का था।

भट्ट भास्कर देवराज यज्वा का पूर्ववर्ती—देवराज यज्वा सायण से कुछ पूर्वकालीन है सायण ऋग्वेद भाष्य १।६२।३।। में **इति निघण्टुभाष्य** कह कर एक वचन उद्धृत करता है। वह वचन देवराज यज्वा के निघण्टु भाष्य में पद के व्याख्यान में मिल जाता है। इससे कुछ-कुछ निश्चित होता है कि देवराज सायण से पूर्वकाल का है। पर इस प्रमाण पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों की टीकाओं के पढ़ने से हम जानते हैं कि एक के पीछे दूसरा टीकाकार प्रायः वैसे ही शब्द रखता हुआ, टीका करता चला जाता है। इसी प्रकार सम्भव है कि देवराज यज्वा ने यह वचन निघण्टु के किसी पूर्वकाल के टीकाकार से ले लिया हो। सायण भी उसे ही उद्धृत करता हो। पर एक और

१. तैत्तिरीय संहिता में यह मन्त्र नहीं है।

बात है, जो इस सन्देह की उपस्थिति में भी निश्चित करती है कि देवराज यज्वा सायण से तीस-चालीस वर्ष पहले हो चुका था।

देवराज यज्वा अपने निघण्टु भाष्य की भूमिका में चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ तक के भरत स्वामी आदि भाष्यकारों को उद्धृत करता है। पर सायण, माधव के भाष्यों को उसने कहीं भी उद्धृत नहीं किया। यद्यपि किसी को उद्धृत न करना इस बात को सिद्ध नहीं करता कि ग्रन्थकार उसे जानता ही नहीं, अथवा वह व्यक्ति ग्रन्थकार के काल से उत्तरवर्ती है, पर इस स्थान विशेष पर हम जानते हैं कि सायण, माधव को उद्धृत न करने वाला देवराज यज्वा उनसे पहले का है।

यही देवराज यज्वा अपने निघण्टु भाष्य में भट्ट भास्कर को उद्धृत करता है। उन उद्धरणों में से चार प्रमाण हम नीचे लिखते हैं—

(१) निघण्टु १।१।१६।।	देवराज	सर्वार्थपोषणात् पूषा इति भट्टभास्करमिश्रः।
तैत्तिरीय संहिता १।२।२[४]।।	भास्कर	पृथिवी पूषा सर्वार्थपोषणात्।
(२) निघण्टु १।१।१६।।	देवराज	भट्टभास्कर मिश्रेण..............ब्रध्नं परिवृढम् अरुषमारोचनम् इति।
तैत्तिरीय संहिता ७।४।२०[४]।।	भास्कर	ब्रध्नं परिवृढमश्वं अरुषं अरोषणम् ?
तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।९।४[१]।।	भास्कर	आरोचनादरुषः।
(३) निघण्टु २।१४।५६।।	देवराज	अग्ने संवेषिष ....समन्तात्प्रापय, इति भट्टभास्करमिश्र।
तैत्तिरीय संहिता १।६।११[११]।।	भास्कर	सुसंवेषिषः सुष्ठु समन्तात्प्रापय।
(४) निघण्टु १।११।२४।।	देवराज	भट्टभास्करमिश्रः—स्वयं सरस्वती आह ब्रूते। स्वैव ते वागित्यब्रवीत् इति ब्राह्मणम्।
तै० सं० १।१।३[५]।।	भास्कर	स्वाहा स्वयमेव सरस्वती आह ब्रूते। स्वैव ते वागित्यब्रवीत् ।इत्यादि ब्राह्मणम्।[१]

इस तुलना से पूरा निश्चित हो जाता है कि भट्ट भास्कर देवराज यज्वा से भी कुछ पहले काल में था।

सायण से कुछ ही पहले काल का[२] **अस्यवामीय** सूक्त का भाष्यकार आत्मानन्द भी अपने ग्रन्थ की भूमिका में वेद भाष्यकारों में भट्ट भास्कर का नाम लिखता है।

---

१. ३।२।३।। तै० ब्रा०।

२. देखें, मैक्समूलर कृत "प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास" पृ० १२३। अस्यवामीय सूक्त भाष्य के पुस्तकालयों में तीन हस्तलेख ज्ञात हैं। (१) इण्डिया आफिस लण्डन में (२) पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर में। (३) बड़ोदा में।

भट्ट भास्कर के भाष्यों में उस के काल पर प्रकाश डालने वाली सामग्री—तैत्तिरीय संहिता भाष्य १।८।१०[१६] ।। पर भट्ट भास्कर लिखता है —**तस्मादिममामुष्यायणं सिंहवर्मणः पुत्रं नन्दिवर्माणं .... सुवध्वम्** ।

तैत्तिरीय संहिता भाष्य १।८।११[१]।। में दो राजाओं के नाम मिलते हैं ।

(१) राजसिंह वर्मा ।

(२) राजेन्द्र वर्मा ।

तैत्तिरीय संहिता भाष्य १।८।१२[२२]।। पर लिखा है—**अयं च यजमानः असौ नरसिंहवर्मा आमुष्यायणः राजेन्द्रवर्मणो ऽपत्यमिति......पितुर्नाम गृह्यते, राजेन्द्रायण इति यथा** ।

पुनः तैत्तिरीय संहिता भाष्य २।३।१।। तथा २।३।४।। में राजा वीरसिंह वर्मा का नाम मिलता है ।

यदि यह ऐतिहासिक नाम उस ने स्वयं लिखे हैं, तो बहुत् सम्भव है कि वह इन में से किसी राजा का समकालीन हो । यदि उस ने पुराने भाष्यकारों से ही लेकर ये नाम लिख दिए हैं, तो वह इनका कितना उत्तरवर्ती हो सकता है । ऐसी दशा में वर्नल कथित दशम शताब्दी ही अभी तक भट्ट भास्कर का काल मानना पड़ता है ।

बर्नल तन्जौर के सूची पत्र पृ० ७ के प्रथम कालम में लिखता है— **निष्पावके शाके** का अर्थ ही **अनुमुल भट्ट भास्कर** है । वह तैलुगु ब्राह्मण था । तैलुगु ब्राह्मण ही अपने कुल नामों के स्थान में पौधों के नाम लेते हैं । शामशास्त्री ने दाक्षिणात्य होते हुए भी इस बात का ध्यान नहीं किया, अतः उसका **निष्पावके शाके** का १४२० शकाब्द अर्थ, कल्पनामात्र है ।

भट्ट भास्कर अपने भाष्यों में एक-एक शब्द के बहुधा दो-दो, तीन-तीन अर्थ देता है । अपने काल का यह अच्छा विद्वान् होगा । स्वर प्रक्रिया का इसे प्रशस्त ज्ञान था । कहीं कहीं मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ भी कर जाता है । पूर्व भाष्यकारों को केचित्, अपरे, अन्ये आदि कह कर ही उद्धृत करता है ।

काल—(१) संवत् १४२० के समीप का विश्वेश्वर भट्ट या मान्धाता अपने महार्णव में भट्ट भास्कर को उद्धृत करता है—

इति तैत्तिरीयशाखानुसारेण चमकानुवाकाः ।।छ।। अथ नमकैरवांतरवाक्यानां प्रयोगः । भास्करादिविनिर्दिष्टभाष्यदृष्टः ।

(२) सायण भट्ट भास्कर मिश्र को उद्धृत करता है ।

(३) देवराज यज्वा भट्ट भास्कर मिश्र को उद्धृत करता है

(४) सायण का समकालीन वेदान्तदेशिक अपने न्यायपरिशुद्धि, द्वितीय आह्निक, पृ० ८७ पर वेदाचार्य को उद्धृत करता है । यह वेदाचार्य अपर नाम लक्ष्मण **सुदर्शन मीमांसा** का कर्ता है । वेदाचार्य का काल संवत् १३०० से कुछ पहले का है । वह वल्लाल-नामक राजा का समकालीन था । यह सुदर्शन मीमांसा के पृ० चार और आठ पर क्रमशः लिखता है—

(क) तथा भाष्यकृता भट्टभास्करमिश्रेण ज्ञानयज्ञाख्ये भाष्ये एतत्प्राणव्याख्यानसमये चरणमिति देवताविशेष इति तदनुगुणमेव व्याख्यातम् ।

(ख) एवं यजुर्वेदभाष्येषु कदैवत्यत्वं प्रवर्ग्योत्तरशान्त्यनुवादकत्वं ज्ञानयज्ञादिषु होतुराज्य विनियोगादग्निदैवत्यत्वम् ।

इन दोनों प्रमाणों से पता लगता है कि वेदाचार्य भट्ट भास्करमिश्र के ज्ञानयज्ञ भाष्य से सुपरिचित था ।

(५) मद्रास विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सूर्यनारायण शास्त्री का मत है कि वेदान्त सूत्र का शैव भाष्यकार श्रीकण्ठ सम्भवतः भट्ट भास्कर के तैत्तिरीय आरण्यक भाष्य से परिचित था । इस आरण्यक के भाष्य में भट्ट भास्कर लिखता है—**सैषा मुक्तानामीश्वरस्य च साक्षादर्थक्रियाहेतुः परम्परया त्वन्येषाम्** ।[1]

वेदान्तसूत्र के भाष्य में श्रीकण्ठ लिखता है—**परशक्तिर्हि ब्रह्मणः स्वरूपतया परमाकाश उच्यते या मुक्तानां परमेश्वरस्य च साक्षादर्थक्रियाहेतुः परम्परयान्येषाम्** ।[2]

इस स्थान में और अन्य स्थानों में भी इन दोनों ग्रन्थकारों के वाक्यों में इतनी समानता है कि एक दूसरे से भाव ग्रहण करता हुआ प्रतीत होता है। इससे प्रो० सूर्यनारायण का अनुमान है कि श्रीकण्ठ जो रामानुज का समकालीन ज्ञात होता है, भट्टभास्कर को जानता है । परन्तु उक्त प्रोफेसर भी इस विषय में निश्चित नहीं है ।[3] अस्तु इन दोनों ग्रन्थकारों की सदृशता ध्यान में रखने योग्य है ।

(६) भट्ट भास्कर आर्यभट्टीय,[4] अमरकोश,[5] और काशिका[6] को उद्धृत करता है। इस से इतना निश्चित होता है कि वह सातवीं शताब्दी ईसा से पश्चात् हुआ है ।

(७) भट्ट भास्कर ने एकाग्निकाण्ड मन्त्रों पर अपना भाष्य लिखा है । तैत्तिरीय संहिता भाष्य की भूमिका में वह एकाग्निकाण्ड को तैत्तिरीयों के अन्तर्गत मानता है। मेरा अनुमान है कि भट्ट भास्कर के एकाग्निकाण्ड भाष्य की ओर ही निम्नलिखित वाक्य में हरदत्त का संकेत है—**तत्र वैश्वदेवे सोमाय स्वाहेति द्वितीयाहुतिरिति मन्त्रव्याख्याकारेणोक्तम्** । ३।७।२९।। आपस्तम्बगृह्य भाष्य ।

आपस्तम्बगृह्य भाष्यकार हरदत्त का काल १२वीं शताब्दी विक्रम के समीप ही है। यदि उस का पूर्वोक्त संकेत भट्ट भास्कर मिश्र की ओर है, तो भास्कर का काल जानने के लिए यह एक और निश्चित प्रमाण हो जायगा ।

---

१. ५।१४।। तैत्तिरीय आरण्यक ।
२. ४।४।१४।।
३. पृ० ७२, ७३, श्रीकण्ठ का शिवाद्वैत ।
४. पृ० १८९, भाग ४, तै० सं० भाष्य ।
५. पृ० ५४, रुद्रभाष्य ।
६. पृ० ७३, वही ।

हरदत्त भाष्य सहित एकाग्निकाण्ड के सम्पादक श्रीनिवासाचार्य का भी यही मत है कि एकाग्निकाण्ड का भाष्य करने में हरदत्त ने भट्ट भास्कर के एकाग्निकाण्ड भाष्य से बड़ी सहायता ली है। अपनी भूमिका के पृ० ३, ४ पर श्रीनिवासाचार्य ने इस विषय पर विस्तार से लिखा है।

इतना लिखने के अनन्तर हमारा यही विचार है कि भट्ट भास्कर का काल विक्रम की ११वीं शताब्दी ही मानना चाहिए। डा० बर्नल ने भी प्राचीन मौलिक परम्परा के अनुसार ऐसा ही स्वीकार किया है।

भाष्य—१. भट्टभास्कर के भाष्य का नाम **ज्ञानयज्ञ** भाष्य है।

२. भट्टभास्कर **केचित्**[1] और **अन्ये**[2] लिख कर प्राचीन भाष्यकारों के मत उपस्थित करता है। प्रतीत होता है **आचार्य** शब्द लिख कर भी वह किसी बहुत प्राचीन भाष्यकार को उद्धृत करता है।[3] कहीं-कहीं आचार्य शब्द किसी और के लिए भी प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

३. यास्कीय निरुक्त, निघण्टु, शाखान्तरपाठ, एक गणकार, भारद्वाज, आर्यभट्ट, सौगत आदि अनेक ग्रन्थ वा ग्रन्थकार इस भाष्य में उद्धृत हैं। गणकार कोई वैदिक पदों का ही एकत्र करने वाला प्रतीत होता है।[4] भगवान् लिख कर वह आपस्तम्ब श्रौत के प्रमाण देता है—

४. भट्टभास्कर लुप्त निघण्टु ग्रन्थों से भी अनेक प्रमाण देता है—

विव इति धननाम।[5]
ओम्, स्वाहा, स्वधा, वषण्णम इति पञ्च ब्रह्मणो नामानि।[6]
मतिरिति स्तुतिनाम।[7]
गर्तमिति रथनाम।[8]
लेकतिर्वर्शनकर्मा।[9]

सम्भव है यह सामग्री उस ने प्राचीन भाष्यों से ग्रहण की हो या उस के पास अन्य वैदिक निघण्टु हों।

५. भट्टभास्कर एक एक शब्द के अनेक अर्थ लिखता है। ये भिन्न भिन्न अर्थ वह प्राचीन

---

१. भाग प्रथम, पृ० १०,१३,१७,५४,७०,२२५।
भाग दूसरा, पृ० २२ इत्यादि।
२. भाग प्रथम पृ० १६७,२१७,२२६।
३. भाग पांचवां पृ० ३,४७,४८,५१।
४. भाग दूसरा, पृ० ६६, ३८४।
५. भाग दूसरा, पृ० ६४।
६. रुद्र, पृ० ५।
७. रुद्र, पृ० ६२।
८. रुद्र, पृ० १०१। तुलना करें यास्कीय-निरुक्त ३।१५॥
९. भाग दूसरा, पृ० १५५।

भाष्यकारों से ले रहा है। एक ही मन्त्र के भी वह कई अर्थ करता है। **हंसः शुचिषत्** मन्त्र के सम्बन्ध में वह लिखता है—

अध्यात्ममधिदैवमधियज्ञं चाधिकृत्य त्रेधेमं मन्त्रं व्याचक्षते। तत्र प्रकरणानुरूपो ऽर्थविशेषो ग्रहीतव्यः। अध्यात्मे तावत् —हंसः आत्मा।.........। अथाधिदैवे—हंस आदित्यः।.........। अथाधियज्ञे—हंसो रथः। हन्ति पृथिवीमिति।

नमुचिः शब्द का वह निम्नलिखित अर्थ करता है—

न मुञ्चति पुरुषमिति नमुचिः अधर्मः।

भाग दूसरा पृ० १८४ पर **कक्षीवन्तं य औशिजम्** का व्याख्यान भी देखने योग्य है।

वरुण जिन तीन पाशों से छुड़ाता है, उन के सम्बन्ध में लिखा है—

अत्र केचित् —उद्भूतादिभूतमध्यस्थ—शक्तितया धर्मपाशानां त्रैविध्यमाहुः। उत्तमाधममध्यदेहप्रभवतया त्वन्ये। ऊर्ध्वाधोमध्यमगतिहेतुत्वेनापरे।

यहां भी प्राचीन भाष्यकारों का तीनप्रकार का मत दिया गया है।

चतुर्थ काण्ड का भाष्य—भट्टभास्कर भाष्य का संस्करण मैसूर से ही निकला है। उस में चतुर्थ काण्ड नहीं छपा। रुद्राध्याय चतुर्थ काण्ड का एक अंश है। यह रुद्राध्याय भट्टभास्कर भाष्य सहित आनन्दाश्रम में मुद्रित हो चुका है। इस रुद्रभाष्य के सम्बन्ध में श्रीराम अनन्तकृष्ण शास्त्री ने मुझ से कहा था कि "यह भाष्य तैत्तिरीय संहिता भाष्यकार भट्टभास्कर मिश्र का नहीं है। इस रुद्र भाष्य का आधार शिव रहस्य का द्वादशांश है। उस शिव रहस्य के स्थल के स्थल यहां उद्धृत हैं। शिवरहस्य के उस अंश का नाम भी रुद्रभाष्य है। यह शिवरहस्य बहुत नवीन ग्रन्थ है और इस का स्कन्दपुराण के शिवरहस्य खण्ड से कोई सम्बन्ध नहीं है।" एक शिवरहस्य हेमाद्रि कृत कालनिर्णय में उद्धृत है।[1]

इस विषय में इतना तो सत्य हो सकता है कि भट्टभास्कर शिवरहस्य से अपने रुद्रभाष्य में बड़ी सहायता लेता है, परन्तु शिव रहस्य बड़ा नवीन ग्रन्थ है, यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती।

रुद्राध्याय का भट्ट भास्कर भाष्य उसी भट्ट भास्कर का है जिस ने तैत्तिरीय संहिता आदि पर भाष्य किया है इस का प्रमाण मान्धाता के महार्णव में भी है। वहां लिखा है—

द्वितीयादिनवान्तेष्वनुवाकेषु नमस्कारादिनमस्कारान्तमेकं यजुरिति शाकपूणिः। नमस्कारादेकं यजुर्नमस्कारान्तमेकं यजुरिति यास्कः। अष्टावनुवाकावष्टौ यजूंषीति काशकृत्स्नः।[2]

इन तीन पक्षों का विस्तृत विचार कर के महार्णवकार विश्वेश्वरभट्ट आगे लिखता है—

अन्यान्यपि अवान्तरमहावाक्यानि वेदभाष्ये भट्टभास्करेण प्रदर्शितानि।

महार्णव की शाकपूणि आदि के मत की पंक्तियां इस प्रस्तुत रुद्रभाष्य में ठीक वैसी ही मिलती हैं। और आगे चलकर महार्णव में लिखा ही है कि भट्टभास्कर ने ही यह वेदभाष्य में कहीं हैं। भट्ट-

१. पृ० ८२२।
२. यह पाठ हमने शोध कर दिया है। हमारा कोश सं० ३३२९, पत्र ४४,४५।

भास्कर का समग्र वेदभाष्य यही तैत्तिरीय संहिता भाष्य है। अतः जिस भास्कर ने तैत्तिरीय संहिता भाष्य किया था, उसका यह रुद्रभाष्य है, किसी अन्य का नहीं।

इस विषय में यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि रुद्राध्याय के मुद्रित भास्कर भाष्य का आरम्भ निम्नलिखित प्रकार से है—

अतः परमग्निकाण्डमेवाग्न्यार्षेयम्।

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस पंक्ति का लिखने वाला इस से पहले भागों पर भाष्य कर चुका है।

इस विषय में एक और भी प्रमाण है। तञ्जोर पुस्तकालय में इस रुद्रभाष्य के कई हस्तलेख ऐसे हैं जिन के अन्त में इस भाष्य को ज्ञानयज्ञभाष्य लिखा है। तञ्जोर[1] और दूसरे पुस्तकालयों[2] में रुद्राध्याय के सिवा चतुर्थ काण्ड के अन्य भागों पर भी भट्टभास्कर का भाष्य मिलता है। यदि यत्न किया जाए, तो चतुर्थ काण्ड पर भी समग्र भाष्य मिल सकता है।

ज्ञानयज्ञभाष्य के नूतन संस्करण की आवश्यकता—अनेक वेद भाष्यों में से इस समय तक सायण के ऋग्वेद भाष्य और अथर्ववेद भाष्य ही सुसम्पादित हुए हैं। भट्टभास्करमिश्र का यह भाष्य सायण के भाष्यों की अपेक्षा अत्यधिक उपयोगी है। इस का बहुत ही अच्छा संस्करण निकलना चाहिए। इसके लिए लाहौर में भी बहुत सी कोश सामग्री है।

भट्टभास्कर शैव सिद्धान्त का मानने वाला प्रतीत होता है। वह अपने मङ्गल श्लोक में शिव को नमस्कार करता है। उसका भाष्य मध्यम-कालीन भाष्यों में बहुत उच्च स्थान रखता है।

५. क्षुर—संवत् १३५० से पहले

सायण अपनी धातुवृत्ति स्वादिगण धातु २५ की वृत्ति में लिखता है—

अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं सूदयन्तु[3]—इत्यत्राह भट्टभास्करः..........। क्षुरेण तु तव विलिष्टं न्यूनं पूरयन्त्विति।

वही पुनः स्वादिगण धातु १६५ की वृत्ति में लिखता है—

त्रय एनां महिमानः सचन्ते[4]—इत्यत्र क्षुरभट्टभास्करीययोः सचन्ते सेवन्त इति।

वही पुनरपि स्वादिगण धातु ६३५ की वृत्ति में लिखता है—

जेहतिर्गत्यर्थोऽपि - उक्तं च—अरेणुभिर्जेहमान[5]—इत्यत्र क्षुरभट्टभास्करीययोः।

---

१. तञ्जोर नवीन सूचीपत्र, सन् १९२८, भाग १ पृ०, ४७१–४७३।
२. A Descriptive Catalogue of Sanskrit Mss., Vol. I, 2nd part, 1904, p. 178.
३. तै० सं० ५।२।१२॥
४. तै० सं० ४।३।११॥
५. तै० सं० ४।६।७॥

वही फिर भ्वादिगण धातु ८५६ की वृत्ति में लिखता है—

अपप्रोथ दुन्दुभे दुच्छुनान्[1]......। **क्षुरे तु अपप्रोथनं हुंकरणमिति ।**

वही पुनः चुरादिगण धातु ३३६ की वृत्ति में लिखता है—

अत्र केचित्—पितेव पुत्रं दसये वचोभिः[2]**—इत्यत्र क्षुरे— पितेव पुत्रं दसये निरवसाययामि स्तुतिभिः इति व्याख्यानात् ।**

इन पांच स्थलों पर तैत्तिरीयसंहितास्थ पांच मन्त्रों के भट्टभास्कर और क्षुर भाष्य को सायण उद्धृत करता है। ये पांचों मन्त्र तैत्तिरीय संहिता के चौथे और पांचवे कांड में आते हैं। इस से प्रतीत होता है कि क्षुर ने समस्त तैत्तिरीय संहिता पर भाष्य किया होगा। यह क्षुर कौन था, अथवा उस का भाष्य कैसा था, इस विषय में और कुछ नहीं जाना जा सका।

६. सायण—संवत् १३७२–१४४४

ऐसा प्रतीत होता है कि सायण का तैत्तिरीय-संहिता भाष्य उस के वैदिक भाष्यों में सब से पहले लिखा गया था। इस का लेखन काल महाराज बुक्क प्रथम का राजत्व-काल है।

काण्व संहिता भाष्य के समान इस में भी सूत्र का अभिप्राय साथ साथ जोड़ा गया है। पहले कल्प से सारा विनियोग स्पष्ट कर के पुनः सायण अपना भाष्य लिखता है। इस बात को सायण स्वयं भी अपने मंगल श्लोकों में स्पष्ट करता है—

ब्राह्मणं कल्पसूत्रे द्वे मीमांसां व्याकृतिं तथा ।
उदाहृत्याथ तैः सर्वैर्वेदार्थः स्पष्टमीर्यते ।

अर्थात् तै० ब्राह्मण, आपस्तम्ब और बौधायन दोनों कल्पसूत्र, मीमांसा और व्याकरण इन सब को उदाहरणों सहित वेदार्थ स्पष्ट कहा जाता है। इस भाष्य में प्राचीन भाष्यों का नाम बहुत कम लिया गया है। कहीं कहीं ही **अन्ये अपरे** आदि शब्द लिखकर सायण दूसरों का मत देता है। ५।५।१३।। से लेकर अगली कण्डिकाओं में भट्टभास्कर और उवट के समान वह **एके** आदि कह कर दूसरों का मत बहुधा उद्धृत करता है। पुनः २।२।११।। के भाष्य में वह लिखता है—

सूर्यरश्मय एव जलमयेन चन्द्रमण्डलेन व्यवहिताः शीतस्पर्शा अभिभूतोष्णस्पर्शा ज्योत्स्नारूपेणावभासन्त इति केषांचिन्मतम् ।

इसी प्रकार २।४।३।। में वह **संप्रदाय विदों** का मत देता है।

भट्टभास्कर के भाष्य से तुलना करने पर प्रतीत होता है कि सायण अनेक स्थलों पर उस की नकल कर रहा है, यद्यपि वह उसका नाम नहीं लेता।

तैत्तिरीय संहिता ४।३।२।। में निम्नलिखित वचन है—

---

१. तै० सं० ४।६।६।।
२. तै० सं० ४।२।५।।

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनः ।

इस पर भाष्य करते हुए सायण लिखता है—

तस्य भुवःशब्दाभिधेयस्य प्रजापतेः संबन्धी प्राणः । अतः एवापत्यत्वमुपचर्य भौवायन इत्युच्यते ।

अर्थात्—भुव शब्द वाची जो प्रजापति है उसी का पुत्रवत् प्राण है, अतः वही भौवायन कहा जाता है ।

इससे प्रतीत होता है कि सायणादि आचार्य मानते थे कि जड़ पदार्थों में भी अपत्यप्रत्यय के औपचारिक प्रयोगों से अनेक शब्द बने हैं ।

तै० सं० १।८।१२।। का भाष्य करते हुए सायण **नरसिंहवर्मा** और उसके पुत्र वा पौत्र **राजेन्द्रवर्मा** का उल्लेख करता है । सम्भवतः सायण इन नामों को भट्टभास्कर या उससे प्राचीन भाष्यकारों से ले रहा है ।

इस भाष्य में और कोई विशेष बात वर्णनीय नहीं है ।

७. वेङ्कटेश

शान्तिनिकेतन बोलपुर में वेङ्कटेश के तैत्तिरीय संहिता भाष्य का एक हस्तलेख है । वह ग्रन्थाक्षरों में है । उसकी प्रतिलिपि देवनागरी अक्षरों में हमारे पुस्तकालय में है । यह अन्तिम तीन खण्डों का भाष्य है । इसमें पहले चार खण्ड नहीं हैं । भाष्य के अन्त में निम्नलिखित लेख है—

इति नैध्रुववेङ्कटेशविरचिते यजुर्वेदभाष्यसङ्ग्रहसारे सप्तमे काण्डे पञ्चमप्रश्ने पञ्चविंशोऽनुवाकः ।। पञ्चमकाण्डप्रभृति सप्तमकाण्डपर्यन्तं यजुर्वेदभाष्यसंग्रहं श्रीपवपूर्वनिवासेन लिखितं ।।

काण्डों के भाष्य में प्रपाठकों की समाप्ति पर भी कहीं कहीं ऐसा ही लेख मिलता है । कतिपय स्थानों में भाष्यकार का नाम वेङ्कटेश्वर भी लिखा है । एक स्थान में **वेदभाष्यसंग्रहसार** के स्थान में **वेदार्थसंग्रह** लिखा है ।

यह भाष्य कई स्थानों में भट्टभास्कर के भाष्य से अक्षरशः मिलता है । सायण के समान कल्प और सूत्रादि इसने नहीं दिए । केचित् आदि कह कर दूसरों के मत का अत्यल्प निदर्शन है ।

यह वेङ्कटेश कौन था, अथवा कब हुआ, इस सम्बन्ध में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो सका । आगे रुद्रभाष्यकार एक वेङ्कटनाथ का वर्णन किया जायगा । क्या ये दोनों एक ही हैं ?

वेङ्कटेश भाष्य का नमूना निम्न है—

सावित्राणि जुहोति प्रसूत्यै चतुगृहीतेन जुहोति चतुष्पादः पशवः पशूनेवाव रुन्धे चतस्रो दिशो दिक्ष्वेव प्रति तिष्ठति छन्दाँसि देवेभ्योपाक्रामन्न वोऽभागानि हव्यं वक्ष्याम इति तेभ्य एतच्चतुगृहीतमधारयन् पुरोनुवाक्यायै याज्यायै देवतायै वषट्काराय यच्चतुर्गृहीतं जुहोति छन्दाँस्येव तान्यस्य प्रीणाति देवेभ्यो हव्यं वहन्ति यं कामयेत ।।[1]

१. तै० सं० ५।१।१।।

उखां संभरतः सावित्रहोमं विदधाति-सावित्राणीति । सावित्राणि जुहोति सावित्रैर्मन्त्रैरेकामाहुतिं जुहोति । मन्त्रबहुत्वाभिप्रायं बहुवचनम् । प्रसूत्यै अनुज्ञानाय सावित्रानुज्ञानं यथा स्यादिति । चतुर्गृहीतेनेत्यादि । गतम् ।

छन्दांसीति । गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुब्रूपाणि वः युष्माकं भागानि वयं हव्यं च वयं न वक्ष्याम इति देवेभ्यः सकाशादपाक्रामन् । तेभ्यः छन्दोभ्य एतच्चतुर्गृहीतमधारयन् छन्दोर्थं पर्यकल्पयन् । किं पुरोनुवाक्यादिभ्यश्च [तुभ्यः] यच्चतुर्गृहीतं तद् गायत्र्याद्यर्थमधारयन् । सर्वत्र हि पुरोनुवाक्यादिभ्यश्चतुर्गृहीते इवमिदानीं छन्दोभ्य इति । तस्मात् चतुर्गृहीतस्य होमः छन्दसां प्रीणनार्थं भवति । तानि च प्रीतान्यस्य यजमानस्य देवेभ्यो हव्यं वहन्ति ।

यं कामयेतेत्यादि । यं यजमानः..............पापीयान् स्यादित्यध्वर्युः कामयेत......।

अर्थात्—'सावित्राणि' इत्यादि मन्त्रों से उखा सम्भरण में सावित्र होम विधान है । सावित्र मन्त्र बहुत हैं । उन सबसे सवितृदेव की अनुमति के लिए एक २ आहुति दी जाती है । 'चतुर्गृहीतेन' से लेकर 'प्रति तिष्ठति' तक का व्याख्यान हो चुका है । देवताओं के भाग हवि को हम नहीं ले जाएंगे, यह कह कर गायत्री आदि चार छन्द देवताओं के समीप से भाग गए । तब उन छन्दों के निमित्त देवताओं ने चतुर्गृहीत हवि को दिया । क्या यह वही हवि है जो पुरोनुवाक्या आदि चारों को दी जाती थी । उत्तर-हां । सर्वत्र चतुर्गृहीत हवि का जो पुरोनुवाक्या आदि के लिए विधान किया गया है, वह अब छन्दों की प्रसन्नता के लिए जानना चाहिए । चतुर्गृहीत हवि से प्रसन्न हुए छन्द यजमान द्वारा दी हवियों को देवताओं के पास ले जाते हैं । यजमान जिस की अध्वर्यु द्वारा यह पापी होवे ऐसी कामना करे.........।

८. बालकृष्ण

सन् १८३८ में कलकत्ता से एक सूचीपत्र प्रकाशित हुआ था । उस में फोर्ट विलियम आदि स्थानों के संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की नामावली छपी थी । उसमें पृ० ५६ पर एक तैत्तिरीयसंहिता-भाष्य सन्निविष्ट है । उसका कर्ता बालकृष्ण नामक कोई व्यक्ति है ।

९. हरदत्तमिश्र—तेरहवीं शती विक्रम से पूर्व

आपस्तम्ब मन्त्र पाठ का दूसरा नाम एकाग्निकाण्ड भी है । उस एकाग्निकाण्ड पर हरदत्त ने भाष्य रचा है । यह बात हम इस भाग के पृ० ८४ पर लिख चुके हैं । हरदत्त शैव था । उस की टीकाओं के मङ्गल श्लोकों में शिव को नमस्कार किया गया है । एकाग्निकाण्ड भाष्य का मङ्गल श्लोक निम्न-लिखित है—

प्रणिपत्य महादेवं हरदत्तेन धीमता ।
एकाग्निकाण्डमन्त्राणां व्याख्या सम्यग्विधीयते ॥

अर्थात्—महादेव को नमस्कार करके बुद्धिमान हरदत्त एकाग्निकाण्ड मन्त्रों की युक्त व्याख्या करता है ।

भाष्य—हरदत्त की व्याख्या वस्तुतः ही अच्छी है । उसका अपने आप को बुद्धिमान लिखना

अनुचित नहीं है। उस की व्याख्या मैसूर में सन् १९०२ में छपी थी। उस के पृ० ८ पर वह अपाला का इतिहास लिखता है। पृ० ९ पर वह एक पद का किसी लुप्त शाखा का एक अप्रसिद्ध पाठ देता है। हरदत्त निघण्टु को बहुत उद्धृत करता है। बह्वृचों का पाठान्तर भी वह स्थान स्थान पर देता है। पृ० ४५ और १३५ पर वह ऐतिहासिकों का मत देता है। पृ० ७७ पर अन्ये कह कर वह किसी पुरातन भाष्यकार का मत देता है। पृ० ८५ पर शाबरगृह्य का पाठ मिलता है। यह सम्भवतः शाम्बव्यगृह्य का पाठ है।

एकाग्निकाण्ड मन्त्र व्याख्या के अन्त में निम्नलिखित लेख है—

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणज्ञमहामहोपाध्यायहरदत्तमिश्रविरचितायां एकाग्निकाण्डमन्त्रव्याख्यायां द्वितीयप्रश्ने द्वाविंशः खण्डः। प्रश्नश्च समाप्तः॥

काल—हरदत्त को सायण अपनी माधवीया धातुवृत्ति में और देवराज अपने निघण्टुभाष्य में उद्धृत करते हैं। इससे निश्चित होता है कि वह १३वीं शताब्दी अथवा इससे पहले का होगा।

१०. शत्रुघ्न—संवत् १५८५

शत्रुघ्न के ग्रन्थ का नाम मन्त्रार्थदीपिका है। जिन ग्रन्थों के आश्रय से उस ने इनकी रचना की, उन का नाम वह अगले श्लोक में लिखता है—

उवटे मन्त्रव्याख्या गुणविष्णौ ब्राह्मणीयसर्वस्वे।
वेदविलासिन्यामपि कौशलमीक्ष्य तथापि मे सद्भिः॥९॥

अर्थात्—उवट भाष्य में जो मन्त्र व्याख्या है, तथा गुणविष्णु के भाष्य में और ब्राह्मणसर्वस्व में, वेदविलासिनी टीका में भी कौशल देख कर मैं यह दीपिका लिखता हूं।

इस से प्रतीत होता है कि शत्रुघ्न ने उवट का यजुर्वेद भाष्य, गुणविष्णु का छन्दोग मन्त्र-भाष्य, हलायुध का ब्राह्मणसर्वस्व और गौरधर की वेदविलासिनी टीका देखी थी। गौरधर के इस भाष्य का वर्णन हम पहले पृ० ९९ पर कर चुके हैं।

शत्रुघ्न अपने दशम, एकादश और द्वादश मङ्गल श्लोकों में लिखता है कि पूर्व ग्रन्थों में जो व्याख्या है, वही मैंने यहां लिखी है, किन्तु जो उन में कठिन स्थल थे, उन्हें यहां अति विशद कर दिया है। स्नानमन्त्र, सन्ध्यामन्त्र, देवार्चनमन्त्र, श्राद्धमन्त्र, षडङ्गशतरुद्र, विवाहादिमन्त्र यहां क्रमशः व्याख्यान किए गए हैं, इत्यादि।

शत्रुघ्न की मन्त्रार्थदीपिका काशी में मुद्रित हो चुकी है। शत्रुघ्न सन् १५२८ या संवत् १५८५ में जीवित था। उस के काल के विषय में हम इस इतिहास के ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग के पृ० २२६ पर लिख चुके हैं।

शत्रुघ्न का भाष्य उवट आदि के अनुसार है और बड़ा सरल है। शत्रुघ्न के षडङ्गशतरुद्रीय-भाष्य का वर्णन करते हुए महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है—

It seems Satrughna was a commentator of the whole of the Yajurveda, of which this is only a part.[1]

अर्थात्—प्रतीत होता है कि शत्रुघ्न समग्र यजुर्वेद का भाष्यकार था, उसी भाष्य का यह एक भाग प्रतीत होता है।

यह बात ठीक नहीं है। रुद्रभाष्य मन्त्रार्थदीपिका का ही भाग है। यह मन्त्रार्थदीपिका समग्र यजुर्वेद का भाष्य नहीं है।

---

1. A Descriptive Catalogue of Sanskriṭ Mss, Asiatic Society of Bengal, Vedic Mss. 1923, Vol. II, p. 428.

छठा अध्याय

रुद्राध्याय के भाष्यकार

रुद्राध्याय याजुष संहिताओं का एक भाग है। साम संहिताओं में भी कुछ रुद्र सम्बन्धी मन्त्र हैं, परन्तु उनका वर्णन यहां नहीं किया जायगा। याजुष रुद्राध्याय के अनेक भाष्य इस समय मिलते हैं। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जो समग्र यजुर्वेद भाष्यों में से पृथक् किए गए हैं, यथा भट्टभास्कर, उवट, सायण आदि के भाष्य। उनका उल्लेख यहां नहीं होगा। यहां तो उन्हीं भाष्यों का संक्षिप्त वर्णन होगा, जो रुद्राध्याय पर स्वतंत्र रूप से लिखे गए हैं।

१. महीधर —संवत् १६४५ के लगभग

मद्रास के, अडचार पुस्तकालय में महीधर कृत रुद्रभाष्य का एक हस्तलेख है।[1] यह वाजसनेय-संहिता के सत्रहवें अध्याय पर टीका है। इसमें सायण, माधव तथा शङ्कर को उद्धृत किया गया है—

अग्निरूपत्वेन, अतिपराक्रमत्वेन च पुंस्त्वमुभयोः शब्दयोः। ततश्च तत्तत्प्रसावयितुमित्यर्थः। पुंस्त्वं जातवेदस इति सायणमाधवशंकरप्रभृतिभिः सोपपत्तिकं व्याकृतम्। इह तु विस्तरभिया न लिख्यते। वयं विद्महे जानीमः।

काल—महीधर के काल के विषय में पहले लिखा गया है।[2] इसका काल सोलहवीं शती ही है।

२. अभिनव शङ्कर अथवा वेंकटनाथ—संवत् १४५० के लगभग

इस ग्रन्थकार का रुद्रभाष्य वाणीविलास प्रेस से सन् १९१३ में छपा था। उसके अन्त में लिखा है—

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापकश्रीमदभिनवशङ्करभगवता कृतं श्रीरुद्रभाष्यं संपूर्णम्॥

अर्थात्—यह रुद्रभाष्य अभिनव शङ्कर की कृति है।

इस रुद्रभाष्य के हस्तलेख बड़ोदा और मैसूर में भी हैं। उनके अन्त का लेख निम्नलिखित प्रकार का है—

---

१. शैल्फ संख्या ४० E ४२।
२. ऊपर पृ० १००-१०२ देखें।

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापकाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीमद्रामब्रह्मानन्दभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन विरचिते यजुर्वेदभाष्ये श्रीमद्रुद्रोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥[1]

अर्थात् — श्री अभिनव शङ्कर-शिष्य वेङ्कटनाथ का रचा हुआ यजुर्वेद भाष्य में रुद्रोपनिषद् भाष्य समाप्त हुआ।

इस लेख से संदेह होता है कि यह रुद्रभाष्य भी कभी किसी बृहद् यजुर्वेद भाष्य का भाग है। क्या यह वेङ्कटनाथ वही वेंकटेश तो नहीं है? यदि किसी हस्तलेख में रुद्र भाष्यकार वेङ्कटनाथ का गोत्र मिल जाता तो इस प्रश्न का शीघ्र ही उत्तर मिल सकता था, परन्तु अभी तक यह बात मिली नहीं। मैसूर संख्या १८१७ और बड़ोदा ६४८१ में इस ग्रन्थ का कर्ता वेङ्कटनाथ ही कहा गया है।

वेङ्कटेश के तैत्तिरीय संहिता भाष्य का वर्णन हम पहले कर चुके हैं।

काल—यह वेङ्कटनाथ अपने भाष्य के अन्त में लिखता है—

जातिस्मरत्वादिफलप्रभेदाश्च रुद्रकल्पार्णवादिषु प्रपञ्चिताः द्रष्टव्याः।[2]

अर्थात् — जातिस्मरत्वादि फलभेद रुद्रकल्प और महार्णवादि में कहे गए देखने चाहिएं।

यह महार्णव विश्वेश्वर के सिवा दूसरा नहीं है। विश्वेश्वर का काल संवत् १४२० के समीप है। अतः उसे उद्धृत करने वाला वेङ्कटनाथ संवत् १४५० के पश्चात् ही हुआ होगा।

इसी वेङ्कटनाथ का गीता भाष्य वाणीविलास से मुद्रित हो चुका है। इसमें वह **मधुसूदन, माध्व-व्याख्या, रामानुज, श्रीधरीय व्याख्या, विज्ञानेश्वर, पैशाचभाष्य,** वाचस्पत्य को उद्धृत करता है। उसने **मन्त्रसारसुधानिधि, वज्रपञ्जर,** तथा **आनन्दवल्ली भाष्य** भी लिखे थे।

भाष्य—इस भाष्य में रुद्रमन्त्रों का भाष्य करने से पहले ग्रन्थकार ने एक लम्बा उपोद्घात लिखा है। उसमें भट्टभास्कर का प्रमाण भी दिया गया है।[3]

दूसरे अनुवाक के भाष्य में लिखा है

इति प्राचीनव्याख्यानमनेन निरस्तम्—

अर्थात् इस से प्राचीन व्याख्यान का खण्डन हो गया है। यह प्राचीन व्याख्यान कौन सा है?

वेङ्कटनाथ इस भाष्य में कई स्थानों पर सामवेद की श्रुतियों को उद्धृत करता है। मुद्रित संस्करण के पृ० ७९ पर लिखता है—

सामवेदे—विरूपाक्षो ऽसि दन्ताञ्जिः—इति प्रस्तुत्य —त्वं देवेषु ब्राह्मणो ऽसि अहम् मनुष्येषु। ब्राह्मणो वै ब्राह्मणमुपधावति उप त्वा धावानि इति प्रपदब्राह्मणश्रुतेः।

यह प्रपद ब्राह्मण स्वल्प पाठान्तर से मन्त्रब्राह्मण २।४।६॥ का पाठ है।

---

१. देखो बड़ोदा का सूचीपत्र, पृ० १२३।
२. यह पाठ बड़ोदा के कोश का है। मुद्रित पाठ इससे कुछ भिन्न है।
३. मुद्रित संस्करण, पृ० ३।

मुद्रित संस्करण के उपोद्घात में बाल सुब्रह्मण्य ने लिखा है हि यह भाष्य रुद्रार्थ को सायण से अधिक स्पष्ट करता है और कई स्थानों पर इसमें सायण का खण्डन भी है।

हम निश्चय से नहीं कह सकते कि वेंकटनाथ अमुक स्थान में सायण का ही खण्डन करता है।

३. अहोबल

इस भाष्य के हस्तलेख तञ्जोर, एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता और बड़ोदा में है। बड़ोदा के कोश में इस टीका का नाम कल्पलता लिखा है। तञ्जोर के कोश से निम्नलिखित बातों का ज्ञान होता है—

अहोबल महामहोपाध्याय नृसिंह का पुत्र था। वह भास्कर वंशी था। उसने रुद्राध्याय का अधिक विस्तृत व्याख्यान अपनी न्यायमहामणि में किया है। यह भाष्य श्लोक रूप है।

सम्भव है कि अहोबल ने एक गद्यरूप भाष्य भी लिखा था। कलकत्ता का हस्तलेख उसी का प्रतीत होता है।

४. हरिदत्त मिश्र

इस भाष्य का एक हस्तलेख एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता में और दूसरा केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में है। यह कठ या चारायणीय संहितास्थ रुद्र का भाष्य प्रतीत होता है।

५. बेणोराय=सामराज

बेणीराय काण्वशाखाध्यायी था। उसके पिता का नाम नरहरि था। उसके ग्रन्थ का एक हस्तलेख पूना में है। वह संवत् १७२३ का लिखा हुआ है।

६. मयूरेश

मयूरेश के ग्रन्थ का एक हस्तलेख हमारे पुस्तकालय में है और दूसरा पूना में। पूना के सन् १९१६ के सूची के पृ० ३७८ पर इसका कर्त्ता कैवल्येन्द्र का शिष्य लिखा गया है। हमारे कोश पत्र ८क पर लिखा है—

युगगुणरसभूमिभूषिते शालिवाहे
विकृति शरदि चैत्रे शुक्लपक्षे चतुर्थ्याम् ।
मुनिमुनिकुलजातश्रीमयूरेशनामा-
लिखदिदमतिगूढं रुद्रभाष्यं समीक्ष्य ॥

अर्थात्—शक १६३४ में मयूरेश ने यह अतिगूढ रुद्रभाष्य रचा।

मयूरेश के षडङ्गरुद्रभाष्य का निम्न स्वल्प नमूना है—

अथ रुद्रांगत्वेन हरिहरयोरभेदं दर्शयितुं पुरुषसूक्तं व्याख्यास्यामः ।
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिँ सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

सहस्रशीर्षा । सहस्र शब्दो बहुत्ववाची । संख्यावाचकत्वे सहस्राक्ष इति विरोधः स्यात् । नेत्र-सहस्रद्वयेन भाव्यम् । ततः सहस्रमसंख्यातानि शीर्षाणि यस्य सः । 'शीर्षञ्छन्दसि [६।१।६०॥] इति शीर्षशब्दस्य शीर्षन्नादेशः । शीर्षग्रहणं सर्वावयवोपलणम् यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात्तस्यवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवमग्रेपि । सहस्राक्षः सहस्रमक्षीणि यस्य सः । अक्षिग्रहणं सर्वज्ञानेन्द्रियोपलक्षकम् । सहस्रपात् सहस्रं पादा यस्य । 'संख्यासुपूर्वस्य [५।४।१४०]' इति पादस्यांत्यलोपः । पादग्रहणं कर्मेन्द्रियोपलक्षकम् । स पुरुषो भूमिं ब्रह्माण्डलोकरूपां सर्वतस्तिर्यगुर्ध्वमधश्च । स्पृत्वा व्याप्य । दशांगुलपरिमितं देशम् । अत्यतिष्ठद् अतिक्रम्यावस्थितः । दशांगुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्माण्डाद्बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः । यद्वा । नाभेः सकाशाद्दशांगुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः । नाभित इति कुतो लभ्यते । कतम आत्मेत्युपक्रम्य योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यंतर्ज्योतिरिति श्रुतेः ॥ विज्ञानात्मनो हृद्यवस्थानं कर्मफलोपभोगाय अन्तर्यामिणो नित्यं तृ(प्त)त्वेन । तदुक्तम्—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ इति [ऋ० १।१६४।२०॥]

स पुरुषोत्र देवता । तथा च श्रुतिः—

इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योयं पवते सोस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुष[शत० १३।६।२।१॥] इति ।

अर्थात्—रुद्राङ्ग होने के कारण हरि तथा हर में अभेदभाव को दर्शाने के लिए पुरुष-सूक्त का व्याख्यान किया जाता है ।

मन्त्रगत सहस्र शब्द को बहुत अर्थ का ही बोधक मानना चाहिए । यदि सहस्र संख्या वाचक मानें तो 'सहस्राक्षः' इसमें विरोध आता है । क्योंकि जिसके सहस्र शिर होंगे उसकी दो सहस्र आंखें होनी चाहिएं । इसलिए सहस्रशीर्षा शब्द का यह अर्थ हुआ कि जिसके सहस्र अर्थात् असंख्य शिर हैं, वह अगणित शिरों वाला है । यहां पर शीर्ष शब्द सर्वावयवों का सूचक है । समस्त प्राणियों के जो शिर हैं, वे सब उस पुरुष के हैं । क्योंकि वह सब के अन्दर विद्यमान रहता है । इसी प्रकार आगे की भी संगति होती है । सहस्राक्षः, असंख्य आंखों वाला । अक्षि शब्द समस्त ज्ञानेन्द्रियों को बोधित करता है । सहस्रपात्, असंख्य पादों वाला । पाद शब्द कर्मेन्द्रियों को बताता है । इस प्रकार का वह पुरुष पृथ्वी अर्थात् ब्रह्माण्डलोक रूप को तिर्यक्, ऊर्ध्व, तथा अधः समस्त मार्गों से व्याप्त करके 'दशांगुलम्' अर्थात् ब्रह्माण्ड के बाहर तक भी सब ओर से व्याप्त करके स्थित है । अथवा नाभि से ऊपर की ओर दश अंगुल परिमाण के स्थान तक व्याप्त होकर ज्योति स्वरूप से हृदय में स्थित है ।

७. राजहंस सरस्वती—लगभग शक १६९३

यह भाष्य शक १६९३ में लिखा गया था । इसका एक कोश बड़ोदा में है । राजहंस सरस्वती महीधर भाष्य से सहायता लेता है ।

८. एक अज्ञात रुद्रभाष्यकार

एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता के नवीन सूचीपत्र पृ० ४२६ पर रुद्रभाष्य का एक कोश सन्निविष्ट

है। उस कोश में उसके कर्त्ता का नाम नहीं लिखा। ऐसा ही एक कोश पूना के सन् १९१६ के सूचीपत्र पृ० ३६७ पर दर्ज है। नई संख्या उसकी ५३० है। इसी ग्रन्थ का तीसरा कोश तञ्जोर के नये सूचीपत्र के पृ० ४६१ पर दर्ज है। बड़ोदा और तञ्जोर के सूचीपत्रों में भी इसके कर्त्ता का नाम नहीं दिया गया।

९. भवानीशङ्कर

इनके अतिरिक्त **भवानीशङ्कर** के भाष्य का एक हस्तलेख बड़ोदा में है।

तञ्जोर में भी एक दो और भाष्य हैं जिनके कर्त्ताओं का नाम अज्ञात है।

१०. अनन्त की कात्यायन स्मार्तमन्त्रार्थदीपिका

अनन्त के काण्वभाष्य का उल्लेख पृ० १०७-१०९ तक हो चुका है। उसी अनन्त ने कात्यायन के स्मार्तसूत्रान्तर्गत मन्त्रों का भाष्य भी किया है। इस का एक कोश एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में है।[1] वह संवत् १७२१ का लिखा हुआ है। अनन्त कृत ग्रन्थों का यही सबसे पुराना कोश अभी तक मेरी दृष्टि में आया है। यह २६७ वर्ष पुराना है। इस कोश के अन्त में इसकी निर्माण तिथि दी हुई है। परन्तु है वह अत्यन्त अस्त व्यस्त दशा में—

शाके [वसु] वसुषट्कप्रथमाङ्कपरामिते १६८८।
ग्रन्थोऽयं निर्म्मितः. काश्यामनन्ताख्यार्यधीमता॥

इस श्लोक में यदि १६८८ शक माना जाए, तो यह अर्थ हास्यजनक प्रतीत होगा।[2] संवत् १७२१ में जिस ग्रन्थ की प्रतिलिपि की गई हो, उसका मूल शक १६८८ में नहीं लिखा जा सकता। क्या १६८८ से विक्रम संवत् का ग्रहण करना चाहिए ? यदि ऐसा हो तो सम्भवतः यह कुछ संगत हो सकता है। अनन्त रचित कण्वकण्ठाभरण का एक हस्तलेख कवीन्द्राचार्य की सूची में है। उसकी संख्या ५३२ है। कवीन्द्र लगभग ३०० वर्ष पुराना है। इससे प्रतीत होता है कि अनन्त ३०० वर्ष का अथवा इससे कुछ पूर्व का है। स्मार्तमन्त्रार्थदीपिका में कई शाखाओं के मन्त्र होंगे।

११. हररात की कूष्माण्डप्रदीपिका

इसके दो कोश पंजाब-यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में हैं। एक की संख्या है ६५ और दूसरे की ७१५। यह व्याख्या उवट के आधार पर लिखी गई है। इसका प्रथम श्लोक निम्नलिखित है—

उवटादीन् मन्त्रभाष्यान् परीक्ष्य च पुनः पुनः।
प्रथ्यते हररातेन[3] कूष्माण्डस्य प्रदीपिका॥ १॥

संख्या ७१५ के कोश का अन्तिम भाग त्रुटित है। संख्या ६५ का कोश संवत् १९०६ का

१. नया सूचीपत्र, सन् १९२३, भाग दूसरा, पृ० ६९५-६९७।
२. इस प्रश्न के हल के लिए खोजपूर्ण पुस्तक Sakas in India, सत्यश्रवा कृत देखें।
३. सं० ६५ के कोश का पाठ यहां पापशमनी है।

लिखा हुआ है। उसके पत्र १क पर कातन्त्रवृत्तिभाष्य, पत्र ७ख और १०ख पर रायमुकुटी [अमरकोशटीका] और पत्र ९ख पर तनादिवृत्ति उद्धृत हैं। रायमुकुट आदि को उद्धृत करने से इस ग्रन्थ का कर्त्ता संवत् १५०० के पश्चात् का है।

१२. भवदेव

भवदेव नामक एक ग्रन्थकार ने भी षडङ्गरुद्र की व्याख्या की है। इसका एक हस्तलेख पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में है।[1] उसका तीसरा और चौथा श्लोक नीचे लिखे जाते हैं—

भवदेवगुरोर्नत्वा पदपंकेरुहद्वयम्।
भवदेवः षडङ्गस्य व्याख्यां प्रकुरुतेऽधुना ॥३॥
उवटादिभिरुत्कृष्टैः पण्डितैः स्वगुरुक्रमात्।
या व्याख्या कल्पिता प्रायस्तामेव कल्पयाम्यहम् ॥४॥

अर्थात्—भवदेव गुरु के चरणकमलों को नमस्कार करके अब भवदेव षडङ्ग की व्याख्या करता है। उवट आदि पुराने आचार्यों ने गुरुपरम्परा से जो व्याख्या लिखी है, प्रायः उसी के अनुसार यह व्याख्या है।

इसी भवदेव ने शुक्ल-यजुर्वेद पर एक भाष्य रचा था। उसका एक त्रुटित ग्रन्थ क्वीन्स कालेज काशी के पुस्तकालय में है।[2] उसके सम्बन्ध में हमारे मित्र पं० मङ्गलदेव शास्त्री अपने २१ मार्च सन् १९३० के पत्र में लिखते हैं—

"शुक्ल-यजुर्वेद पर भवदेवमिश्र का भाष्य असंपूर्ण है। आरम्भ और अन्त के अनेक पत्रे नहीं हैं। ये भवदेव मिश्र मैथिल थे। कृष्णदेव के पुत्र और भवदेव ठक्कुर के शिष्य थे। आफ्रेक्ट के अनुसार सन् १६४६ के लगभग हुए थे।[3] उदाहरणार्थ सप्तम अध्याय के अन्त में लिखा है—

इति मैथिलसन्मिश्रश्रीकृष्णदेवतनयमहामहोपाध्यायसठ्ठक्कुरश्रीभवदेवप्रियशिष्यमहामहोपाध्यामाभिनवाचार्यसन्मिश्रश्रीभवदेवकृतायां संहिताव्याख्यारत्नमालायां सप्तमाध्यायव्याख्यारत्नं।

२१वें अध्याय के आरम्भ में वह यह भी कहता है—

....श्रौतीं व्याख्यां कांचिदस्यातनोमि।............एष श्रीभवदेवपंडितकविर्गंगातीरे पट्टने व्याख्यानं कुरुते............।

इस लेख से ज्ञात होता है कि भवदेव के गुरु का नाम भी भवदेव था। वह गङ्गा तट वर्ती पट्टन नगर में रहता था। उस की टीका का नाम रत्नमाला है। आफ्रेक्ट उस के रचे हुए कई अन्य ग्रन्थों का भी नाम लिखता है।

षटङ्ग भाष्य भी इसी भवदेव का है। जैसा भवदेव स्वयं स्वीकार करता है, यह भाष्य उवट भाष्यानुसारी है।

---

१. संख्या ४४७१।
२. सन् १९११ का सूचीपत्र, पृ० १०५।
३. बृहत्सूची, भाग १, पृ० ३९८।

सातवां अध्याय

सामवेद के भाष्यकार

१. माधव—विक्रमीय सप्तमी शती

माधवाचार्य के भाष्य का नाम विवरण है। सामवेद के दो भाग हैं, पूर्व और उत्तर। पूर्व भाग को छन्द आर्चिक और उत्तर को उत्तर आर्चिक कहते है। माधव पूर्वभाग के भाष्य को छन्दसिकाविवरण और उत्तर भाग के भाष्य को उत्तर विवरण आदि कहता है।

सब से पहले इस भाष्य का परिचय सत्यव्रत सामश्रमी ने दिया था। सायण भाष्य सहित सामवेद संहिता की भूमिका में वे लिखते हैं—

सम्प्रति बहुयत्नतो माधवीयविवरणाख्यस्यैकमात्रस्यातिजीर्णाशुद्धपुस्तकमेकमर्द्धश उभय-स्थानादासादितम्। तच्चापीह शरलेशाभ्यां टीप्पन्याकारेण मुद्रितम्।[1]

अर्थात्—माधवीय विवरण का अति जीर्ण और अशुद्ध एक पुस्तक आधा आधा दो स्थानों से बड़े यत्न से प्राप्त किया। उस के भी सर्वोत्तम भाग इस सायण भाष्य के साथ टिप्पणी रूप से छापे गए हैं।

इस के पश्चात् सन् १८८६ में वेबर ने बर्लिन के सूची भाग दो खण्ड प्रथम के पृ० १७-२० तक इस का विस्तृत वर्णन लिखा है। तदनन्तर किसी विद्वान् ने अपना ध्यान इस भाष्य की ओर नहीं लगाया। यह श्रेय डा० कुहनन्राज को ही है कि उन्होंने भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों से इस भाष्य के पूर्व और उत्तर भाग के सात कोश प्राप्त कर लिए हैं। वे इस भाष्य के सम्पादन करने का विचार रखते हैं।

काल—१. देवराज यज्वा अपने निघण्टु भाष्य की भूमिका में जिस माधवदेव को उद्धृत करता है, वह सामविवरणकार ही प्रतीत होता है।

२. डा० राज ने बताया था कि माधव का मङ्गल श्लोक कादम्बरी का भी मङ्गल श्लोक है। इस बात की ओर पहले भी पृ० ३९ पर संकेत किया जा चुका है। इस विषय में एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। इस मङ्गल श्लोक में त्रयीमयाय पद विचारणीय है। एक वेदभाष्य के आरम्भ में यह उतना उचित नहीं है। माधव का पिता नारायण हर्ष चरित्र के अनुसार बाणभट्ट का मित्र था। इस से माधव बाण का समकालीन या उसका पूर्वज हो जाता है।

१. सन् १८७४ का संस्करण, पृ० ३।

३. मङ्गल श्लोक के अनन्तर माधव लिखता है—

षट्त्रिंशत्प्रकारा मन्त्राः। प्रैषाः। करणाः। क्रियमाणानुवादिनः। स्तोत्रशस्त्र गताः। जपानुवचनगताश्च। एते पञ्चप्रकारा ऋग्व्याख्यायां भवन्ति। अन्ये सामव्याख्यायामुच्यन्ते—

प्रस्तावश्चोद्गीथः प्रतिहारो ऽपद्रवस्तथा।
निधनं पञ्चमं चाहुर्हिङ्कारं प्रणवमेव च॥
आशस्तिः स्तुतिसंख्यानं प्रलापः परिदेवनम्।
प्रैषमन्वेषणं चैव सृष्टिराख्यानमेव च॥
सप्तधा गेयमेकेषामन्ये षड्धा विदुः।
पञ्चविधं तु सर्वेषामध्वरार्थं प्रचक्षते॥

अर्थात्—छत्तीस प्रकार के मन्त्र हैं। उन में से प्रैषादि पांच प्रकार ऋग् व्याख्या में होते हैं, और शेष प्रस्ताव आदि साम व्याख्या में कहे जाते हैं। इन में से प्रैष आदि पांच प्रकारों का वर्णन स्कन्द स्वामी ने अपने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में किया है। माधव और स्कन्द के इन प्रकारों के वर्णन में इतनी समानता है कि यह सन्देह दृढ़ हो जाता है कि इन में से कोई एक दूसरे की सामग्री ले रहा है। डा० राज का अनुमान है कि सम्भवतः माधव का पिता नारायण ऋग्वेदभाष्य में स्कन्द का सहकारी नारायण था। यदि यह बात ठीक सिद्ध हो जाए, तो माधव का काल विक्रम की सातवीं शताब्दी मानना पड़ेगा। परन्तु यह बात अभी अनुमान मात्र ही है। इस विषय में अधिक खोज की बड़ी आवश्यकता है।

माधव निरुक्त अध्याय चौदह के वचन उद्धृत करता है।

भाष्य—माधव का विवरण मध्यकाल के भाष्यों में एक उत्कृष्ट स्थान रखता है। माधव साम सम्प्रदाय का अच्छा जानने वाला प्रतीत होता है। जहां पर सामवेद के अनेक मन्त्रस्थ पदों का आर्च पाठ मान कर सायण उनका ऋग्वेदानुसारी अर्थ करता है, वहां पर माधव बहुधा साम सम्प्रदाय की ही रक्षा करता है। माधव लुप्त निघन्टु ग्रन्थों से भी प्रमाण देता है। यथा—

वि इत्याकाशनाम।[2]
ऋचीष इति कर्मनाम।[3]

विः का अन्यत्र भी वह अन्तरिक्ष अर्थ करता है।[4] ऐ पद से वह प्राचीन भाष्यकारों का मत उपस्थित करता है।[5]

सामवेद के उत्तरार्चिक में निम्नलिखित एक मन्त्र है—

आमन्द्रमावरेण्यमाविप्रमामनीषिणम्। पान्तमापुरुस्पृहम्।[6]

१. भाग ४, पृ० ११६।
२. भाग ५, पृ० २३८।
३. भाग ५, पृ० १६४।
४. भाग ४, पृ० ५१४; भाग ५, पृ० १६२।
५. भाग ४, पृ० २७१।
६. भाग ४, पृ० १२१, १२२।

इस मन्त्र के अर्थ में सायण के अनुसार क्रिया की आवृत्ति पूर्व मन्त्र से आती है। सायण उस पूर्व मन्त्रस्थ **वृणीमहे** पद से आ उपसर्ग को जोड़ता है। परन्तु माधव का अर्थ भिन्न प्रकार का है। वह लिखता है—

आमन्द्रम्—आनुपूर्व्येण मन्द्रं बलम्। आवरेण्यम्—आभिमुख्येन वरेण्यं तत्। आविप्रम्—अतिशयेन विपश्चितम्।

इस व्याख्या अनुसार माधव दो उदात्त एक पद में एकत्र करता है। उस के पास इसके लिए कोई प्रमाण होगा।

माधव जिन मन्त्रों का छन्द आर्चिक में विस्तार से अर्थ करता है, उन की उत्तर आर्चिक में संक्षिप्त व्याख्या ही करता है। यथा—

तरत्स मन्दी धावतीति चतुर्ऋचः छन्दसिकाभाष्ये विस्तरेणोक्ताः। सप्रयोजनं तथाप्यत्र संक्षेपेणोच्यते।[1]

कभी कभी वह पूर्व व्याख्यात मन्त्रों का व्याख्यान नहीं भी करता—

प्र व इन्द्राय-अर्च-र्कम्-उप प्रक्षे-एषस्तृचश्छन्दसिकाभाष्ये उक्तार्थः।[2]

इस भाष्य के शीघ्र सम्पादित होने की बड़ी आवश्यकता है। इसका एक पाठ है—

माधव साम-विवरण

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
न होता सत्सि बर्हिषि॥

भारद्वाजस्यर्षम्। हे अग्ने आयाहि आगच्छ। किमर्थं पुनरागच्छामि। उच्यते। वीतये। भक्षणायेत्यर्थः। कस्य? सामर्थ्याद्धविषाम्। प्रत्यव गृणानः स्तूयमानः। हव्यदातये। हविर्दानार्थमित्यर्थः। नि होता। नीत्ययमुपसर्गः सत्सीत्याख्यातेन सम्बन्धयितव्यः। होता आह्वाता। केषाम्? देवानामित्यध्याहारः। निषत्सि निषीदेत्यर्थः। क पुनर्निषीदामि। उच्यते। बर्हिषि। यदास्तीर्णं बर्हिस्तत्रेत्यर्थः।

अर्थात्—इस मन्त्र का ऋषि भारद्वाज है। हे अग्नि तुम हमारे यहां आओ। यदि पूछो कि किस लिए आऊं तो उत्तर यही है कि हवियों के खाने के लिए। हम आपकी स्तुति करते हैं। हमें हवियां दीजिए और हमारे बिछाए हुए दर्भों पर आकर बैठिए।

विवरण में जैसा पाठ था तदनुसार ही अर्थ किया गया है। विवरण के पाठ में कुछ अशुद्धि प्रतीत होती है।

२. भरतस्वामी—संवत् १३६० के लगभग

भरतस्वामी का सामवेद भाष्य भी अभी तक अमुद्रित ही है। उस के भाष्य के कोश तंजोर, मद्रास, मैसूर, बड़ोदा और हमारे पुस्तकालय में हैं। भरतस्वामी अपने भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

१. भाग ४, पृ० १७।
२. भाग ४, १००।

नत्वा नारायणं तातं तत्प्रसादादवाप्तधीः ।
साम्नां श्रीभरतस्वामी काश्यपो व्याकरोत्यृचम् ॥
होसलाधीश्वरे पृथ्वीं रामनाथे प्रशासति ।
व्याख्या कृतेयं क्षेमेण श्रीरङ्गे वसता मया ॥

अर्थात् पिता नारायण को नमस्कार कर के, उस की कृपा से प्राप्त बुद्धि कश्यपगोत्री श्रीभरत स्वामी सामगत ऋचाओं की व्याख्या करता है। होसलाधीश्वर रामनाथ के राजत्व-काल में श्रीरंगपटम में निवास करते हुए मैंने यह व्याख्या की है। होसलाधीश्वर राम का काल बर्नल के कथनानुसार सन् १२७२-१३१० है।[1]

अपने सामवेद भाष्य के अन्त में भरतस्वामी लिखता है—

इत्थं श्रीभरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासुतः ।
नारायणर्यतनयो व्याख्यत्साम्नामृचोखिलाः ॥

अर्थात्—नारायण और यज्ञदा के पुत्र कश्यपगोत्री श्रीभरतस्वामी ने साम की सम्पूर्ण ऋचाओं का व्याख्यान किया।

भरतस्वामी का भाष्य बहुत संक्षिप्त है। भरतस्वामी माधव की पर्याप्त सहायता लेता है। बर्नल का विचार है कि "भरतस्वामी ने छन्द आर्चिक, अरण्यसंहिता और महानान्मी पर ही अपना भाष्य किया है, उत्तर आर्चिक पर नहीं, क्योंकि उत्तरार्चिक के भाष्य का अभी तक कोई कोश प्राप्त नही हो सका।" हमारा ऐसा विचार नहीं है। भरतस्वामी ने सामविधानादि ब्राह्मणों पर भी अपने भाष्य लिखे हैं। संहिता को समाप्त किये बिना ही, उस ने ब्राह्मण भाष्य आरम्भ कर दिए हों, इस पर विश्वास नहीं होता।

वेदभाष्य में भरतस्वामी ऐतरेय ब्राह्मण और आश्वलायन सूत्र को बहुत उद्धृत करता है।

३. सायण—संवत् १३७२-१४४४

तैत्तिरीय संहिता और ऋग्वेद का व्याख्यान करके बुक्क प्रथम के काल में सायण ने सामवेद का व्याख्यान किया था। साम भाष्य के आरम्भ में सायण ने एक विस्तृत भूमिका लिखी है। उस में साम सम्बन्धी अनेक विषयों पर विचार किया गया है। भाष्य में सायण निदानादि ग्रन्थों को बहुत उद्धृत करता है।[3] जैसा पहले पृ० १४३ पर लिखा जा चुका है, सायण इस भाष्य में कई स्थलों पर सामपाठ के स्थानों में आर्च पाठ का व्याख्यान करता है। सामवेद के सायण भाष्य के सम्पादक पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपनी टिप्पणी में वे सब स्थान निर्दिष्ट कर दिए हैं। किसी किसी स्थान में सायण ऋषि देवता सम्बन्धी किसी श्लोकमयी अनुक्रमणी का पाठ भी देता है।[3]

१. बर्नलकृत तञ्जोर का सूचीपत्र, प्रथम भाग।
२. भाग २, पृ० ३६६।
३. भाग २, पृ० ३१३।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी के संस्करण का आधार सायण भाष्य के चार कोश हैं। इस समय सायण भाष्य के कोई बीस और कोश सुप्राप्य हैं, अतः भावी सम्पादक को उनका ध्यान रखना चाहिए।

अरण्यसंहिता को सायण छन्दःसंहिता के अन्तर्गत मानता है। भूमिका के अनन्तर वह भाष्यारम्भ में लिखता है—

योऽयं छन्दोनामकः संहिता-ग्रन्थः सोऽयमारण्यकेनाध्यायेन षट्संख्यापूरकेण सह षड्भिरध्यायैरुपेतः।

अर्थात यह छन्द आर्चिक छः अध्यायों से युक्त है। छठा अध्याय अरण्य का है।[1] सत्यव्रत ने अपनी भूमिका के अन्त में लिखा है कि यह बात विवरणकार माधव और साम सम्प्रदाय के विरुद्ध है।

४. सूर्य दैवज्ञ—संवत् १५६० के लगभग

सूर्य दैवज्ञ का परिचय पूर्व पृ० ७५-७६ पर दिया जा चुका है। उसी सूर्य ने एक साम भाष्य लिखा था। वह लिखता है—

अथ वामदेवस्य साम्नः प्रवृत्तिरापस्तम्बशाखायाम्-विश्वेभिर्देवैः पृतना जयामि जागतेन छन्दसा सप्तदशेन स्तोमेन वामदेव्येन साम्ना वषट्कारेण वज्रेण इति। अत्र सामगायने स्तोभस्तोमादिलक्षण-मस्माभिः सामभाष्ये प्रोक्तम्।[2]

अर्थात्—तैत्तिरीय संहिता ३।५।३।२॥ के मन्त्र में भी वामदेव के साम की प्रवृत्ति है। इस विषय में सामगान के स्तोभादि लक्षण हम ने साम भाष्य में कहे हैं।

बहुत सम्भव प्रतीत होता है कि यह साम भाष्य सामवेद भाष्य ही हो। सूर्यपण्डित के साम मन्त्रभाष्य का एक नमूना नीचे दिया जाता है—

कया नश्चित्र आभुवदूती सदा वृधः सखा।
कया शचिष्ठया वृता॥

भाष्यम्—वामदेवः वृधः सदा सदा वर्धमानः समष्टिरूपः परमात्मा चित्रश्चायनीयः पूजनीयः यद्वा विचित्राकृतिमयः सखा मित्रभूतः परमात्मा कया ऊती ऊत्यां संतर्पणेन कर्मणा वा नः अस्मान् आभुवत आभिमुख्येनाभवत्। अनुभवगोचरोऽभवत्।[3]

अर्थात्—भक्तिविशेष से वह पूज्य और अद्भुत परमात्मा, जो सदा (भक्तों के हृदय में) बढ़ता है; हमारे अनुभव गोचर होता है?

सूर्यपण्डित अपने गीता भाष्य में सामवेद सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ और मन्त्र उद्धृत करता है।[4] इस से निश्चय होता है कि वह साम सम्प्रदाय का अच्छा जानने वाला था। गीता १०।३५॥ के भाष्य में

---

१. भाग १, पृ० ६१।
२. गीताभाष्य ११।३॥
३. गीताभाष्य ११।३॥
४. गीता भाष्य ५।२८॥६।३२॥६।३३॥११।३३॥११।४०॥११।४२॥ इत्यादि।

वह जिस काण्व संहिता भाष्यकार के गायत्री मंत्र का भाष्य उद्धृत करता है, वह सायण नहीं है। काण्व संहिता के तीसरे अध्याय के तीसरे अनुवाक के २७ वें मन्त्र में सायण वह अर्थ नहीं करता। वह आनन्दबोध हो सकता।

सूर्यपण्डित का रावण भाष्य पर बड़ा विश्वास था। अपने गीता भाष्य के अन्त में वह लिखता है—

विदित्वा वेदार्थं दशवदनवाणीपरिणतं
शतश्लोकव्याख्यां परमरमणीयामकरवम्।
ततो गीताभाष्यं निखिलनिगमार्थैकनिलय
विधिज्ञार्यः सूर्यो नृहरिकरुणापाङ्गशरणः ॥६॥

अर्थात्—रावण भाष्य से वेदार्थ जानकर परम रमणीय शत श्लोक व्याख्या रचकर दैवज्ञ सूर्य ने सारे शास्त्रों का अर्थ एक स्थान में रखने वाला गीता का भाष्य किया।

सूर्यपण्डित के साम भाष्य में मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ ही रहा होगा क्योंकि गीताभाष्य में जितने साम मन्त्रों का अर्थ उस ने किया है वह सारा आध्यात्मिक रीति का ही है।

५. महास्वामी

आफर्ट के सूचीपत्र के द्वितीय भाग में संख्या ६४३५ के अन्तर्गत एक साम संहिता भाष्य प्रविष्ट है। इस का कर्ता महास्वामी बताया गया है।

एक महास्वामी का भाषिक सूत्र भाष्य भी इस समय मिलता है। इस का सम्पादन वैबर ने किया था।[१] अनन्त ने भी भाषिकसूत्र पर अपना भाष्य किया था। यह पहले पृ० १०६ पर लिखा जा चुका है। अनन्त का भाष्य महास्वामी के भाष्य की छायामात्र है। अतः यह महास्वामी ३०० वर्ष से पहले का होगा। यदि इसी महास्वामी ने सामवेद पर अपना भाष्य लिखा था, तो वह भी इतना ही पुराना होगा। महास्वामी के सामवेद भाष्य का उल्लेख हम ने अन्यत्र नहीं देखा।

६. शोभाकर भट्ट—संवत् १४६५ से पूर्व

शोभाकर भट्ट के आरण्यकविवरण के कोश संस्कृत कालेज कलकत्ता, एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, अलवर, बड़ोदा और पूना आदि स्थानों में विद्यमान हैं। आरण्यकविवरण के आरम्भ का श्लोक निम्नलिखित है—

वेदाख्यगानव्याख्यानं सम्यगेतत्कृतं मया।
आरण्यगानव्याख्यानं तथैवाथ विभाव्यते ॥

पूना और अलवर की सूची में वेदाख्य के स्थान में वेयाख्य पाठ शोधित कर के लिखा गया है। वेयगान का अर्थ सामवेद संहिता है। अस्तु इस से यह पता लगता है कि आरण्य की व्याख्या करने

१. इण्डीश स्टूडीन।

से पहले शोभाकर और भाष्य भी कर चुका था। सम्भवतः इसी शोभाकर का **नारदीय-शिक्षा-विवरण** भी इस समय मिलता है।

काल—शोभाकर संवत् १४६५ से पहले हो चुका था। पूना के नये सूचीपत्र में संवत् १७०६ का आरण्य-विवरण का जो कोश है, उस का मूल संवत् १४६५ का था। यह बात उसी कोश के अन्त में लिखी है। डा० कीलहार्न लिखते हैं—

That it (नादरीय शिक्षा विवरण) cannot be a very modern work would appear from the fact that a नादरीय शिक्षाविवरण टीका is quoted already in the भरतभाष्य (p. 16b of my ms.)

अर्थात्—नारदीय शिक्षाविवरण बहुत नया ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि एक नारदीयशिक्षा विवरण टीका भरत भाष्य में उद्धृत है।

कीलहार्न का संकेत किस भरतभाष्य की ओर है, यह मैं नहीं जान सका। भरतस्वामी के सामवेद भाष्य में ऐसी पंक्ति मेरी दृष्टि में नहीं आई।

इस अवस्था में हम अभी तक यही कह सकते हैं कि शोभाकर संवत् १४६५ से पूर्व का है।

७. गुणविष्णु—सन् ११५० से पूर्व

गुणविष्णु के ग्रन्थ का नाम **छान्दोग्यमन्त्रभाष्य** है। इस का एक सुन्दर संस्करण कलकत्ता से निकला था। उस के सम्पादक हैं श्री दुर्गामोहन भट्टाचार्य एम० ए०। उन्हीं की भूमिका के आधार पर अगली पंक्तियां लिखी गई हैं।

छान्दोग्यमन्त्रभाष्य साम की कौथुम शाखा के मन्त्रों पर है।[1] इन मन्त्रों में अधिकांश मन्त्र साममन्त्र ब्राह्मण के ही हैं।[2] हाँ कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं, जो उस में नहीं हैं। श्री दुर्गामोहन भट्टाचार्य का अनुमान है कि इन मन्त्रों का आधार कोई लुप्त साम मन्त्र पाठ होगा।

गुणविष्णु बङ्गाल अथवा मिथिला के किसी भाग का रहने वाला था। उसके ग्रन्थ का अब तक वहां बड़ा प्रचार है।

इस इतिहास के ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग के २२६ पृष्ठ पर लिखा था कि स्टोन्नर महाशय के विचारानुसार गुणविष्णु सायण से पहले हो चुका था। यही विचार श्रीदुर्गामोहन

---

१. इण्डियन एण्टीक्वेरी, जुलाई सन् १८७७, पृ० १७५।

२. किसी अज्ञात ग्रन्थकार की रुद्राध्यायव्याख्या में लिखा है—

हलायुधेन ये काण्वे कौथुमे गुणविष्णुना।
व्याता न मन्त्रा व्याख्यातास्तान् व्याख्यातुमिहोद्यमः॥

अर्थात्—गुणविष्णु ने कौथुम मन्त्रों की व्याख्या की है।

एशियाटिक सोसायटी बङ्गाल कलकत्ता का सूचीपत्र, वैदिक ग्रन्थ, भाग २, सन् १९२३, पृ० ६९०।

का है।[1] उन्होंने मन्त्रब्राह्मण के सायण भाष्य के कतिपय स्थलों की तुलना गुणविष्णु के मन्त्रब्राह्मण भाष्य के तत्सम्बन्धी स्थानों से की है। उस को देख कर पूर्ण निश्चय होता है कि एक ग्रन्थकार दूसरे के वाक्य के वाक्य काम में ले रहा है। श्रीदुर्गामोहन का विचार है कि हलायुध भी गुणविष्णु के ग्रन्थ को काम में ले आता है, अतः सायण से पूर्व होने से गुणविष्णु सायण भाष्य को काम में नहीं लाता, प्रत्युत सायण ही गुणविष्णु से सहायता लेता है। श्रीदुर्गामोहन की यह भी धारणा है कि गुणविष्णु महाराज बल्लालसेन और लक्ष्मणसेन के काल में राजपण्डित थे। इस प्रकार वह विक्रम की बारहवीं शताब्दी के अन्त या १३ वीं के आरम्भ में हुआ होगा।

षष्ठखण्ड के अन्त में गुणविष्णु प्रत्येक वेद के आदि मन्त्र का भाष्य करता है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के सम्बन्ध में वह लिखता है—

विनियोगो ब्रह्मयज्ञे।

अर्थात्—इस **अग्निमीडे** मन्त्र का विनियोग ब्रह्मयज्ञ में है।

यजुर्वेद के सम्बन्ध में वह शुक्ल यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र पढ़ता है। तथा सामवेद के प्रथम मन्त्र को पढ़ के वह निम्नलिखित मन्त्र पढ़ता है—

शन्नो देवीरभिष्टये शन्नो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः॥

इस के सम्बन्ध में वह लिखता है—

अथर्ववेदादिमन्त्रोऽयं पिप्पलाददृष्टः। वरुणदैवतः। छन्दो गायत्री। अत्र च शन्नो भवन्तु इत्यत्र आपो भवन्तु इति पठ्यते।

अर्थात्—यह अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र है। इस का द्रष्टा पिप्लाद है। इस से निश्चित होता है कि **शन्नो देवी** मन्त्र पैप्पलाद संहिता का आदि मन्त्र था।

गुणविष्णु के अन्य ग्रन्थ—इस ग्रन्थ के अतिरिक्त गुणविष्णु ने मन्त्रब्राह्मण पर भी भाष्य किया था। उस के कोश लाहौर, बड़ोदा आदि स्थानों में है। गुणविष्णु ने पारस्करगृह्य पर भी अपना भाष्य रचा था। पं० परमेश्वर झा छान्दोग्यमन्त्र भाष्य के अपने संस्करण की भूमिका में लिखते हैं—

एतत्कृतं पारस्करगृह्यभाष्यमप्यस्ति तच्च चन्दनपुराग्रामवासिनो मृतवैदिकजयपालशर्मणः सविधेऽन्तिमभागे कतिपयपत्रविकलं मयावलोकितमासीत्।[2]

अर्थात्—मैंने गुणविष्णु पारस्करगृह्य सूत्र भाष्य का एक कोश जिस के अंतिम कुछ पत्र त्रुटित थे चन्दनपुरा ग्रामवासी परलोकगत जयपाल शर्मा के घर देखा था। गुणविष्णु का भाष्य बड़ा सरल है।

दयानन्द कालेज लाहौर के पुस्तकालय में गुणविष्णु के भाष्य का एक हस्तलेख संवत् १५७७ का था।

हाईन्रिश स्टोन्नर अपने मन्त्र ब्राह्मण की भूमिका पृ० ३१ पर लिखता है—"मन्त्र ब्राह्मण पर दो भाष्य हैं। पुराना भाष्य दामुक के पुत्र गुणविष्णु का है और नया सायण का। सायण अपने

१. श्रीदुर्गामोहन सम्पादित छान्दोग्यमन्त्रभाष्य की भूमिका, पृ० ३५ की टिप्पणी।

पूर्वज के ग्रन्थ को बहुधा काम में लाता है। गुणविष्णु का सुनिश्चित काल जानना असम्भव है।............ वह १४वीं शताब्दी से थोड़ा सा पहले हो सकता है।"

सायण ने कहीं नाम लेकर गुणविष्णु का प्रमाण दिया हो, ऐसा स्टोनर महाशय ने नहीं लिखा।

मन्त्रार्थदीपिका का कर्ता शत्रुघ्न अपने ग्रन्थ की भूमिका में लिखता है—**उवटे मन्त्रव्याख्या गुणविष्णौ ब्राह्मणीयसर्वस्वे**। अर्थात् उवट भाष्य में जो मन्त्रव्याख्या है, तथा गुणविष्णु के भाष्य में और ब्राह्मणसर्वस्व में। शत्रुघ्न का काल निश्चित है। वह अपनी भूमिका में लिखता है—**आदेशादथ राज्ञस्तस्य श्रीधर्मचन्द्रस्य** ॥८॥ अर्थात् महाराज श्री धर्मचन्द्र की आज्ञा से। इस से पूर्व वह प्रयागचन्द्र, और श्री रामचन्द्र का नाम लिख चुका है। ये सब त्रिगर्त=काङ्गड़ा के राजा थे। प्रयागचन्द्र का काल सन् १४९५, रामचन्द्र का १५१० और धर्मचन्द्र का काल सन् १५२० है। इसलिए हम इतना तो निश्चय से कह सकते हैं, कि गुणविष्णु १६वीं शताब्दी से पहले का है।

हलायुध अपने ब्राह्मण सर्वस्व में गुणविष्णु को उद्धृत करता है।

८. एक अज्ञात भाष्यकार

सामवेद की जैमिनीय शाखा का एक जैमिनीय-गृह्य-सूत्र है। उस के मन्त्र पाठ पर एक वृत्ति है। उसका एक हस्तलेख दयानन्द कालेज के लालचन्द-पुस्तकालय में है। उस में हमें इस वृत्ति के कर्ता का नाम नहीं मिला। इस वृत्ति का आरम्भ निम्नलिखित प्रकार से है।

सकलभुवनैकनाथं श्रीकृष्णं नौमि हरिमुमां च शिव
गुरुमपि सुब्रह्मण्यं गजाननं भारतीं भवत्रातम्।
प्रणिपत्य विष्णुमीड्यं विबुधोपि कृपांबुधीन् समस्तगुरून्
गृह्यगतमन्त्रवृत्तिः करिष्यते जैमिनेस्तमविनमसि त्वा ?॥
अत्युक्तानि दुरुक्तानि यान्यनुक्तानि च स्फुटम्।
समादधतु विद्वांसस्तानि सर्वाणि बुद्धिभिः।

इस वृत्ति में निम्नलिखित ग्रन्थ वा ग्रन्थकार उद्धृत हैं—

स्मृति	पृ० १,२
ब्राह्मण	१,२२
शौनक	२,३
आश्वलायन	२
श्रुति	२,२०,३५
भाष्य=निरुक्त	३,४५
यास्क	७,८,९
वाधूलक सूत्र	१३

पद्मपुराण	१४,१५
वराहपुराण	१६
योगवासिष्ठ	१६
सांख्य	२०
विष्णु स्मृति	२०

भवत्रात जैमिनीय संप्रदाय का प्रसिद्ध आचार्य है। इस वृत्ति का कर्ता अपने प्रथम मङ्गल श्लोक में उसका स्मरण करता है। अतः वह उसके पश्चात् ही हुआ होगा।

इस वृत्ति का कर्ता कोई वैष्णव प्रतीत होता है। यह उसका अर्थ देखने से ज्ञात हो जाएगा—

त्रिपादूर्ध्व इति। वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्नरूपैस्त्रिपात्।[1]

इससे आगे वह पद्मपुराण के अनेक श्लोक उद्धृत करता है—

पृ० ४१ पर पितृतर्पण के विषय में वह लिखता है—

जैमिन्यादयोपि त्रयोदश मन्त्रा निगदव्याख्याताः। जैमिनीः गृह्यसूत्रयोः कर्ता सहस्रशाखोपेत-सामवेदाध्यायी च तस्मात्प्रधानाचार्यः। तं तर्पयामि प्रीतिभाजं करोमि। तलवकारादयो द्वादश एकैकशाखाध्यायिनः तांश्च तर्पयामि प्रीतिभाजः करोमीत्यर्थः।

अर्थात् जैमिनि सामवेद का प्रधानाचार्य था। वह सहस्र-शाखाध्यायी था। तलवकारादि बारह एक-एक शाखा पढ़ने वाले थे। उनका तर्पण करता हूं।

जैसा पूर्वोक्त पाठ के देखने से पता लगता है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ अन्यत्र भी बहुत अशुद्ध है।

१. देवनागरी प्रतिलिपि पृ० १५।

आठवां अध्याय

अथर्ववेद का भाष्यकार

१. सायण—संवत् १३७२-१४४४

जहां और वेदों के कई कई भाष्य इस समय भी मिलते हैं, वहां अथर्व वेद का केवल एक ही भाष्य सम्प्रति उपलब्ध होता है। है वह भी त्रुटित अवस्था में। वह भाष्य है सायण का। इसका सम्पादन परलोकगत पण्डित शङ्करपाण्डुरङ्ग ने किया है। उन्होंने इस भाष्य का एक त्रुटित ग्रन्थ प्राप्त किया। प्रथम चार काण्डों का उन के पास एक और भी कोश था, परन्तु वह पहले की नकलमात्र ही था। इतनी स्वल्प सामग्री से बहुयत्न पूर्वक उक्त पण्डित ने इस भाष्य के सुलभ भागों का सम्पादन किया।

सायण ने इस की रचना महाराज हरिहर के काल में की थी। इस समय वह ऋग्, यजु और सामवेद का भाष्य कर चुका था। वह अपने भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

व्याख्याय वेदत्रितयम् आमुष्मिकफलप्रदम्।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति॥१०॥

अर्थात्—परलोक में फल देने वाले तीन वेदों का व्याख्यान कर के अब इस लोक और परलोक के फल स्वरूप चौथे वेद का व्याख्यान करता है।

अपने भाष्य की भूमिका में सायण लिखता है कि यह वेद बीस काण्ड युक्त है—

अतः एकर्चादीनाम् ऋषीणां विंशतिसंख्याकत्वाद् वेदोऽपि विंशतिकाण्डात्मकः संपन्नः।

इस भाष्य की भूमिका में अथर्ववेद सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य विषयों पर सायण ने प्रकाश डाला है। आथर्वण शाखाओं के विषय में वह लिखता है—

अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति। तद्यथा—पैप्पलादास्तौदा मौदाः शौनकीया जाजला जलदा ब्रह्मवदा देवदर्शाश्चारणवैद्याश्चेति।

इसके अनन्तर आथर्वण सूत्रों के सम्बन्ध में वह उपवर्ष का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करता है—

नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः।
तुर्य आङ्गिरसः कल्पःशान्तिकल्पस्तु पञ्चमः॥ इति॥

अर्थात्—नक्षत्र कल्प, वैतान, संहिताविधिः—कौशिकसूत्र, चतुर्थ आङ्गिरस कल्प और पांचवां शान्तिकल्प है।

यह श्लोक ब्रह्माण्ड और वायु पुराण दोनों में मिलता है। उनके शाखा प्रकरण में यह वर्णित है।

सायण का मत है कि रोगनिवारक आथर्वण मन्त्र होमादि से उन रोगों को निवृत्ति करते हैं, जिनका कारण कोई पापाचरण है।[1] इस से आगे वह एक रुद्रभाष्यकार को उद्धृत करता है।

सायण के आथर्वणभाष्य का प्रधानाधार कौशिक और वैतानसूत्र हैं।

हमने सुना है कि ग्वालियर में सायण के अथर्ववेद भाष्य का एक सम्पूर्ण कोश है। इसे प्राप्त करने का यत्न होना चाहिए।

१. भाष्य, पृ० ५।

नवम अध्याय

पदपाठकार

पदपाठ वेदों के सबसे प्राचीन सरल और संक्षिप्त भाष्य हैं। इनकी सहायता से कई पदों की प्रकृतियां, उनके प्रत्यय, समासों का स्वरूप और पदों का विच्छेद इत्यादि अनेक बातें अनायास ज्ञात हो जाती हैं। इनमें से अधिकांश बातों को स्पष्ट करने के लिए पदपाठकार अवग्रह [ऽ] का प्रयोग करते हैं। वेदार्थ में पदपाठों का बड़ा प्रमाण है। पर क्योंकि कई पदों का अनेक प्रकार का विच्छेद हो सकता है, और भिन्न-भिन्न संहिताओं के पदपाठों में वह मिल भी जाता है, अतः वेदार्थ करने वाले की दृष्टि बड़ी गम्भीर होनी चाहिए। उसके लिए सारे ही पदपाठों का तुलनात्मक अध्ययन अनिवार्य है। योरुप और अमेरिका के कुछ वेदानुवादकों ने इन पदपाठों में कई दोष निकाले हैं। वे अपना आधार आधुनिक भाषा-विज्ञान को समझते हैं। यह भाषा-विज्ञान अभी बड़ा अपूर्ण है। इसके विपरीत हमारा सुदृढ़ निश्चय है कि पदपाठकारों को अपनी परम्परा सुविदित थी। वैदिक विज्ञान के, चाहे वह व्याकरण विज्ञान हो या भाषा-विज्ञान, कल्प-विज्ञान हो या छन्दोविज्ञान, वे असाधारण ज्ञाता थे। वे इन विज्ञानों के पारदर्शी थे। अतः उनके पदपाठों का, उनके इन अत्यन्त संक्षिप्त भाष्यों का, अब उल्लेख किया जायेगा।

(क) ऋग्वेद के पदपाठकार

१. शाकल्य

जिस विदग्ध शाकल्य का महाराज जनक की सभा में याज्ञवल्क्य के साथ महान् संवाद हुआ था[१] पुराणों के अनुसार ऋग्वेदाध्यापक देवमित्र शाकल्य वही था। ब्रह्माण्ड पुराण के पूर्व भाग के दूसरे पाद के अध्याय ३४वें में लिखा है—

> शाकल्यः प्रथमस्तेषां तस्मादन्यो रथीतरः।
> बाष्कलिश्च भरद्वाज इति शाखा प्रवर्तकाः ॥३२॥
> देवमित्रस्तु शाकल्यो, ज्ञानाहंकारगर्वितः।
> जनकस्य स यज्ञे वै विनाशमगमद्द्विजः ॥३३॥

१. शतपथ ब्राह्मण ११।४।६।३॥

इससे अगले अध्याय में पुनः लिखा है—

देवमित्रश्च शाकल्यो महात्मा द्विजपुंगवः ।
चकार संहिता पंच बुद्धिमान् वेदवित्तमः ॥१॥

अर्थात्—[उस सत्यश्रिय के तीन शिष्य थे ।] शाकल्य उनमें से पहला था, दूसरा था शाकपूणि रथीतर और तीसरा था बाष्कलि भरद्वाज । ये शाखा प्रवर्तक थे । देवमित्र शाकल्य ज्ञानाहङ्कार से गर्वित जनक के यज्ञ में विनाश को प्राप्त हुआ । द्विज श्रेष्ठ महात्मा देवमित्र शाकल्य ने, पांच संहिताएं बनायीं । वायुपुराण ६०।६३॥ में **वेदवित्तमः** के स्थान में **पदवित्तमः** पाठ है । यह पाठ ब्रह्माण्ड के पाठ से अधिक युक्त है ।

इस इतिहास के ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग के पृ० ७६, ७७ पर हमने विदग्ध शाकल्य और देवमित्र शाकल्य को एक माना है । अपने ऋग्वेद पर व्याख्यान के पृ० २५ पर हमने शाकल्य, स्थविर शाकल्य और विदग्ध शाकल्य तीन भिन्न-भिन्न पुरुष माने थे । अब हमारा ऐसा विचार नहीं है । इन तीनों को एक ही मानना अधिक संगत प्रतीत होता है ।

इस शाकल्य का उल्लेख निरुक्त और ऋक्प्रातिशाख्य में मिलता है । हम अपने ऋग्वेद पर व्याख्यान के पृ० १–२५ तक इसका वर्णन विशेष कर चुके हैं ।

काल—कीथ प्रभृति पाश्चात्य लेखकों का मत है कि ईसा से लगभग छः सौ वर्ष वा इससे कुछ पूर्व शाकल्य हुआ था ।[1] उनके इस विचार का आधार उनकी कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं । वह कल्पना भी नितान्त निर्मूल है । दूसरी ओर हम जानते हैं कि शाकल्य महाभारत-काल का ग्रन्थकार है । वह काल ईसा के सन् से ३००० वर्ष पूर्व के समीप का है । तभी मिथिला में वह महाराज जनक राज्य करते थे, जिनकी सभा में इस शाकल्य का याज्ञवल्क्य के साथ संवाद हुआ था । शाकल्य का काल वस्तुतः याज्ञवल्क्य का काल ही है ।

पदपाठ—ऋग्वेद का शाकल्य कृत पदपाठ मुम्बई में छपा है । मैक्समूलर ने भी यही पदपाठ सम्पादित किया था । उसका मुद्रण काल सन् १८७३ है । मैक्समूलर सम्पादित पदपाठ प्राचीन पदपाठ की पूरी नकल नहीं है । सम्भवतः स्थान बचाने के लिए ही मैक्समूलर ने प्रगृह्य पदों के साथ का पदपाठस्थ इति पद सर्वत्र उड़ा दिया है । शाकल्य का पदपाठ कई स्थानों पर यास्क को अनभिमत था ।[2]

ऋग्वेद के अष्टमाष्टक अन्तर्गत वालखिल्य सूक्तों पर जो पदपाठ इस समय मिलता है, वह किसका है, यह अभी विचारणीय है ।

२. रावण—सोलहवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व

इसके पदपाठ के विषय में पूर्व पृ० ७७, ७८ पर लिखा जा चुका है ।

(ख) यजुर्वेद का पदपाठकार

माध्यन्दिन संहिता के पदपाठकार का नाम अभी तक अज्ञात ही है । वह शायद कात्यायन था ।

---

१. ऐतरेय आरण्यक भूमिका, पृ ७३ ।
२. निरुक्त ५।२१॥ **मासकृत्** । ६।२८॥ **वायः** ।

एशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता के नवीन सूचीपत्र के दूसरे भाग के पृ० ६८३ पर एक **वाजसनेयिसंहिता पदपाठ** का वर्णन है। वह माध्यन्दिन संहिता का ही पदपाठ है। उसके अन्त में लिखा है—

इति श्रीशाकल्यकृतपर्वविंशतमोऽध्यायः।

इससे अनुमान हो सकता है कि माध्यन्दिन संहिता का पदपाठकार भी शाकल्य ही था। परन्तु इस लेख का क्या आधार है और इस पर कितना विश्वास करना चाहिए, यह विषय गवेषणा योग्य है।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक के पास वाजसनेयी संहिता का पदपाठ है। पूर्वार्ध के अन्त में लिखा है—

संवत् १४७१ वर्षे शाके १३३६ आषाढ़ शु० २५ भौमे।

अन्त में लिखा है—

१ संवत् कालातीत विक्रम संवत् १४७१ वर्षे शाके १३३६ वतमाने सींघणीग्रामवास्तव्य ज्योति रामदेव शुत ज्योति पीपा शुत त्वमरेश्वर पठनार्थे लिषितं।

अन्तिम १० अध्याओं के अन्त में लिखा है—

इति श्री वाजसनेयी संहितायां शाकल्य कृते पदे—

इस पदपाठ में एक बात विशेप विचारणीय है। यजुर्वेद में एक मन्त्र है—

......दन्तमूलैर्मृ॑दं वस्वैँस्तेगान्दꣳष्ट्राभ्याम्...... २५।१॥

मुद्रित पदपाठ में इसके स्थान में—

बस्वैँः। तेगान्।

ऐसा पाठ छपा है। महीधर काण्वसंहिता भाष्यकार आनन्दबोध ने तेगां पाठ माना है। प्रतीत होता है कि बहुत पुराने काल से लेखक प्रमाद से पदपाठ में अशुद्धि हो चुकी थी। यही कण्डिका रूपान्तर से **तै० सं० ५।७।११॥ तै० ब्रा० ३।६।११।१॥ आपस्तम्ब श्रौत २०।२१।६॥** और **बौधायन श्रौत १५।३५॥** आदि में आई है। उसका आरम्भ निम्नलिखित प्रकार से है—

स्तेगान्दꣳष्ट्राभ्याम्

इससे निश्चित होता है कि माध्यन्दिन पदपाठ में भी **बस्वैः। स्तेगान्।** पाठ होना चाहिए।

वा शरि [अष्टाध्यायी ८।३।३६॥] पर पतञ्जलि ने **वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपः** वार्तिक दिया है। तदनुसार संहिता पाठ में **बस्वैः** के विसर्ग का लोप है।

यह पदपाठ एक स्थान में शतपथ के अभिप्राय से नहीं मिलता। अतः ७।१०॥ के भाष्य में उवट लिखता है—

ऋतायुभ्यां।...... ऋतशब्देनात्र मित्रोऽभिधीयते। आयुशब्देन वरुणः। अयं तावत् श्रुत्यभिप्रायः यनैवमाह—ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यृतं वरुण एवायुरिति [श० ४।१।४।१०॥] **पदकारस्तु—ऋतायुभ्यामित्येकं पदं कृतवान्।**

माध्यन्दिन संहिता का पदपाठ तत्त्वविवेचक मुद्रणालय मुम्बई में शक १८१५ में छपा था।

(ग) काण्वसंहिता का पदपाठकार

इसके कर्ता के नामादि के सम्बन्ध में भी अभी तक हम कुछ नहीं जान सके। यह पदपाठ अभी तक अमुद्रित ही है।

(घ) मैत्रायणीसंहिता का पदपाठकार

मैत्रायणी संहिता का सम्पादन डा० श्राडर ने किया था। अपने संस्करण में उन्होंने किसी मैत्रायणी पदपाठ की सहायता भी ली थी। वह पदपाठ केवल मन्त्रपाठ का है, और पूना में सुरक्षित है। समग्र मैत्रायणी संहिता का एक विशेष पाठ मैंने अब प्राप्त कर लिया है। इसमें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों का पदपाठ है। स्वर के चिन्हों की दृष्टि से यह ऋग्वेद से मिलता है। शक १७३४ इसका लिपि-काल है। नासिकक्षेत्र वासी श्री यज्ञेश्वर दाजी ने यह ग्रन्थ प्रतिलिपि करा लेने के लिए हमें दिया है। इसके कर्ता का नाम अभी तक अज्ञात ही है।

श्राडर अथवा पूना के पदपाठ का मूल मैत्रायणी संहिता का एक विशेष पाठ है, और नासिक के पदपाठ का मूल मैत्रायणी संहिता का एक दूसरा पाठ है। उन दोनों मूल पाठों में यद्यपि बहुत भेद नहीं, तथापि भेद है अवश्य। श्राडर ने मैत्रायणी संहिता का सम्पादन अपने पदपाठ के पाठों के अनुकल किया है। दूसरे पाठ उसने टिप्पणी में दिए है। यथा—

अतस्त्वं बर्हिः शतवल्शꣳविरोह सहस्रवल्शा वि वयꣳरुहमे ।।१।।१।२।।

इस स्थान पर श्राडर के हस्तलेखों में **शतवल्शं** और **सहस्रवल्शा** का दो प्रकार का पाठ है। एक प्रकार तो यही है और दूसरा है—**शतवलिशꣳ** तथा **सहस्रवलिशा**।

श्राडर के पास जो पदपाठ था उसने तदनुसार **शतवल्शं** और **सहस्रवल्शा** पाठ मूल संहिता में रखा है। हमारा पदपाठ दूसरे प्रकार की संहिता का अनुकरण करता है। हमारे पदपाठ में **शतवलिशं** और **सहस्रवलिशा** पद है। श्राडर स्वीकृत पाठ ऋग्वेद में मिलता है और नासिक के पदपाठ का पाठ अथवा उस मूल का पाठ जिसका यह पदपाठ है, कपिष्ठल संहिता में पाया जाता है। हम नहीं कह सकते कि इन दोनों में कौन सा अशुद्ध है और दूसरा शुद्ध।

इसी प्रकार का एक और पाठ भी देखने योग्य है। मुद्रित मैत्रायणी संहिता में निम्नलिखित मन्त्रांश है—

यो अस्मान्ध्वराद्यꣳ वयं ध्वराम तं ध्वर ।१।१।४।।

श्राडर के पूना के पदपाठ में **ध्वरात्। यं।** पाठ है। हमारे पदपाठ में इसके स्थान में **ध्वर। अयं।** पाठ है। इसका मूल में **ध्वरायꣳ** पाठ था। श्राडर के मूल संहिता के कई कोशों में भी मूल का ऐसा ही पाठ है। यह उसकी सम्पादन की हुई संहिता की टिप्पणी के देखने से स्पष्ट हो जाता है।[1] इस से सन्देह उत्पन्न होता है कि मैत्रायणी संहिता के इन दो प्रकार के पाठों में से एक पाठ मैत्रायणियों की

१. इस पाठ का अर्थ ठीक नहीं बनता। यदि मूलपाठ **ध्वरायं** माना जाए तो पदपाठ में **ध्वर। यं।** होना चाहिए। यह पाठ सार्थक हो जाता है।

किसी अवान्तर संहिता का पाठ हो सकता है। मैत्रायणी के छः अथवा सात भेद प्रसिद्ध हैं। सम्भव है उन्हीं अवान्तर भेदों में से किसी एक शाखा का यह पदपाठ हो। इसके साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि नासिक में हमने पूर्वोक्त यज्ञेश्वर दाजी के घर में मैत्रायणी संहिता का एक कोश देखा था जिसके अन्त में लिखा था—

इति मैत्रायणीमानववाराहसंहिता समाप्ता ॥

(ङ) तैत्तिरीयसंहिता का पदपाठकार

१. आत्रेय

१. निघण्टु १।३॥ के भाष्य में **व्योम** शब्द की व्याख्या में देवराज यज्वा आत्रेय नाम के एक पदपाठकार का उल्लेख करता है।

२. भट्ट भास्कर के तैत्तिरीय-संहिता-भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

उखश्चात्रेयाय ददौ येन पदविभागश्चक्रे

अर्थात् उखा ने यह संहिता आत्रेय को पढ़ाई। उस आत्रेय ने इसका पदपाठ बनाया।

३. भट्ट भास्कर के इस लेख का मूल काण्डानुक्रमणी का निम्नलिखित वचन है।

यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः ॥

अर्थात् जिसका पदकार आत्रेय और वृत्तिकार कुण्डिन है।

४. स्कन्द महेश्वर अपनी निरुक्त भाष्य टीका २।१३॥ में एक पदकार आत्रेय का स्मरण करते हैं।

५. एक आत्रेय का नाम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५।३१॥ और १७।८॥ में, बौधायन गृह्यसूत्र १।४।४४॥ में और वेदान्तसूत्र ३।४।४४॥ में मिलता है। बौधायनगृह्य ३।६।७॥ में लिखा है—

आत्रेयाय पदकाराय

अर्थात् ऋषितर्पण में पदकार आत्रेय का भी स्मरण करना चाहिए।

इस पदपाठकार का काल भी लगभग वही है, जो शाकल्य का है। शाखा-प्रवर्तक सारे ऋषि एक ही काल में हुए थे, और उनकी संहिताओं का पदपाठ भी उन्हीं के साथियों ने किया था। अतः प्रायः सारे पदपाठकार एक ही काल में हुए थे। इस सम्बन्ध में कीथ ने लिखा है—

There appears in its treatment of grammar some ground for dating it earlier than the Pada of the Rigveda: the latter indeed is simpler in its treatment of the analysis of words into their component elements, but it would be unwise to build any theory on that fact.[1]

अर्थात्—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में व्याकरण का जो वर्णन है, उससे इस बात को कुछ आधार मिलता है कि ऋग्वेद के पदपाठ से तैत्तिरीय प्रातिशाख्य कुछ पूर्व का है, परन्तु इतनी ही बात से किसी सिद्धान्त का निश्चित करना बुद्धिमत्ता नहीं।

१. कीथ का कृष्णयजुर्वेदानुवाद, भूमिका, पृ० ३०।

अस्तु, प्रातिशाख्यों में व्याकरण का निदर्शन चाहे कैसे ही हुआ हो, सारे पदपाठ एक ही काल के हैं। शाखा प्रवचन सम्बन्धी आर्य ऐतिह्य इस का अकाट्य प्रमाण है।

तैत्तिरीय संहिता के पदपाठ का एक बड़ा सुन्दर संस्करण कुम्भघोण में छप चुका है।[1]

भट्टभास्कर तैत्तिरीय संहिता भाष्य में कहीं-कहीं ऐसा भी अर्थ करता है, जो पदपाठ के अनुकूल नहीं होता। यथा—

अस्वप्नजः। अस्वप्नशीलः।......। पदकारानभिमतत्वात् अन्यथा व्याख्याते—स्वप्नजन्मानो न भवन्तीत्यस्वप्नजाः। तै. सं. १।२।१४।।

अर्थात्— अस्वप्नजः का अर्थ है "जिसे स्वप्न न आवे।" परन्तु पदकार के अनुसार जः से पूर्व अवग्रह है, अतः उसके अनुसार इस का अर्थ है "जो स्वप्न से उत्पन्न न हो।" इसी प्रकार अन्यत्र भी भट्टभास्कर कभी-कभी पदकार के विपरीत अर्थ करता है।

(च) सामवेद का पदपाठकार

१. गार्ग्य

(१) निरुक्त ४।३।४।। में आए हुए **मेहना** पद के भाष्य में स्कन्दस्वामी लिखता है—

एकमिति शाकल्यः। त्रीणीति गार्ग्यः।

अर्थात्— शाकल्य संहिता में यह एक पद है ओर गार्ग्य की संहिता में तीन पद हैं।

इस के आगे शाकल्य पक्ष में **मेहना** का **मंहनीयं** अर्थ कर के स्कन्द लिखता है—

छन्दोगानां तु मेहना शब्दो नैवास्ति यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति—इत्येवरूपः पाठः तेषां—चित्र। मे। इह। न अस्ति। इत्येषां पदानां मे। इह। न। इत्येवंरूपाणि मध्यमानि पदानि।[2]

(२) निरुक्त के इसी पाठ के सम्बन्ध में दुर्ग लिखता है—

भाष्यकारेणोभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ।.........। पदकारयोः पदविकल्पे कोऽभिप्राय इति।

अर्थात्—भाष्यकार यास्क ने शाकल्य और गार्ग्य दोनों का अभिप्राय कह दिया। इन दोनों पदकारों के पद विकल्प में क्या अभिप्राय है, यह कहा जाता है।

दुर्ग का स्पष्ट रूप से यहां यह अभिप्राय है, कि गार्ग्य छन्दोगों का पदपाठकार है। स्कन्द के लेख से यह बात इतनी स्पष्ट नहीं होती इसका एक कारण है। छन्दोगों की मूल संहिता [प्र० ४, अर्धप्र० २, ६. मं० ४] में भी वही पाठ है, जो दुर्ग के अनुसार पदपाठकार का पाठ है। अस्तु, इस बात से इतना निश्चित हो जाता है कि सामवेद के पदपाठकार का नाम **गार्ग्य** था।

---

१. तैत्तिरीयसंहिता पदपाठः सस्वरः। वैद्यनाथशास्त्रिणा नारायणशास्त्रिणा च परिशोधितः कुम्भघोणे प्रकाशितश्च। सन् १९१५।

२. हमने यह पाठ डा० स्वरूप के पाठ की अपेक्षा यद्यपि बहुत शोधकर दिया है, तथापि यह पूरा सन्तोषजनक नहीं है। मूल निरुक्त के अनुसार पांच पदों में से पहला पद **यत्** गिनना चाहिए। दुर्ग की भी यही सम्मति है।

पदपाठ—सामवेद का पदपाठ दूसरे पदपाठों की अपेक्षा कुछ नूतनता रखता है। यह नूतनता अनेक पदों के कुछ तोड़ने में है। आगे उन कतिपय शब्दों का नमूना दिया जाता है, जिस में यह बात पाई जाती है। इस के लिए हम ने सत्यव्रत सामश्रमी सम्पादित सामपदसंहिता का प्रयोग किया है। उसी के पृष्ठ आदि का प्रमाण नीचे टिप्पणी में दिया गया है—

संहिता पाठ	पदपाठ
मित्रम्	मि। त्रम्।[1]
अद्य	अ। द्य।[2]
विप्रासः	वि। प्रासः।[3]
सूनृता	सु। नृता।[4]
अन्ये	अन्। ये।[5]
सख्ये	स। ख्ये।[6]
अहनी	अ। हनी।[7]
श्रद्धा	श्रत्। धा।[8]
अघ	अ। घ।[9]
चन्द्रमसः	चन्द्र। मसः।[10]
समुद्रम्	सम्। उद्रम्।[11]
दूरात्	दुः। आत्।[12]
स्वस्तये	सु। अस्तये।[13]
पुरन्दर	पुरम्। दर।[14]
मेध्यातिथे	मेध्य। अतिथे।[15]
सूर्यस्य	सु। ऊर्यस्य।[16]
उस्रियाः	उ। स्रियाः।[17]
पुस्त्रस्य	पुत्। त्रस्य।[18]

१. पृ० १ मं० ५॥
२. पृ० ५ मं० ६॥
३. पृ० ५ मं० ८॥
४. पृ० ७ मं० २॥
५. पृ० १८ मं ६॥
६. पृ० ९ मं ४॥
७. पृ० ११ मं० ३॥
८. पृ० १३ मं० १०॥
९. पृ० १८ मं० २॥
१०. पृ० २१ मं० ३॥
११. पृ० २७ मं० ४॥
१२. पृ० २९ मं० ६॥
१३. पृ० ३६ मं० ४॥
१४. पृ० ३७ मं० ९॥
१५. पृ० ४० मं० ७॥
१६. पृ० ८० मं० ६॥
१७. पृ० ८० मं० १०॥
१८. पृ० १८८ मं० २॥

ये पद हम ने दिग्दर्शनमात्र के लिए यहां रख दिए हैं। ऐसा पदविच्छेद दूसरे पदपाठों में देखने में नहीं आता। यास्कीय निरुक्त में इस पदपाठ की बड़ी छाया है। यास्क के अनेक निर्वचनों का आधार यही पदपाठ है, यह अगली तुलना से स्पष्ट हो जायगा—

पदपाठ	निरुक्त
मि । त्रम् ।	प्रमीतेस्त्रायते । १०।२१॥
अ । द्य ।	अस्मिन् द्यवि । १।६॥
स । ख्ये ।	समानख्याना । ७।३०॥[1]
श्रत् । धा ।	श्रद्धानात् । ९।३०॥
अ । घ ।	हन्तेः । निर्ह्रसितोपसर्गः । आहन्तीति ।६।११॥
चन्द्र । मसः ।	चन्द्रो माता...... ११।५॥
सम् । उद्रम् ।	समुद्द्रवन्त्यस्मादापः । २।१०॥
दुः । आत् ।	दुरयं वा । ३।१९॥
सु । अस्तये ।	सु । अस्तीति । ३।२१॥
उ । स्रियाः ।	उस्राविणोऽस्यां भोगाः । ४।१९॥
पुत् । त्रस्य ।	पुन्नरकं ततस्त्रायत इति । २।११॥

इन निर्वचनों को करते हुए यास्क के मन में निस्सन्देह इस पदपाठ का ध्यान था। अतः इन निर्वचनों का काल यास्क से बहुत पहले का हो जाता है। यदि सामवेद की दूसरी शाखाओं के पदपाठ भी मिल जाएं तो निरुक्त के अध्ययन में बड़ी सहायता होगी। आशा है उन पदपाठों में भी इस पदपाठ के समान पदविच्छेद की ऐसी नूतनता पाई जाएगी।

(छ) आथर्वण पदपाठ

अथर्ववेद का पदपाठ ऋग्वेद के पदपाठ के प्रायः समान है। हस्तलेखों में अवग्रह के स्थान में ऐसा ऽ चिन्ह नहीं होता प्रत्युत एक ऐसा 0 बिन्दु दिया होता है। इस के कर्ता का नाम अभी तक अज्ञात है। इस में कोई विशेष वर्णनीय बात नहीं है।

पदपाठों का संक्षेप से तुलनात्मक अध्ययन

(१) पद की आवृत्ति

ऋग्वेद और अथर्ववेद के पदपाठों में पद में अवग्रह दिखाने के लिए शब्द की आवृत्ति नहीं की जाती है। यथा—

पर:ऽहितम् ऋ. १. १. १.

त्रिऽसप्ताः अथ. १. १. १.

यजुः, तैत्तिरीय, मैत्रायणी और साम के पदपाठों में अवग्रह दिखाने के लिए शब्द की आवृत्ति की जाती है। यथा—

१. डाक्टर स्वरूप-सम्पादित निरुक्त में समानाख्याना पाठ है।

श्रेष्ठंतमायेति श्रेष्ठंऽतमाय । यजुः १. १.

श्रेष्ठंतमायेति श्रेष्ठंऽतमाय । तै० १. १. १. मै० १. १. १.

हव्यदातये । हव्यदातये । सा० पू० १. १. १.

(२) इव का प्रयोग

इव शब्द ऋक् यजुः, अथर्व और मैत्रायणी के पदपाठकारों ने समस्त माना है । यथा—

पिताऽइंव । ऋ० १. १. ९. राजेवेति राजाऽइव । यजुः १३. ९.

पिताऽइंव । अथर्व २. १३. १.. वस्नेवेति वस्नाऽइव । मैत्रा० १. १०. २.

साम और तैत्तिरीय के पदपाठ में इव पृथक् रखा है । यथा—

क्षोणीः । इव ॥ सा० पू० ४. ४. ४.

राजा । इव ।। तै० १. २. १४. २८.

लौकिक वाङ्मय में भी इव पद कहीं समस्त और कहीं असमस्त होता है । यथा—

समस्त-वागर्थाविव संपृक्तौ । रघुवंश सर्ग १ श्लोक १ ।

असमस्त-कदाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ । किरा० सर्ग १ श्लोक ३६ ।

किरात के इस श्लोक में इव का सम्बन्ध गजौ पद से है ।

(३) पदपाठों में स्वराङ्कनप्रकार

ऋक्, यजु, अथर्व के पदपाठ में अवग्रह के अन्त में विद्यमान स्वरित से परे अगले अंश में विद्यमान अनुदात्त को प्रचय तथा उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित होता है । यथा—

वीरवंत्ऽतमम् । ऋ० १. १. ३. घृतऽप्रतीका । ऋ० १०. ११४. ३.

श्रेष्ठंतमायेति श्रेष्ठंऽतमाय । यजु० १. १.

प्रजावतीरिति प्रजाऽवंतीः यजु० १. १.

अग्निऽस्वात्ताः । अथर्व० १८. ३. ४४. अग्निऽतेजाः । अथर्व० १०. ५. २५.

तैत्तिरीय संहिता में ऐसा नहीं होता ।

श्रेष्ठंतमायेति श्रेष्ठंऽतमाय । तै० १. १. १.

प्रजावंतीरिति प्रजाऽवतीः । तै० १. १. १.

इस विषय में मैत्रायणी का एक पदपाठ तैत्तिरीय का अनुकरण करता है और दूसरा ऋग्वेदादि के समान है। यथा—

श्रेष्ठंतमायेति श्रेष्ठंऽतमाय अथवा

श्रेष्ठंतमायेति श्रेष्ठंऽतमाय। मै० १.१.१.

अघशंस इत्यघऽशंसः। अथवा अघशंस इत्यघऽशंसः। म० १.१.१.

इन चारों उदाहरणों में से प्रथम और तीसरा तैत्तिरीयों के अनुसार है और शेष दोनों ऋग्वेद के अनुसार हैं।

काण्वसंहिता के एक पदपाठ में स्वराङ्कन प्रकार निम्नलिखित है—

प्रजावतीरिति प्रजाऽवतीः

अर्थात्—वह उदात्त अनुदात्त और स्वरित तीनों के चिन्ह लगाता है।

(४) इतिकरण

१. ऋक् और अथर्व के पदपाठों में प्रगृह्य पदों में इति का प्रयोग है। यथा—

वायो इति। ऋ० १. २. १. अथ० ६. ६८. १.

तथा "अकः" इत्यादि पदों में कहीं इति का प्रयोग है। यथा—

अकरित्यकः। ऋ० १. ३३. १५. अथ० २०. ३४. ४.

२. यजुः में प्रगृह्य और अवग्रह योग्य पदों में इतिकरण है। यथा—

विष्णो इति। यजु० १. २.

श्रेष्ठंतमायेति श्रेष्ठंऽतमाय। यजु० १. १.

तथा "अकः" इत्यादि पदों में भी ऋग्वेदवत् इतिकरण है। यथा—

अकरित्यकः। यजुः ११. २२.

मैत्रायणी तथा तैत्तिरीय में प्रगृह्य इङ्ग्य तथा उपसर्गों में इति देखा जाता है। यथा—

प्रगृह्य—विष्णो इति। मै० १. १. ३. तै० १. १. ३. ४.

इङ्ग्य—श्रेष्ठंतमायेति श्रेष्ठंऽतमाय। मै० १.१.१. तै० १.१.१.

उपसर्ग—प्रेति । मै० १.१.१. तै० १.१.१.

पर मैत्रायणी का एक पदपाठ उपसर्ग में इति का प्रयोग नहीं करता ।

तै० संहिता में भी जहां दो उपसर्ग साथ में हैं वहां केवल एक के साथ इतिकरण है । यथा—

"सं प्रयच्छति" सम् । प्रेति । यच्छति । तै० ६. ३. २.

साम में भी प्रगृह्य में इति करण है । यथा—

त्वे इति । सा० पू० १. ४. ४.

विभिन्न पदसंहिताओं में एक ही शब्द के भिन्न २ पदपाठ

१. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

यह मन्त्रार्ध ऋग्वेद १।८९।८।। यजु: २५।२१।। मैत्रायणी संहिता ४।१४।२।। काण्व संहिता ३५।१।। और तैत्तिरीय आरण्यक १।१।१।। आदि स्थानों में मिलता है । तैत्तिरीय आरण्यक को छोड़ कर शेष ग्रन्थों में यजत्राः पद अनुदात्त (निघात) है इस प्रकार यह देवाः का विशेषण बनता है, जो स्वयं निघात है। तैत्तिरीय आरण्यक और मैत्रायणी संहिता के (Bb) पाठान्तर में इसे आद्युदात्त माना गया है ।

यह बात भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय आरण्यक १।१।१।। के भाष्य में लिखी है ।

एष्टा रायः

यह मन्त्रांश यजु: ५।७।। शतपथ ३।४।३।२१।। ऐ० ब्रा० १।२६।। और तै० सं० १।२।११।। में मिलता है । इस के सम्बन्ध में भाष्यकारों का निम्नलिखित लेख है—

उवट— एष्टा रायः । यजतेः कृतसंप्रसारणस्यैतद्रूपं निष्ठाप्रत्यये परतो दानार्थस्य । आ इष्टा रायः मर्यादया इष्टानि धनानि ।

सायण—हे इष्टः । तृजन्तस्य सम्बुद्धिः ।

सायण—हे एष्टः ।......... यद्वा एष्टा इति प्रथमान्तम् ।

भट्टभास्कर—हे एष्टः एषणशील ।

केचिन्निष्ठायां वर्णव्यत्ययेन इकारस्यैकारमाहुः अनामन्त्रितत्वं च मन्यन्ते । तदा आद्युदात्तत्वं च दुर्लभम् । शाखान्तरे तु—आ इष्टः एष्ट इति मत्वा अवग्रहं कुर्वन्ति ।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि तैत्तिरीय संहिता के पदपाठ में एष्टः एक पद है और माध्यन्दिन पदपाठ में आऽइष्टाः इस प्रकार का अवगृहीत पद है। तैत्तिरीय में यह पद सम्बोधन के अर्थ में है और माध्यन्दिन में रायः का विशेषण है ।

पदपाठकार और महाभाष्य

पतञ्जलि मुनि अपने महाभाष्य में तीन स्थानों पर निम्नलिखित वचन लिखते हैं—

न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः । पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम् । यथालक्षणं पदं कर्तव्यम् ।

अर्थात्—पदकारों के पीछे व्याकरण का सूत्र नहीं चलना चाहिए। पदकारों को व्याकरण के पीछे चलना चाहिए। जैसा सूत्र हो वैसा पद होना चाहिए।

इन तीन स्थानों में से पहले स्थान में पतञ्जलि कहता है कि आज्यम् के पद बनाते समय आऽज्यम् इस प्रकार के अवग्रह होना चाहिए।[1] यह पद ऋग्वेद के दशम मण्डल में कई बार आया है। वहां इस पद में अवग्रह नहीं है।

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर पतञ्जलि का मत है कि आशितं पद में आ के पश्चात् अवग्रह चाहिए।[2] यह पद भी ऋग्वेद के दशम मण्डल में विना अवग्रह के है।

तीसरे स्थान में पतञ्जलि का मत अक्षण्वान् पद के विशय में है।[3] वह समझता है कि इस पद में अवग्रह नहीं चाहिए। ऋग्वेद १।१६४।१६ के पदपाठ में यहां अवग्रह मिलता है।

केवल वैय्याकरण होने से पतञ्जलि ने पदपाठ के सम्बन्ध में यह कहा है। उसका मत है कि पाणिनीयाष्टक ही सब वेदों का प्रातिशाख्य है—

सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्।[4]

अतः अपने शास्त्र की महत्ता दिखाना उसका ध्येय है।

आदित्य शब्द पर स्कन्द का लेख

आदित्य पद के विषय में निरुक्त भाष्यकार स्कन्दस्वामी लिखता है—

शाकल्यात्रेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम्। पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण। गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतमिति। तवेव कारणम्।[5] विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः। क्वचिदुपसर्गविषयेऽपि नावगृह्णन्ति। यथा शाकल्येन अधिवासम् इति नावगृहीतम्। आत्रेयेण तु अधि। वासम्। इत्यवगृहीतम्। तस्मादवग्रहोऽनवग्रह इति। २।१३॥

अर्थात्—शाकल्य और आत्रेय आदि पदपाठकार आदित्य पद में अवग्रह नहीं करते। गार्ग्य आदि करते हैं। यास्क ने दोनों के अनुसार निर्वचन दिखाया है। पदकारों की विचित्र गति है। कई उपसर्ग का भी अवग्रह नहीं करते। शाकल्य अधिवासम् में अवग्रह नहीं करता आत्रेय करता है।

---

१. ३।१।१०३॥ कीलहार्न का द्वितीय संस्करण, भाग २, पृ० ८५।
२. ६।१।२०७॥ भाग ३, पृ० ११७।
३. ८।२।१६॥ भाग ३, पृ० ३९७।
४. २।१।५८॥ भाग १, पृ० ४००।
५. यह पाठ संदिग्ध है।

दसवां अध्याय

निरुक्तकार

निरुक्त तथा निघण्टु दोनों नाम एक दूसरे के लिए प्रयुक्त होते रहे हैं। सायण अपने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में निघण्टु को निरुक्त कहता है। इसी प्रकार कौषीतकि गृह्यभाष्य में निरुक्त नाम से निघण्टु उद्धृत है। निरुक्त भाष्य में निरुक्त शब्द निघण्टु के लिए प्रयुक्त है।

निरुक्त शास्त्र मूल में उन्हीं ऋषियों की देन है जिन्होंने मन्त्रार्थ का आदि में उपदेश दिया था। वेदमन्त्रों के द्रष्टाओं और शिक्षा, निरुक्त, छन्दः शास्त्र तथा इतिहास, पुराण, और धर्म शास्त्र आदि के व्यावहारिकी भाषा में प्रवक्ताओं का अभेद भारतीय विद्वानों में सदा मान्य रहा हैं।

पदपाठों के साथ ही नैरुक्तों के काल का आरम्भ हो जाता है। निरुक्तकारों ने यद्यपि किसी वेद का सम्पूर्ण भाष्य नहीं किया, तथापि उन्होंने अनेक मन्त्रों का भाष्य अवश्य किया है। वह भाष्य प्राचीनता की दृष्टि से बड़ा प्रामाणिक है। ये निरुक्त संख्या में कभी चौदह थे। इस सम्बन्ध में दुर्ग लिखता है—

निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्। व्याकरणमष्टप्रभेदम्।[1]
व्याकरणमष्टधा। निरुक्तं चतुर्दशधा इत्येवमादि।[2]

अर्थात्—निरुक्त चौदह प्रकार का है और व्याकरण आठ प्रकार का है।

दुर्ग के इस वचन पर श्री राजवाड़े का लेख—निरुक्त पर दुर्ग भाष्य के सर्वोत्तम संस्करण के सम्पादक वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने दुर्ग के इन वचनों पर निम्नलिखित टिप्पणी की है—

निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदं=निरुक्तस्य चतुर्दशाध्यायाः।[3]
यास्कात्पुरातनानि सर्वाणि निरुक्तशास्त्राणि चतुर्दशाध्यायात्मकान्यासन्निति कथं ज्ञायते।[4]

---

१. निरुक्त भाष्य १।१३॥
२. निरुक्त भाष्य १।२०॥
३. टिप्पणी, पृ० २७।
४. टिप्पणी, पृ० ४८।

इस लेख से प्रतीत होता है कि राजवाड़े की सम्मति में दुर्ग के लेख का यह अर्थ है कि प्रत्येक निरुक्त के चौदह अध्याय थे।

राजवाड़े की भूल—आचार्य दुर्ग निरुक्त १।२०॥ की व्याख्या करते हुए लिखता है—

एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। एकशतधाध्वर्यवम्। सहस्रधा सामवेदम्। नवधाथर्वणम् १।२०॥

अर्थात्—इक्कीस प्रकार का ऋग्वेद, १०१ प्रकार का यजुर्वेद, १००० प्रकार का सामवेद और ९ प्रकार का अथर्ववेद है।

इक्कीस प्रकार के ऋग्वेद का यह अर्थ नहीं हो सकता कि ऋग्वेद के २१ मण्डल हैं। इसी प्रकार निरुक्तं चतुर्दशधा का यह अर्थ नहीं हो सकता कि निरुक्त के चौदह अध्याय हैं, प्रत्युत इसका तो यही अर्थ है कि निरुक्त चौदह थे।

चौदह निरुक्तकार

यास्क अपने निरुक्त में जिन प्राचीन आचार्यों को उद्धृत करता है, उनमें से निम्नलिखित बारह निरुक्तकार प्रतीत होते हैं—

(१) औपमन्यव (२) औदुम्बरायण (३) वार्ष्यायणि (४) गार्ग्य (५) आग्रायण (६) शाकपूणि (७) और्णवाभ (८) तैटीकि (९) गालव (१०) स्थौलाष्ठीवि (११) क्रौष्टुकि (१२) कात्थक्य। तेरहवां निरुक्तकार यास्क स्वयं है। चौदहवां कौन था, यह अभी ज्ञात नहीं हो सका। सम्भव है, वह शाकपूणि का पुत्र हो। इसका उल्लेख निरुक्त १३।११॥ में मिलता है। इससे भी अधिक सम्भव है कि वह कौत्सव्य हो इसका निरुक्त निघण्टु आर्थवण परिशिष्टों में से एक है। महाभारत शान्ति पर्व के अनुसार बृहस्पति भी निरुक्तकार था। काश्यप का भी एक निरुक्त था।

प्रत्येक निरुक्तकार का पृथक् निघण्टु—हमारी प्रतिज्ञा है कि इन चौदह निरुक्तकारों में से प्रत्येक निरुक्तकार ने अपना-अपना निघण्टु आप बनाया था। उसी निघण्टु पर उसने निरुक्त रूपी व्याख्या लिखी। इस प्रतिज्ञा के साथ के हेतु और उदाहरण शाकपूणि और यास्क के निरुक्त और निघण्टुओं के वर्णन के समय आगे मिलेंगे। यहां हम सामान्य रूप से उन शब्दों का उल्लेख करेंगे, जो विलुप्त निघण्टु ग्रन्थों के भाग थे। ये शब्द यास्कीय निरुक्त, महाभाष्य और अनेक वैदिक भाष्यों में पाये जाते हैं।

भट्टभास्कर के निम्न लेख से प्रतीत होता है कि नैरुक्त ही निघण्टुकार थे—

१. यद्वा—रासतिरयं छन्दसि दाने वर्त्तते। दानार्थेषु नैरुक्ते पठितत्वात्।[1]

२. छाया शब्दो गृहनामसु निरुक्तकारैः पठ्यते। निघण्टु ३।४॥[2]

क. यास्कीय निरुक्त में विलुप्त निघण्टुओं से प्रमाण

नैरुक्तों की श्रेणी में यास्क सबसे अन्तिम है। उसने उस सारी सामग्री से काम लिया है, जो

१. पृ० १४६, भाग १, तैत्तिरीय संहिता भाष्य, भट्ट भास्कर कृत।
२. पृ० २५८, वही। तथा देखें निघण्टु ३।४॥

उसके पूर्वज उसके लिये छोड़ गये थे। निघण्टु ग्रन्थों से प्रमाण उद्धृत करते समय यास्क अभीष्ट वैदिक शब्द के निघण्टु प्रदर्शित अर्थ के साथ नाम और क्रिया के धातु से कर्मा पद का प्रयोग करता है। जैसे—

वव्रिरिति रूपनाम। निरुक्त।२।९।।
अप्न इति रूपनाम। निरुक्त।३।७।।
बृबूकमित्युदकनाम। निरुक्त।२।२२।।

ये तीनों शब्द निघण्टु ३।७।। और १।१२।। में क्रमशः इन्हीं अर्थों में पढ़े गये हैं। इसी प्रकार—

मंहतेर्दानकर्मणः। निरुक्त।१।७।।
दाशतेः दानकर्मणः। निरुक्त।१।७।।

ये दोनों प्रमाण निघण्टु ४।२०।। में इसी अर्थ में मिलते हैं। यास्कीय निरुक्त में ठीक इसी प्रकार से पढ़े हुए अनेक ऐसे प्रमाण हैं जो इस निघण्टु में नहीं मिलते। वे प्रमाण निस्सन्देह प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों से लिये गये हैं। यथा—

मत्सर	इति	लोभनाम	२।५।।
विः	इति	शकुनिनाम	२।६।।
प्रथम	इति	मुख्यनाम	२।२२।।
सुः	इति	प्राणनाम	३।८।।
स्वस्ति	इति	अविनाशनाम	३।२१।।
रपो रिप्रम्	इति	पापनामनी	४।२१।।
श्वात्रम्	इति	क्षिप्रनाम	५।३।।
शम्ब	इति	वज्रनाम	५।२४।।
तुर	इति	यमनाम	१२।१४।।
दक्षतेः	समर्धयतिकर्मणः		१।७।।
दक्षतेः	उत्साहकर्मणः		१।७।
ह्रादतेः	शब्दकर्मणः		१।९।।
ह्लादतेः	शीतीभावकर्मणः		१।९।।
ददातेः	धारयतिकर्मणः		२।२।।
क्षियतः	निवासकर्मणः		२।६।।
ब्रवीतेः	शब्दकर्मणः		२।२२।।

इनमें से श्वनात्रम् को यास्क निघण्टु २।१०।। में धननामों में पढ़ता है। पुनः वह इसी शब्द को निघण्टु ४।२।। में पढ़ता है। उसकी व्याख्या निरुक्त ५।३।। में है। वहीं यास्क किसी प्राचीन निघण्टु का पूर्वोक्त क्षिप्रार्थ पढ़ता है। क्षियति को यास्क गतकर्मा के अर्थ में पढ़ता है।

यास्कीय निरुक्त में आये हुए प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों के ये प्रमाण हमने दिग्दर्शनमात्र के लिए दिये हैं। हमारी सूची यहीं पर समाप्त नहीं होती।

ख. पातञ्जल व्याकरण-महाभाष्य में लुप्त वैदिक निघण्टु ग्रन्थों के प्रमाण

गृणाति:	शब्दकर्मा	३।२।१४।।
प्राति:	पूरणकर्मा	३।४।३२।।
दिवे:	ऐश्वर्यकर्मण:	५।१।५६।।
दक्षे:	वृद्धिकर्मण:	५।१।५६।।

निघण्टु २।२१।। में यास्क चार ऐश्वर्यकर्मा आख्यात पढ़ता है। उनमें दिव् नहीं है।

ग. उवट के यजुर्वेदभाष्य में लुप्त वैदिक निघण्टु-ग्रन्थों के प्रमाण

एह	इति	अपराध नाम	४।२६।।
रेप	इति	पापनाम	५।३।।
सृका	इति	आयुधनाम	१६।६१।।
घृणि:	इति	दीप्तिमान	१०।१०।।

इनमें से निघण्टु २।१३।। में एह: क्रोधनामों में पढ़ा गया है। यास्क निरुक्त ४।२१।। में **रपो रिप्रम्** दो पाप नाम देता है। उवट **रेप** का पाप नाम पढ़ता है। प्रतीत होता है कि किसी प्राचीन निघण्टु में पाप के ये तीनों नाम एक स्थान में ही पढ़े गये थे। सृक: निघण्टु २।२०।। में वज्रनामों में पढ़ा गया है। **घृण:** पद निघण्टु १।६।। में अहर्नामों में पढ़ा गया है। डा० स्वरूप के निघण्टु के संस्करण में इसी पद पर दो कोशों का पाठान्तर **घृणि:** भी दिया गया है। उवट के पास या तो कोई पुराने निघण्टु थे, या वह किसी पुरातन भाष्य से ये प्रमाण ले रहा है।

घ. भट्ट भास्कर के तैत्तिरीय संहिता भाष्य में लुप्त वैदिक निघण्टु ग्रन्थों के प्रमाण

हम पूर्व पृ० १२७ पर भट्ट भास्कर पठित प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों के प्रमाण लिख चुके हैं। वे यहां दोहराये जाते हैं। उनके पते उसी पृष्ठ की टिप्पणी में देखने चाहिए।

विव इति धननाम।

ओम्, स्वाहा, स्वधा, वषट्, नम इति पञ्चब्रह्मणो नामानि।

मति: इति स्तुतिनाम्।

गर्तम् इति रथनाम्।

लेकतिर्दर्शनकर्मा।

चायति=पूजाकर्मा[1] निरुक्त ३।१३।। के अनुसार यह धातु प्रस्तुत निघण्टु में होनी चाहिए। निरुक्त के पाठ से प्रतीत होता है कि यह वहां नहीं है।

दीद्यति:=दीप्तकर्मा।[2]

---

१. १।१।२।।, पृ० ७, तैत्तिरीय ब्राह्मण भाष्य।
२. १।२।१।। पृ० २७, वही।

ङ. वररुचि के निरुक्त समुच्चय में लिखा है—

बर्हिः इति यज्ञनाम ।

च. वेङ्कट माधव ऋग्भाष्य ४।१६।१३।। में लिखता है—

अत्क इति रूपनाम ।

अन्य वेदभाष्यों में भी इसी प्रकार से कई और प्रमाण मिलते हैं । विस्तरभय से हम उन्हें यहां नहीं लिखते । इससे विज्ञात होता है कि निघण्टु ग्रन्थ संख्या में बहुत थे । इस बात को यास्क स्वयं स्वीकार करता है—

तान्यप्येके समाम्नन्ति । ७।१५।।

अर्थात् अमुक प्रकार के देवता पद भी कई आचार्य निघण्टु ग्रन्थों में एकत्र पढ़ते हैं । यह वचन यास्क ने इसी खण्ड में दो बार पढ़ा है । इससे निश्चित होता है कि यास्क से पहले आचार्य भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से अपने-अपने निघण्टुओं में देवता-पदों का समाम्नाय कर चुके थे ।

निघन्टु ग्रन्थ अनेक थे । उपलब्ध निघण्टु यास्क प्रणीत है । प्राचीन निघण्टु-ग्रन्थों का आधार प्रधानतया ब्राह्मण ग्रन्थ ही थे । इन विषयों की विवेचना इस इतिहास के ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग में हो चुकी है ।

इसी प्रकार जब हमें अनेक निघण्टुओं के अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है, तो यह मानना अयुक्त नहीं कि प्रत्येक निरुक्त ने अपना निघण्टु आप बनाया ।

अब हम क्रमशः उन नैरुक्तों का वर्णन करेंगे जिनके नाम पृ० १६६ पर गिनाये गये हैं ।

१. औपमन्यव

उपमन्यु का कुल वायु पुराण में वर्णित है । वायु पुराण के गाथा-माहात्म्य में लिखा है—औपमन्यु महाव्रतम् ।[1] उपमन्यु का एक श्लोक मस्करी भाष्य में उद्धृत है ।[2]

आचार्य औपमन्यव का मत बारह वार इस निरुक्त में उपस्थित किया गया है । एक बार वह बृहद्देवता में उद्धृत है ।

१. निघण्टुः—ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः ।१।१।।

२. दण्डः—दमनात् इत्यौपमन्यवः । २।२।।

३. परुषे—भास्वति इत्यौपमन्यवः । २।६।।

४. ऋषिः—स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः । २।११।।

५. पञ्चजनाः—चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम् इत्यौपमन्यवः । ३।८।।

६. ऋषिः कुत्सः—कर्ता स्तोमानाम् इत्यौपमन्यवः । ३।११।।

---

१. १०६।३९।।

२. पृ० ३७७ ।

७. काकः—न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यवः । ३।१८।।
८. यज्ञः—बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः । ३।१९।।
९. शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः । कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवति इत्यौपमन्यवः । ५।७।।
१०. काणः—विक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः । ६।३०।।
११. विकटः—विक्रान्तगतिः इत्यौपमन्यवः । ६।३०।।
१२. इन्द्रः—इदं दर्शनात् इत्यौपमन्यवः ।।१०।८।।

इन बारह स्थानों के अध्ययन से अनेक बातों का पता लगता है। प्रथम प्रमाण बताता है कि सम्भवतः औपमन्यव के निरुक्त का आरम्भ भी निघण्टु शब्द के निर्वचन से ही था, और औपमन्यव ने भी कोई निघण्टु बनाया होगा। औपमन्यव ने कोई निघण्टु बनाया था, यह अनुमान प्रमाण ९ से और भी दृढ़ हो जाता है। यास्क अपने निघण्टु ४।२।। में शिपिविष्ट और विष्णु दो नाम पढ़ता है। वहां वह उनका अर्थ नहीं देता। औपमन्यव के निघण्टु में सम्भवतः ये दोनों शब्द विष्णु के पर्यायों में पढ़े गये थे। उन्हीं के व्याख्यान में औपमन्यव ने लिखा होगा कि पहला अर्थात् शिपिविष्ट पद निन्दावाची हैं।

दूसरा प्रमाण दण्ड का निर्वचन बताता है। तीसरा भी साधारण अर्थ द्योतक है। चौथे और छठे से पता लगता है कि **कर्ता स्तोमानाम्** का अभिप्राय **द्रष्टा स्तोमानाम्** ही है, क्योंकि ऋषि दर्शन करने से कहा ही गया है। पांचवां प्रमाण औपमन्यव के मत में **पञ्चजनाः** का अर्थ बताता है। सातवां प्रमाण बताता है कि औपमन्यव भाषा विज्ञान का बड़ा अग्रचाबुद्धि पण्डित था। वह जानता था कि पक्षियों के नाम उनके उच्चारण मात्र से ही नहीं बने। आठवां प्रमाण साधारण है। दसवें और ग्यारहवें प्रमाण से पूरा निश्चित होता है कि औपमन्यव के निरुक्त में ऋग्वेद १०।१५५।१।। मन्त्र पढ़ा गया था। अन्तिम प्रमाण इन्द्र पद का निर्वचन बताता है।

गुस्टव आपर्ट के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र भाग २, पृ० ५१० पर दक्षिण के किसी घर में **उपमन्युकृत निरुक्त** का अस्तित्व बताया गया है। सम्भव है खोज करने पर यह निरुक्त मिल ही जाये।

उपमन्यु पिता का नाम है और औपमन्यव पुत्र का। निरुक्त औपमन्यव कृत ही होगा। यास्क का साक्ष्य इस विषय में अधिक प्रमाण है।

चरणव्यूह आदि ग्रन्थों में चरकों के अवान्तर विभागों में से **औपमन्यवाः** भी है। क्या उनका निरुक्तकार औपमन्यव से कोई सम्बन्ध था।

उपमन्यु का कल्पसूत्र भी था।

२. औदुम्बरायण

उदुम्बर
|
औदुम्बरिः
|
औदुम्बरायण

गणरत्नमहोदधि ३।२३४।। में औदुम्बरायण का उल्लेख मिलता है। वाक्यपदीय में वार्तीक्ष और औदुम्बरायण वर्णित हैं। स्फोट सिद्धि में भरतमिश्र औदुम्बरायण को स्फोट का आचार्य मानता है। इस विषय में शाकटायन व्याकरण पृ० २८१ पर सूत्र देखने योग्य है।

३. वार्ष्यायणि

वार्ष्यायणि सौवीर था। शाकटायन व्याकरण के अनुसार **वृषस्यापत्यं वार्ष्यायणि** पद बनता है।[1] यदि यह किसी दूसरे देश का होता तो रूप वार्षायणि बनता। इसका वचन निरुक्त १।२।। में मिलता है—

षड् भावविकारा भवन्ति इति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति इति। अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्ति इति ह स्माह।

भाष्यकार पतञ्जलि १।३।१।। में लिखता है—

षड्भावविकारा इति ह स्माह भगवान् वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धते ऽपक्षीयते विनश्यति इति।

यह विचार वार्ष्यायणि ने भाव शब्द की व्याख्या में किया होगा। जिस पुरुष को पतञ्जलि भगवान् कहता है, वह निस्सन्देह बड़ा महापुरुष था।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।२८।१-५।। में स्तेन विषयक वार्ष्यायणि का मत है।

४. गार्ग्य

गार्ग्य का उल्लेख यास्क तीन बार करता है।

१. **उपसर्गाः—उच्चावचाः पदार्था भवन्ति इति गार्ग्यः।१।३।।**

२. **नाम— न सर्वाणि (नामानि आख्यातजानि) इति गार्ग्यः।१।१२।।**

३. **उपमाः—यदोतत्तत्सदृशम् इति गार्ग्यः।३।१३।।**

इन तीन स्थानों में से पहले स्थान में गार्ग्य का यह मत बताया गया है कि उपसर्ग बहुत प्रकार का अपना अर्थ रखते हैं।

दूसरे प्रमाण पर स्कन्द का भाष्य निम्नलिखित है—

न सर्वाणि इति गार्ग्यो नैरुक्तविशेषः।

अर्थात्—सारे नाम आख्यातज नहीं हैं। डित्थ डवित्थ आदि शब्दों के धातु की कल्पना कठिन है।

तीसरे प्रमाण में गार्ग्य कृत उपमा का लक्षण बताया गया है।

नैरुक्त गार्ग्य ही सामपदपाठकार गार्ग्य— हम पहले पृ० १५८ पर एक गार्ग्य का वर्णन कर चुके हैं। वह गार्ग्य साम पदपाठकार है। वही गार्ग्य जो अपने पदपाठ में प्रत्येक उपसर्ग को पृथक करने

१. २।४।७६।। पृ० २८६, शाकटायन व्याकरण।

का प्रयास करता है। ऋग्वेद के पदपाठ में **विप्र** पद में कोई अवग्रह नहीं। साम में **वि। प्रासः।** ऐसा पदपाठ है। इसी प्रकार ऋग्वेद के पदपाठ में **सूनृता** पद में कोई अवग्रह नहीं। साम पदपाठ में **सु। नृता।** है। निरुक्त में गार्ग्य का जो प्रथम प्रमाण दिया गया है, तदनुसार उपसर्ग अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं। साम पदपाठकार के मन में यही बात बैठी हुई प्रतीत होती है। इससे अनुमान होता है कि एक ही गार्ग्य ने निरुक्त रचा और साम पदपाठ बनाया। उसी के निरुक्त के प्रमाण यास्क ने दिये हैं।

गार्ग्य का नाम एक बार बृहद्देवता १।२६।। में मिलता है। वहां उसका विचार यास्क और शाकपूणि के समान ही है। एक गार्ग्य अष्टाध्यायी में तीन बार उद्धृत है। सूत्र ८।३।२०।। के महाभाष्य के देखने से यह निश्चय होता है कि यह गार्ग्य साम पदपाठकार ही होगा। अन्य दो स्थानों में उसका नाम गालव के साथ आता है।

५. आग्रायण

आग्रायण का मत इस निरुक्त में चार बार उद्धृत किया गया है—

१. **अक्षि – अनक्तेः इत्याग्रायणः ।१।९।।**

२. **कर्णः—ऋच्छतेः इत्याग्रायणः ।१।९।।**

३. **नासत्या—सत्यस्य प्रणेतारौ इत्याग्रायणः। ६।१३।।**

४. **इन्द्रः—इदं करणात् इत्याग्रायणः। १०।८।।**

इनमें से पहले और दूसरे प्रमाण से निश्चित होता है कि आग्रायण के निरुक्त में ऋ० १०।७१।७।। मन्त्र पढ़ा गया था। उसी में ये दोनों शब्द हैं, जिन पर उसका किया हुआ निर्वचन यास्क उद्धृत करता है। तीसरे प्रमाण में **नासत्या** का निर्वचन है। चौथा प्रमाण मूल निरुक्त में आग्रायण के नाम से मिलता है, परन्तु राजवाड़े-सम्पादित-दुर्गभाष्य में आग्रायण के नाम से ही है।

६. शाकपूणि[1]

अब तक जिन पांच नैरुक्तों का वर्णन हो चुका है, उनके निरुक्तों के ही प्रमाण मिलते है। परन्तु शाकपूणि एक ऐसा नैरुक्त है जिसके निघण्टु के भी प्रमाण मिलते हैं।

शाकपूणि का निघण्टु—स्कन्द-महेश्वर के निरुक्त भाष्य १।४।। में लिखा है—

दाश्वान् इति यजमाननाम शाकपूणिना पठितम्।

अर्थात्—दाशवान् का यजमान अर्थ शाकपूणि ने अपने निघण्टु में पढ़ा है

स्कन्द स्वामी अपने ऋग्वेदभाष्य ६।६२।३।। में भी लिखता है—

दाशवान् इति यजमाननाम।

पुनः स्कन्द-महेश्वर के निरुक्तभाष्य ३।१०।। में लिखा है—

व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश-इन्वति। नक्षति। आदयः। शाकपूणेरतिरिक्ता एते--विव्याक विव्याच। उरुव्यचाः। विव्रे। इति व्याप्तिकर्माणः।

१. शाकपूणि के सम्बन्ध में देखें मूल लेखक का लेख पाठक-स्मारक-ग्रन्थ में।

यही पाठ स्वल्प पाठान्तर से देवराज के निघण्टु भाष्य २।१३८।। में मिलता है। देवराज इसे स्कन्द स्वामी के नाम से उद्धृत करता है। यह पाठ बड़ा अशुद्ध है। इससे प्रतीत होता है कि शाकपूणि के निघण्टु में व्याप्तिकर्म वाले ये चार आख्यात पढ़े गये थे।

आत्मानन्द अस्य वामस्य सूक्त के मन्त्र चालीस के भाष्य में लिखता है—**उदकम् इति सुखनाम इति शाकपूणिः।**

इसी का पाठान्तर है—**उदकम् कम् इति सुखनाम इति शाकपूणिः।**

यास्कीय निघण्टु के लघुपाठ में सुखनामों में **कम्** नहीं पढ़ा गया, परन्तु बृहत्पाठ में यह पढ़ा गया है। सम्भव है आत्मानन्द के पास यास्कीय निघण्टु का लघुपाठ ही हो, बृहत्पाठ न हो, अतः उसने **कम्** का **सुखनाम** शाकपूणि के निघण्टु से दिया हो।

शाकपूणि के निघण्टु का स्वरूप[1]—आचार्य दुर्ग निरुक्त ८।५।। के भाष्य में लिखता है—

शाकपूणिस्तु पृथिवीनामभ्य एवोपक्रम्य स्वयमेव सर्वत्र क्रमप्रयोजनमाह।

अर्थात्—शाकपूणि के निघण्टु का आरम्भ भी पृथिवी के पर्यायों से ही था। शाकपूणि ने अपने निघण्टु में जो क्रम रखा है, उसका प्रयोजन उसने सर्वत्र बता दिया है। शाकपूणि के निघण्टु की इस यास्कीय निघण्टु से यह विशेषता थी।

निरुक्त-वार्तिक में लिखा है—

क्रमप्रयोजनं नाम्नां शाकपूण्युपलक्षितम्।
प्रकल्पयेदन्यदपि न प्रज्ञामवसादयेत्॥[2]

अर्थात्—नामों के क्रम का प्रयोजन जो शाकपूणि ने बताया है, वही जानना चाहिए। अन्य प्रयोजन की भी कल्पना करनी चाहिए, बुद्धि को बन्द नहीं करना चाहिए।

शाकपूणि का निरुक्त

शाकपूणि के वचन भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में पाए जाते हैं। यथा—

१. ऋग्वेद १।६६।५।। पर अपने भाष्य के अन्तर्गत स्कन्द लिखता है—

शाकपूणिस्तु—य उग्रा अर्कमानृचुः [ऋ० १।१६।४।।]
आर्चन्नन मरुतः [ऋ० १।५२।१५।।]
इत्यादिषु मरुतां स्तोतृत्व दर्शनात् मरुतोऽत्र गाव उच्यन्त इति मन्यन्ते।

२. निदान सूत्र पृ० ७३ पर शाकपूणि का निम्नलिखित पाठ है—

तासु विवदन्ते—ऐन्द्रयः प्राजापत्यः सार्पराज्ञ्यः चान्द्रमस्यः सौर्य इति शाकपूणिः।

---

१. पृ० २६-२९, भूमिका, निरुक्त शास्त्रम्, पं० भगवद्दत्त कृत देखें।
२. दुर्ग ने निरुक्त ८।४।। में यह वचन उद्धृत किया है।

३. आत्मानन्द अस्यवामीय सूक्त भाष्य मन्त्र, १४ पर निम्नलिखित पाठ उद्धृत करता है—

चक्रम् । जगच्चक्रम् । भ्रमतीति वा । चरतीति वा । करोतीति वा चक्रम् । इति शाकपूणिः ।

यह स्पष्ट शाकपूणि के निरुक्त का प्रमाण है ।

४. देवस्वामी संघर्ष काण्ड २।२।७।। के भाष्य में लिखता है—

स्मृतिश्च—प्रयाजानां देवताविषया अनेके । देवतामिष्ट्वा अग्निरिति शाकपूणिः ।

देवस्वामी मीमांसा भाष्यकार शबर का पूर्ववर्ती है ।

५. उत्तर गार्ग्य की देवनागरी प्रतिलिपि में लिखा है—

विवाह प्रकरणे वरपरीक्षाविषये विवाहेष्टौ परीक्षाः कर्त्तव्याः तत्रानुकूल्यबहुत्वे कर्त्तव्यमन्यत्र न कर्त्तव्यमेवेति इति शाकपूणिः ।[1]

६. शाकपूणि नाम कौषीतकिगृह्य सूत्र ४।१४।। में है ।

यास्क अपने निरुक्त में बीस बार शाकपूणि के निरुक्त से प्रमाण देता है । एक बार इसे वह निरुक्त के परिशिष्ट में उद्धृत करता है । सात बार शाकपूणि का मत बृहद्देवता में दिया गया है । तीन बार बृहद्देवता में उसका रथीतर के विशेषण से स्मरण किया गया है । रथीतर शाकपूणि का ही अपर नाम है, इस विषय में पुराणों के निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

प्रोवाच संहितास्तिस्रः शाकपूणीरथीतरः ।
निरुक्तं च पुनश्चक्रे चतुर्थं द्विजसत्तमः ।[2]
रथीतरो निरुक्तं च पुनश्चक्रे चतुर्थकम् ।।[3]
संहितात्रितयं चक्रे शाकपूणीरथीतरः ।
निरुक्तमकरोतत्तु चतुर्थं मुनिसत्तम ।।
क्रौंचो वैतालकिस्तद्वद्बलाकश्च महामतिः ।
निरुक्तकृच्चतुर्थोऽभूद् वेदवेदाङ्गपारगः ।।[4]

अर्थात्—शाकपूणि रथीतर ने तीन ऋक्-संहिताओं का प्रवचन किया और फिर चौथा निरुक्त बनाया । रथीतर ने चौथा निरुक्त बनाया ।

अन्तिम श्लोक का पूर्वार्ध बड़ा भ्रष्ट प्रतीत होता है । क्या उसका निम्नलिखित पाठ हो सकता—

क्रोष्टुकिरथ तैटिकीर्गालवश्च महामतिः ।

---

१. पृ० ६०, संख्या ६८०६, यह संग्रह होशियारपुर में है ।
२. ब्रह्माण्ड पूर्वभाग ३५।३।। वायु ६०।६५।।
३. वायु ६१।२।।
४. विष्णु ३।४।२३,२४।।

इन श्लोकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शाकपूणि का ही अपर नाम रथीतर था।

यास्क अपने निरुक्त में शाकपूणि के निरुक्त से निम्नलिखित प्रमाण देता है—

१. तडित[1]—विद्युत्तडिद्भवति इति शाकपूणिः। ३।११॥

२. महान्—मानेनान्यान् जहाति इति शाकपूणिः।३।१३॥

३. ऋत्विक्—ऋग्यष्टा भवति इति शाकपूणिः। ३।१९॥

४. शिताम्—योनिः शिताम् इति शाकपूणिः। ४।३॥

५. विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके—कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानि इति शाकपूणिः ४।१५॥

६. ऋ० १०।८९।३॥ ऋ० ९।१०७।९॥ ऋ० १०।२८।४॥—सर्वे क्षियतिनिगमा इति शाकपूणिः। ५।३॥

७. अप्सराः—स्पष्टं दर्शनाय इति शाकपूणिः। ५।१३॥

८. अच्छाभेराप्तुम् इति शाकपूणिः। ५।२८॥

९. अग्निः—त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। ७।१४॥

१०-११. त्रेधा—पृथिव्यामन्तरिक्षे दिव इति शाकपूणिः। ७।२८॥ १२।१९॥

१२. द्रविणोदाः—अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिः। ८।३॥

१३. इध्मः— अग्निः इति शाकपूणिः। ८।५॥

१४. तनूनपात् ,, ,, ,, । ८।५॥

१५. नराशंसः ,, ,, ,, । ८।६॥

१६. द्वारः ,, ,, ,, । ८।१०॥

१७. त्वष्टाः ,, ,, ,, । ८।१४॥

१८. वनस्पतिः ,, ,, ,, । ८।१७॥

१९. वनस्पतिः अग्निः इति शाकपूणिः। ८।१२॥

२०. यदेव विश्वलिङ्गम् इति शाकपूणिः। १२।४०॥

२१. अक्षरम्—ओमित्येषा वाग् इति शाकपूणिः। १३।१०॥

संख्या १३-१९ तक जो पद हैं, उनके देखने से पता लगता है कि शाकपूणि के निघण्टु के दवतकाण्ड में ये सब शब्द पढ़े गये थे।

बृहद्देवता में शाकपूणि

१. जातवेदस्येति सूक्तसहस्रमेक ऐन्द्रात्पूर्वं कश्यपार्षं वदन्ति।
जातवेदसे सूक्तमाद्यं तु तेषाम् एकभूयस्त्वं मन्यते शाकपूणिः॥ ३।१३०॥

२. संप्रवादं रोमशयेन्द्रराज्ञोर् एते ऋचौ मन्यते शाकपूणिः॥ ३।१५५॥

३. शुनासीरं यास्क इन्द्रं तु मेने सूर्येन्द्रौ तौ मन्यते शाकपूणिः॥ ५।८॥

---

१. यह शब्द ऋग्वेद में दो बार आया है। शाकपूणि का व्याख्यान ऋ० २।२३।९॥ पर होगा।

४. इडस्पतिं शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः ॥ ५।३९॥

५. महानैन्द्रं प्रत्नवत्यामग्निं वैश्वानरं स्तुतम् ।
मन्यते शाकपूणिस्तु भार्म्यश्वश्चैव मुद्गलः ॥ ६।४६॥

६. ऋत्विजो यजमानं च शाकपूणिस्तु मन्यते ॥ ७।७०॥

७. मुद्गलः शाकपूणिश्च आचार्यः शाकटायनः ॥ ९०॥
त्रिस्थानाधिष्ठितां वाचं मन्यन्ते प्रत्यृचं स्तुताम् ॥ ८।६१॥

बृहद्देवता में रथीतर नाम से शाकपूणि का स्मरण

८. तत्खल्वाहुः कतिभ्यस्तु कर्मभ्यो नाम जायते ।
सत्त्वानां वैदिकानां वा यद्वान्यदिह किञ्चन ॥२३॥
चतुर्भ्य इति तत्राहुर्यास्कगार्ग्य रथीतराः ।
आशिषोऽथार्थवैरूप्याद् वाचः कर्मण एव च ॥१।२६॥

९. एकादश्या तु नासत्यौ द्वादश्याग्निमिमं पुनः ।
पृथक्पृथक्स्तुतीदं तु सूक्तमाहरथीतरः ॥३।४०॥

१०. आपान्तमन्युरित्यैन्द्र्यां स्तुतः सोमोऽत्र दृश्यते ।७।१४४॥
निपातभाजं सोमं च अस्यां रथीतरो ब्रवीत् ।७।१४५॥

अर्थात्—कई आचार्य कहते हैं कि जातवेदस के सहस्र सूक्तों का जो इन्द्र सूक्त से पहले हैं कश्यप ऋषि है । उनमें से पहला जातवेदसे सूक्त है । शाकपूणि मानता है कि अगले-अगले सूक्त में एक-एक मन्त्र बढ़ता जाता है ॥२॥

शाकपूणि मानता है कि ऋ० १।१२६।६,७॥ में इन्द्र और राजा का रोमशा के साथ संवाद है ॥२॥

यास्क शुनासीर को इन्द्र मानता हैं और शाकपूणि इनको सूर्य और इन्द्र मानता है ॥३॥

ऋ० ५।४२।१४॥ का देवता शाकपूणि इडस्पति मानता है और गालव **पर्जन्याग्नी** ॥४॥

महान् (ऋ० ८।६॥) इन्द्र का सूक्त है । **प्रत्न** ऋ० ८।६।३०॥ मन्त्र में शाकपूणि और भृम्यश्व का पुत्र मुद्गल मानते हैं कि वैश्वानर अग्नि स्तुत है ॥५॥

शाकपूणि मानता है कि चार ऋत्विज और पांचवां यजमान यही पञ्चजन होते हैं ॥६॥

ऋ० १०।१८९॥ के सम्बन्ध में मुद्गल, शाकपूणि और शाकटायन मानते हैं कि तीन स्थानों में विस्तृत **वाक्** की प्रत्येक ऋचा में स्तुति है ॥७॥

इस सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं कि वैदिक सत्त्वों का अथवा जो कुछ अन्य इस संसार में है, उन का नाम कितने कर्मों से उत्पन्न होता है । इसके उत्तर में यास्क, गार्ग्य और रथीतर कहते हैं कि प्रार्थना, पदार्थों की विभिन्नता, वाणी और कर्म इन चार से [नाम उत्पन्न होते हैं] ॥८॥

ऋ० १।१५।११।। से नासत्यों की और बारहवीं ऋचा से पुनः अग्नि की स्तुति है। रथीतर कहता है कि इस सूक्त में पृथक् पृथक् स्तुति है ।।९।।

ऋ० १०।८९।५।। इन्द्र की ऋचा में सोम निपातभाक् है ।।१०।।

स्कान्द ऋग्भाष्य में शाकपूणि के निरुक्त का प्रमाण—स्कन्द स्वामी अपने ऋग्वेद भाष्य ६।६१।२।। में लिखता है—

तथा च शाकपूणिना नद्यभिधायिनः सरस्वतीशब्दस्य परिगणने—अथैषा नदी। चत्वार एव तस्या निगदा भवन्ति—

दृष्द्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि ।[1]
चित्र इद्राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु ।[2]
इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति ।[3]
सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिः ।[4]
पञ्चममप्युदाहरति—अम्बितमे नदीतमे ।[5] इति
अत्रायं न षष्ठः परिगणित इति ।।

अर्थात्—[वेद में सरस्वती शब्द देवता अर्थ और नदी अर्थ में आता है।] इनमें से नदी वाची सरस्वती शब्द के प्रसङ्ग में शाकपूणि ने लिखा है—

चार ही उसके मन्त्र हैं। पांचवां भी उसने उद्धृत किया है। यहां यह ६।६१।२।। छठा नहीं गिना। चार ही कह कर शाकपूणि ने पांचवां मन्त्र इस अर्थ में कैसे पढ़ा, यह हमारी समझ में नहीं आया।

इस सम्बन्ध में बृहद्देवता अध्याय २ के निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

सरस्वतीति द्विविधम् ऋक्षु सर्वासु सा स्तुता ।।१३५।।
नदीवद्देवतावच्च तत्राचार्यस्तु शौनकः ।
नदीवन्निगमाः षट् ते सप्तमो नेत्युवाच ह ।।१३६।।
अम्बयेका च दृषद्वत्यां चित्र इमं[6] सरस्वती ।
इयं शुष्मेभिरित्येतं मेने यास्कस्तु सप्तमम् ।।१३७।।

अर्थात्—सब ऋचाओं में सरस्वती दो प्रकार से स्तुत है, नदीवत् और देवतावत्। इस विषय

---

१. ऋ० ३।२३।४।।
२. ऋ० ८।२१।१८।।
३. ऋ० १०।७५।५।।
४. ऋ० १०।६४।९।।
५. ऋ० २।४१।१६।।
६. इस पाठ के लिए मैकडानल के संस्करण की टिप्पणी देखें।

में आचार्य शौनक कहता है कि नदीवत् के छः मन्त्र हैं। सातवां नहीं है। वे मन्त्र हैं ऋ० २।४१।१६ ७।९५।२।। ३।२३।४।। ८।२१।१८।। १०।७५।७।। १०।६४।९।। यास्क ६।६१।२।। को सातवां नदी स्तुति का मन्त्र मानता है।

शाकपूणि ७।९५।२।। को नदी स्तुति नहीं मानता।

यास्कोद्धृत ६।६१।२।। मन्त्र में नदी स्तुति है, इस पर बृहद्देवताकार एक आपत्ति उठाता है। उस का विस्तृत उल्लेख दुर्ग निरुक्तभाष्य २।२४।। में करता है। स्कन्द-महेश्वर भी निरुक्त भाष्य में इस का समाधान करता है। यह सब वहीं देखना चाहिए।

शाकपूणि, शौनक और यास्क में इस विषय पर कितना मत भेद है।

शाकपूणि का काल—जो प्रमाण ब्रह्माण्डादि पुराणों से पहले पृ० १७४ पर दिए जा चुके हैं, उनसे ज्ञात होता है कि शाकपूणि पदकार शाकल्य के काल के आसपास का है। शाखा प्रवर्तक होने से भी वह महाभारत के काल के समीप ही हुआ होगा।

स्कन्द स्वामी निरुक्त २।८।। के भाष्य में लिखता है—

एवमर्थं पुराकल्पं पठन्ति—शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे।

अर्थात्—स्कन्द समझता है कि शाकपूणि का इतिहास यास्क के काल में पुराकल्प हो चुका था। शाकपूणि का पुत्र रथीतर नाम से बृहद्देवता ५।१४।२।। आदि में उद्धृत है। शाकपूणि का पुत्र निरुक्त १३।११।। में भी उद्धृत है। यास्क से उसका १०० वर्ष से कम का अन्तर नहीं होगा।

शाकपूणि का एक और ग्रन्थ—हम आगे यास्क के वर्णन में लिखेंगे कि यास्क ने निरुक्त के अतिरिक्त एक याजुष सर्वानुक्रमणी भी लिखी थी। इसी प्रकार यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि शाकपूणि ने भी निरुक्त के सिवा कोई दूसरा ग्रन्थ लिखा हो—

भट्टभास्कर तैत्तिरीय संहिता रुद्राध्याय के भाष्य में लिखता है—

द्वितीयादिनवान्तेष्वनुवाकेषु नमस्कारादिनमस्कारान्तमेकं यजुरिति शाकपूणिः।

अर्थात् तैत्तिरीय संहिता रुद्राध्याय के दूसरे से नवम अनुवाक तक नमः से लेकर नमः तक एक ही यजुः है, ऐसा शाकपूणि मानता है। शाकपूणि ने यह बात निरुक्त में नहीं लिखी होगी क्योंकि इससे आगे जो यास्क का मत है, वह उसके निरुक्त में नहीं है। तो क्या शाकपूणि ने कोई और ग्रन्थ भी रचा था और उसका सम्बन्ध तैत्तिरीय संहिता से था।

आत्मानन्द अपने **अस्य वामस्य** सूक्त के भाष्य में शाकपूणि के निरुक्त का कई बार स्मरण करता है। उसके लेख से प्रतीत होता है कि उसके पास यह निरुक्त था। आत्मानन्द बहुत प्राचीन ग्रन्थकार नहीं है। इसलिए यदि उसके पास शाकपूणि का निरुक्त था, तो अब भी इसके मिलने की बड़ी सम्भावना हो सकती है।

७. और्णवाभ

यास्क अपने निरुक्त में पांच बार आचार्य और्णवाभ का स्मरण करता है। बृहद्देवताकार उसे एक बार उद्धृत करता है।

(१) उर्वी—वृणोतेः इत्यौर्णवाभः ।२।२६।।
(२) नासत्यौ—सत्यावेव नासत्यौ इत्यौर्णवाभः ।६।१३।।
(३) होता—जुहोतेर्होता इत्यौर्णवाभः ।७।१५।।
(४) अश्विनौ—अश्वैरश्विनौ इत्यौर्णवाभः ।१२।१।।
(५) त्रिधा—समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसि इत्यौर्णवाभः ।१२।१०।।

इनमें से पहले चार प्रमाणों में निर्वचन मात्र है। पांचवें में यह बताया गया है कि वे तीन स्थान कौन से हैं, जहां विष्णु पाद रखता है। समारोहण आदि तीनों पदों का अर्थ विचारना चाहिए। दुर्ग और स्कन्द ने इनका अर्थ उदयगिरि माध्यन्दिन-अन्तरिक्ष, और अस्तगिरि, किया है। यह कहां तक सत्य है, यह भी द्रष्टव्य है।

बृहद्देवता में और्णवाभ का मत इस प्रकार है—

औौर्णवाभो द्वृचे त्वस्मिन्नश्विनौ मन्यते स्तुतौ ।।७।१२५।।

और्णवाभ का मत है कि ऋग्वेद १०।८५।१८,१६।। में अश्वियों की स्तुति की गई है।।

८. तैटीकि

तैटीकि का मत निरुक्त में दो स्थानों पर मिलता है।

१. शिताम—श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः ।४।३।।
२. बीरिट—तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह ।५।२७।।

इनमें से दूसरा प्रमाण दुर्ग के भाष्य में नहीं है। निरुक्त के लघुपाठ में भी यह नहीं है।

९. गालव

गालव का मत एक बार निरुक्त में और चार बार बृहद्देवता में उद्धृत किया गया है।

१. शिताम-शिताम शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः । ४।३।।

अर्थात्—शिताम का अर्थ है श्वेत मांसमेद। अतः शितामतः का अर्थ हुआ मेद से। यह गालव मानता है।

बृहद्देवता में गालव का मत

१. नवभ्य इति नैरुक्ताः पुराणः कवयश्चये।
मधुकः श्वेतकेतुश्च गालवश्चैव मन्वते। १।२४।।
२. इळस्पति शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः ।।५।३४।
३. पौष्णौ प्रेति प्रगाथौ द्वौ मन्यते शाकटायनः।
ऐन्द्रमेवाथ पूर्वं तु गालवः पौष्णमुत्तरम् ।।६।४३।।
४. सावित्रमेके मन्यन्ते महो अग्ने स्तवं परम्।
आचार्याः शौनको यास्को गालवश्चोत्तमामृचम् ।।७।३८।।

अर्थात्=नौ बातों से [नाम होता है]। यह नैरुक्त और मधुक, श्वेतकेतु और गालव पुराने कवि मानते हैं ॥१॥

बृहद्देवताकार की दृष्टि में ये तीनों पुराने कवि थे।

ऋग्वेद ५।४२।१४॥ का देवता शाकपूणि इडस्पति मानता है और गालव पर्जन्याग्नी ॥२॥

ऋग्वेद ८।४।१५-१८॥ प्रगाथ ऋचा पूष्ण की हैं, यह शाकटायन मानता है। गालव मानता है कि १५,१६ इन्द्र की हैं और १७,१८ पूष्ण की ॥३॥

ऋग्वेद १०।३६।१२-१४॥ तक कई सविता की स्तुति मानते हैं। और शौनक, यास्क और गालव अन्तिम ऋचा को ही ऐसा मानते हैं ॥४॥

गालव-प्रोक्त एक गालव-ब्राह्मण का उल्लेख हम इस इतिहास के अन्य भाग के पृ० ३६ पर कर चुके हैं। बृहद्देवताकार के इस वचन से कि गालव पुराने ऋषियों में से था, यह अनुमान होता है कि बृहद्देवता और निरुक्त में उद्धृत हुआ गालव यह ब्राह्मण प्रवक्ता गालव ही होगा।

महाभारत शान्तिपर्व में भी एक गालव का उल्लेख है। यदि वह यही गालव है, तो इतना निश्चय हो सकता है कि उस का गोत्र बाभ्रव्य था, और उसी ने ऋग्वेद का क्रमपाठ और एक शिक्षा बनाई।

पाञ्चालेन[1] क्रमः प्राप्तस्तस्माद्भूतात् सनातनात्।
बाभ्रव्यगोत्रः स बभौ प्रथमं क्रमपारगः ॥१०३॥
नारायणाद्वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमनुत्तमम्।
क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः ॥१०४॥[2]

अर्थात्=गालव पाञ्चाल देश निवासी था। उस का गोत्र बाभ्रव्य था। वह पहला क्रमपारग था। उस ने [ऋग्वेद का] क्रमपाठ बना कर शिक्षा रची। बाभ्रव्य का नाम आश्वलायन गृह्य के ऋषि तर्पण में स्मृत है। शान्तिपर्व के अनुसार बाभ्रव्य ने राम के मार्ग से क्रम बनाया।[3] शाकटायन व्याकरण लघुवृत्ति में लिखा है

बाभ्रव्यः कौशिकाः। बाभ्रवोऽन्यः।[4]

पाणिनीयाष्टक में एक गालव का चार वार स्मरण किया गया है।[5]

ऋक्प्रातिशाख्य ११।६५॥ में लिखा है—

१. पाञ्चाल पद वृत्ति, ऋ० प्रा०, पृ० ७७, ।२।३३॥
२. महाभारत नीलकण्ठटीका सहित, शान्तिपर्व, अध्याय ३४२।
३. पृ० ५८४, ५६४।
४. पृ० २८३।
५. ६।३।६१॥ ७।१।७४॥ ७।३।६६॥ ८।४।६७॥

इति प्र बाभ्रव्य उचाव च क्रमम्—
क्रम प्रवक्ता प्रथमं शशंस च ॥

अर्थात्—बाभ्रव्य ने प्रथम क्रमपाठ बनाया। यह महाभारत की छाया है। इस वचन के भाष्य में उवट लिखता है—

बभ्रुपुत्रः भगवान् पञ्चालः [पाञ्चालः ?]।

महाभारत के लेख से ज्ञात होता है कि गालव का गोत्र बाभ्रव्य था। बभ्रुपुत्र होने से वह बाभ्रव्य नहीं कहलाता। उवट का कथन विचारणीय है।

१०. स्थौलाष्ठीवि

यह आचार्य दो बार निरुक्त में उद्धृत किया गया है।

१. **अग्निः—अक्नोप्नो भवति इति स्थौलाष्ठीविः। ७।१४॥**

२. **वायुः—एतेः इति स्थौलाष्ठीविः। १०।१॥**

अर्थात्— रूखा करने या सुखा देने से अग्नि नाम है। इस आचार्य के अनुसार अ नकार के अर्थ में है अर्थात् जो गीला न करे। स्थौलाष्ठीवि के अनुसार इण धातु से वायु शब्द का निर्वचन किया गया है। इस प्रकार वायु में व अनर्थक है।

११. क्रौष्टुकि

आचार्य क्रौष्टुकि एक बार निरुक्त में और एक बार बृहद्देवता में उद्धृत है निरुक्त में लिखा है—

तत्को द्रविणोदाः। इन्द्र इति क्रौष्टुकिः ८।२॥

अर्थात्—इन्द्र ही द्रविणोदा है।

बृहद्देवता ४।१३७॥ में लिखा है—

सोमप्रधानाद्येतां तु क्रौष्टुकिर्मन्यते स्तुतिम्।

अर्थात्—ऋग्वेद ४। २८॥ में वह स्तुति प्रधानता से सोम की है, ऐसा क्रौष्टुकि मानता है।

१२. कात्थक्य

आचार्य कात्थक्य का नाम सात बार इस निरुक्त में स्मरण किया गया है।

१. **इध्मः—यज्ञेध्म इति कात्थक्यः। ८।५॥**

२. **तनूनपात्— आज्यम् इति कात्थक्यः। ८।५॥**

३. **नराशंसः—यज्ञ इति कात्थक्यः। ८।६॥**

४. **द्वारः—यज्ञे गृहद्वार इति कात्थक्यः। ८।१७॥**

५. **वनस्पतिः—यूप इति कात्थक्यः। ८।१०॥**

६. **देवी जोष्ट्री—सस्यं च समा च इति कात्थक्यः। ९।४१॥**

७. **देवी ऊर्जाहुती— " इति कात्थक्यः। ९।४२॥**

कात्थक्य के इन सात प्रमाणों को देख कर एक बात सहसा मुख से निकलती है कि यह आचार्य नैरुक्त होता हुआ भी कोई बड़ा भारी याज्ञिक था। वह इन सात शब्दों का यज्ञ वा तत्सम्बन्धी अर्थ ही करता है।

कात्थक्य का बृहद्देवता अध्याय ३ में एक बार उल्लेख आया है—

पराश्चतस्रो यत्रेति इन्द्रोलूखलयो स्तुतिः।
मन्येते यास्ककात्थक्याविन्द्रस्येति तु भागुरिः ॥१०॥

अर्थात्—ऋग्वेद १।२८।१-४॥ इन्द्र और उलूखल की स्तुति है। ऐसा यास्क और कात्थक्य का मत है। परन्तु भागुरि इन्द्र की ही स्तुति मानता है। इस विषय में यास्क और कात्थक्य का समान मत है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उलूखल भी यज्ञ का ही पदार्थ है।

१३. यास्क

यस्कस्यापत्यं यास्कः। यास्कस्यापत्यं यास्कायनि।[1]

अब हम एक ऐसे निरुक्त का इतिहास लिखते हैं, जिस के विषय में कई बातें सुनिश्चित रूप से ज्ञात हैं, जिस का ग्रन्थ भी अब तक विद्यमान है और जिस के ग्रन्थ के भाष्य भी उपलब्ध हैं।[2] प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यास्क ने भी अपना निघण्टु आप बनाया था? हमारा मत है कि हां, प्रस्तुत निघण्टु यास्क प्रणीत है। परन्तु दुर्ग प्रभृति विद्वानों का मत है कि प्रस्तुत निघण्टु यास्क से बहुत पहले होने वाले ऋषियों की कृति है।

निघण्टुकार के विषय म दुर्ग का पूर्वपक्ष

निघण्टु यास्क प्रणीत नहीं, प्रयुक्त प्राचीन ऋषियों का रचा हुआ है, इस विषय में अपने निरुक्त भाष्य की भूमिका में दुर्ग लिखता है—

१. तस्यैषा गवाद्या देवपत्न्यन्ता पञ्चाध्यायी सूत्रसंग्रहः। सा च पुनरियं साक्षात्कृतधर्मभ्यो महर्षिभ्य उपदेशेन मन्त्रार्थमुपश्रुत्य श्रुतर्षिभिरवरशक्तिदौर्बल्यमवेक्ष्य तननुजिघृक्षया वाक्यार्थसामर्थ्यादभिधेयानुन्नीयोन्नीय मन्त्रार्थविबोधाय छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाता।

उसी निरुक्त का गौ से आरम्भ करके देवपत्नी के अन्त तक पांच अध्यायों में सूत्रसग्रह है। उस पञ्चाध्यायी निघण्टु का संग्रह श्रुतर्षियों ने किया।

पुनः वह १।२०॥ के भाष्य में लिखता है—

२. ते.........**इमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं सामाम्नातवन्तः।**

अर्थात्—उन्हीं ऋषियों ने इस निघण्टु का समाम्नान किया।

आगे चल कर वह फिर निरुक्त ४।१८॥ के भाष्य में लिखता है—

---

१. पृ० ३२१, शाकटायन व्याकरण।
२. मूल लेखक कृत निरुक्त शास्त्रम् की भूमिका भी देखें।

३. एतस्मिन् मन्त्रे 'अकूपारस्य दावने' इत्ययमनयोः पदयोरनुक्रमः। समाम्नाये पुनः 'दावने अकूपारस्य' इति मन्त्रपाठव्यतिक्रमेणानुक्रमः। तेन ज्ञायतेऽन्यैरेवायमृषिभिः समाम्नायः समाम्नातो ऽन्य एव चायं भाष्यकार इति। एको हि समाम्नानं भाष्यं च कुर्वन् प्रयोजनस्याभावादेकमन्त्रगतयोः पाठानुक्रमं नाभङ्क्ष्यत्।

अर्थात्— ऋ० ५।३९।२।। मन्त्र में **अकूपारस्य दावने** ऐसा पदों का क्रम है। निघण्टु में दावने अकूपारस्य यह मन्त्रपाठ के विपरीत अनुक्रम है। इससे ज्ञात होता है कि दूसरे ऋषियों ने समाम्नाय बनाया है और यह भाष्यकार यास्क दूसरा है। एक ही निघण्टु और निरुक्त को बनाता हुआ बिना प्रयोजन मन्त्रगत पाठ के अनुक्रम को न तोड़ता।

निरुक्त ५।१५।। के भाष्य में दुर्ग लिखता है—

५. वाजगन्ध्यम् इत्येतदपि पदमेकस्मिन्नेव निगमे। निरुक्तम्। केवलं समाम्नायानुक्रमविपर्यासः। वाजपस्त्यम्। वाजगन्ध्यम्। इत्येष समाम्नायानुक्रमः। निगमे पुनः अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम् इति।

अर्थात्—ऋ० ६।६८।१२।। में दो पदों का और क्रम है और निघण्टु में और क्रम है।

१. स्कन्दस्वामी का पूर्वपक्ष

सामाम्नायः समाम्नातः पर भाष्य करते हुए स्कन्द-महेश्वर लिखता है—

(१) समाम्नायशब्देनात्र गवादिर्देवपत्न्यन्तः शब्दसमूह उच्यते न वेदः। समाम्नातः सम्भूयाभिमुख्येनाम्नातोऽभ्यस्तः। ग्रन्थीकृत्य पूर्वाचार्यैः पठित इत्यर्थः।

अर्थात्—यह निघण्टु समाम्नाय प्राचीन आचार्यों ने एकत्र किया था।

२. रोथ का पूर्वपक्ष

यास्कीय निरुक्त के प्रथम सम्पादक जर्मन देशोत्पन्न रोथ पण्डित ने अपने निरुक्त की भूमिका में लिखा था।

Moreover, of the two remaining books which stand unquestioned in Indian literary history as evidences of Yaska's learning, his authorship of one, Nighantu......must be denied and the only wonder is that this was not sooner recognised.

अर्थात्—यद्यपि भारतीय वाङ्मय के इतिहास में यह निर्विवाद है कि यास्क ने ही निरुक्त और निघण्टु बनाए, तथापि यास्क ने निघण्टु बनाया, यह नहीं माना जा सकता।

इस से आगे वह उन प्रमाणों में से कुछ प्रमाण देता है, जो दुर्ग ने दिए हैं।

३. सत्यव्रत सामश्रमी का पूर्वपक्ष

सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने निरुक्तालोचन में लिखा है कि यास्क निघण्टु कर्ता नहीं है। सत्यव्रत के प्रमाण भी प्रायः वही हैं, जो दुर्ग के हैं।

४. दूसरे पूर्वपक्षी

३. प्रो० कर्मकर का भी यही मत है कि प्रस्तुत निघण्टु यास्क की कृति नहीं है।[१] दुर्ग की युक्तियां दे कर अपनी बात को सिद्ध करने के लिए कई और हेतु देते हैं। उन हेतुओं में से दो नीचे लिखे जात हैं—

The निघण्टु includes **तडित** under **अन्तिकनामानि**[२] and also under **वधकर्माण:**[3] Following the निघण्टु Yaska remarks **तडिदित्यन्तिकवधयो: संसृष्टकर्म ताडयतीति सत:** But after giving **शाकपूणि**'s veiw that **तडित्** means **विद्युत्**, Yaska remarks that the meaning **अन्तिक** also would suit the passage **दूरे चित्** सन्तडिदिवातिरोचसे......Yaska seems to regard **अन्तिक** as the proper meaning of **तडित्**।

अर्थात्—यास्क तडित् का अन्तिक अर्थ ही समझता है। निघण्टु का अनुकरण करते हुए उस ने इस का वध अर्थ मान लिया है। यदि वह स्वयं निघण्टु बनाता तो वध अर्थ में इसे न पढ़ता।

(4) Seven roots are given under nouns **व्याप्तिकर्माण** by the Nighantu. The list includes two nouns **आक्षाण: आपान:** as Yaska himself remarks—

तत्र द्वे नामनी आक्षाण आश्नुवान आपान आप्नुवान:

Apparently the Nighantukara mistook these two for roots and Yaska draws our attention to the discrepancy.

अर्थात्—निघण्टु में सात व्याप्तिकर्मा धातु पढ़े गए हैं। इस गण में दो नाम हैं। यास्क स्वयं उन्हें नाम मानता है। यह स्पष्ट है कि निघण्टुकार ने भूल से इन्हें धातु समझा। यास्क ने उस भूल की ओर संकेत किया है।

इसी प्रकार के अन्य हेतु भी उन्होंने दिए हैं।

प्रो० सिद्धेश्वर वर्मा का भी यही मत है कि निघण्टु यास्क कृत नहीं है, प्रत्युत कश्यप प्रजापति का है। प्रमाणार्थ उन्होंने महाभारत के निम्नलिखित श्लोक दिए हैं। यही श्लोक सबसे पहले सत्यव्रत सामश्रमी ने इसी अभिप्राय से लिखे थे। तदनन्तर पं० राजाराम ने भी अपने निरुक्त भाषा-भाष्य की भूमिका में यही श्लोक उद्धृत किए थे।

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुक पदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥

---

१. The Authorship of Nighantu, Proceedings and Transactions of the First Oriental Conference, Poona, 1922, pp, 62-67,
२. निघण्टु २।१६॥
३. निघण्टु २।१९॥

कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥

अर्थात्—कश्यप प्रजापति ने निघण्टु में जो वृषाकपि पद पढ़ा है, उसका अर्थ श्रेष्ठ धर्म है।

५. प्रो० श्रीपदकृष्ण बेलवेल्कर का भी यही मत था। वे लिखते हैं—

The fourth Adhyaya of the lists of Vedic words called Nighaṇtus, upon which Yaska wrote his commentary called the Nirukta is styled the Aikapadika because in it are listed together 278 single words of unknown or doubtful meannig and derivation as put together by some ancient but anonymous author or authors.[1]

अर्थात्—निघण्टु के चतुर्थ या ऐकपदिक अध्याय में २७८ पद हैं। यह पद किसी एक वा अनेक प्राचीन आचार्यों ने संदिग्धार्थ समझ कर एकत्र किए हैं।

६. Tradition erroneously ascribes also the Nighantus or lists of words to Yaska[2]

हमारा उत्तरपक्ष

पूर्वपक्ष को स्थापन करने वाले जो हेतु पहले दिए जा चुके हैं अब उन का खण्डन लिखा जाता है।

१. दयानन्दसरस्वती स्वामी संवत् १९३५ में लिखी गई, निघण्टु की भूमिका में लिखते हैं—

यह ग्रन्थ ऋग्वेदी लोगों के पठितव्य दश ग्रन्थों में हैं। विशेष कर वेद और सामान्य से लौकिक ग्रन्थों से भी सम्बन्ध रखता है। यह मूल और इसका भाष्य निरुक्त यह दोनों ग्रन्थ यास्क मुनि जी के बनाए हैं।

२. मधुसूदनसरस्वती महिम्नस्तोत्र श्लोक सात की व्याख्या में लिखता है—

एवं निघन्टवादयोऽपि वैदिकद्रव्यदेवतात्मकपदार्थपर्यायशब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव। तत्रापि निघण्टुसंज्ञकः पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः।

अर्थात्—निघण्टु आदि निरुक्तान्तर्गत ही हैं। यह जो पञ्चाध्यायी निघण्टु है, यह भगवान् यास्क रचित ही है।

यास्केनैव कृतः लिखने से पता लगता है कि मधुसूदन दुर्गादि के पूर्वपक्ष का ध्यान करके ही बल देने के लिए एव शब्द का प्रयोग करता है।

---

1. History of Indian Philosophy, Volume II, 1927, p. 4.
2. p.287, History of Ancient Sanskrit Literature, 1927, Winternitz.

३. मधुसूदन से बहुत पहले होने वाला वेङ्कटमाधव ऋग्वेद ७।८७।४॥ की व्याख्या में लिखता है—

तत्रैकविंशतिर्नामानि काचिद् गौर्बिभर्तीतिपृथिवीमाह। तस्या हि यास्कपठितान्येकविंशतिर्नामानि

अर्थात्—पृथिवी-वाची गो शब्द के यास्क पठित २१ नाम हैं।

यास्क पठित कहने का यही अभिप्राय है कि गौ के ये २१ नाम यास्क ने अपने निघण्टु में पढ़े हैं। अर्थात् यह निघण्टु यास्क प्रणीत ही है।

इससे निश्चित होता है कि जो परम्परा इन पूर्वोक्त आचार्यों को विदित थी, तदनुसार यास्क ही इस निघण्टु का कर्ता था। यह परम्परा दुर्ग को भी ज्ञात थी, इसीलिए उसने इसके खण्डन करने का यत्न किया। अब दुर्गोपस्थापित प्रधान हेतुओं की परीक्षा होती है।

दुर्ग निरुक्त ४।१८॥ के भाष्य में लिखता है—

निघण्टु में **दावने अकूपारस्य**। इस क्रम से दो पद पढ़े गए हैं। इसके विपरीत निरुक्त में जो निगम है उसमें इन पदों का क्रम **अकूपारस्य दावने** ऋ० ५।३९।२॥ है। एक ही ग्रन्थकार निगमान्तर्गत क्रम को नहीं तोड़ सकता, अतः निघण्टु का कर्ता कोई और होगा।

अब विचारने का स्थान है कि दुर्गानुसार जिस ऋषि वा जिन ऋषियों ने यह निघण्टु बनाया था, क्या उन्हें निगमान्तर्गत क्रम का पता नहीं था। यास्क की अपेक्षा वे वेदों के अधिक पण्डित थे। जो आक्षेप दुर्ग ने यास्क पर किया है, वह उनके सम्बन्ध में अधिक बल से किया जा सकता है। यदि पदों का क्रम-विपर्यास भूल ही है, तो प्राचीन ऋषियों की अधिक भूल है। देखो निघण्टु में जो **अकूपारस्य** पद पढ़ा गया है, वह ऋग्वेद में एक ही स्थान पर आता है। वह मन्त्र है ऋ० ५।३९।२॥ **अकूपारस्य** के व्याख्यान में इस मन्त्र के अतिरिक्त कोई और मन्त्र पढ़ा ही नहीं जा सकता। यास्क का अभिप्राय अकूपारस्य के निर्वचन से ही है। अतः उसने यही मन्त्र पढ़कर इस पद का निर्वचन दिखा दिया।

दावने पद ऋग्वेद में २५ से भी अधिक बार आया है। यास्क उसका अर्थमात्र देता है। प्रतीत होता है किसी प्राचीन निघण्टु में ये दोनों पद उसी क्रम से पढ़े गये थे, जैसा इस निघण्टु में है। उस निघण्टु के कर्त्ता ने अपने निरुक्त में **दावने** पद के व्याख्यान में कोई और निगम पढ़ा होगा। परन्तु यास्क ने निघण्टु का क्रम तो उसी से ले लिया और व्याख्या में एक ही मन्त्र पर्याप्त समझा।

यदि कोई कहे कि उन आदि ऋषियों के ध्यान में जिन्होंने यह निघण्टु बनाया था ऋग्वेद की किसी शाखा का ऐसा मन्त्र था, जिसमें पदों का क्रम **दावने अकूपारस्य** होगा, तो यह भी नहीं बनता। यास्क के पास निश्चय ही वह सब सामग्री थी, जो शाखा-प्रवर्तक ऋषियों के पास थी। यास्क जब **दशतयीषु** शब्द का प्रयोग निरुक्त में करता है, तो इसका यही अभिप्राय है कि वह ऋग्वेद की दशमण्डलात्मक सारी शाखाओं से परिचित था।

यास्कीय निघण्टु में **नूचित**। ४।११॥ तथा **वाजपस्त्यम्**। **वाजगन्ध्यम्** ४।२॥ आदि पद हैं और इनका यास्क पठित ऋग्वेद ६।३०।३॥ तथा ऋग्वेद ९।९८।१२॥ निरुक्तस्थ निगमों से जो क्रमविपर्यास है,

उसका भी ऐसा ही समाधान समझना चाहिए। वस्तुतः यास्क के मन में क्रम की इतनी प्रधानता नहीं थी जितनी दुर्ग को अभीष्ट है।

दुर्ग की भ्रान्ति का कारण—दुर्ग की भ्रान्ति का कारण निरुक्त १।२०॥ का निम्नलिखित पाठ है—

उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।

इसका अर्थ करते हुए दुर्ग लिखता है—

इमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः।

अर्थात्—इस ग्रन्थ का जिसमें **गौ** से लेकर **देवपत्नयः** तक शब्द हैं, समाम्नान किया।

ऐसा व्याख्यान करते हुए दुर्ग एक बात भूल जाता है। निरुक्त के वचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिन ऋषियों ने निघण्टु बनाया, उन्हीं ऋषियों ने निरुक्तादि वेदाङ्गों का भी समाम्नान किया। अतः उस आदि निघण्टु पर निरुक्त भी बन चुका था। पुनः यास्क को उसका व्याख्यान करने से क्या लाभ। ऐसी अवस्था में **समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः** वचन का दुर्गोक्त अर्थ भी सङ्गत नहीं होता। वह समाम्नाय तो व्याख्यान हो चुका था पुनः उसके व्याख्यान करने का क्या प्रयोजन।

निरुक्त १।२०॥ का सत्यार्थ—वस्तुतः निरुक्त १।२०॥ में **इमं ग्रन्थं** का अभिप्राय निघण्टु सामान्य से है। अर्थात् इमं ग्रन्थं का द्योतक निघण्टु शब्द यहां जातिवाची है। और क्योंकि बहुत से निघण्टु **गौ** शब्द से आरम्भ होकर देवपत्नय; तक समाप्त होते थे, अतः किसी पुराने व्याख्यान में **इमं ग्रन्थं** का **गवादिदेवपत्न्यन्तं** अर्थ देखकर दुर्ग को भ्रम हो गया कि बस इसका अभिप्राय इसी निघण्टु से है। निरुक्त ४।१८॥ की वृत्ति में दुर्ग स्वयं लिखता है कि शाकपूणि के निघण्टु का आरम्भ भी **गौ** शब्द से था। सम्भव है उसके अन्त में **देवपत्न्यः** पद ही हो। इसी प्रकार अन्य निघण्टु ग्रन्थों की वार्ता भी होगी।

प्राचीन आचार्यों के निघण्टु

इस विषय पर पूर्व पृ० १६६-१६८ तक यद्यपि पर्याप्त लिखा जा चुका है परन्तु दुर्ग के अपने शब्दों में कुछ और लिखना निष्प्रयोजन न होगा।

१. निरुक्त के **तमिमं समाम्नायं** की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

तं च योऽसमाम्नातश्छन्दस्येवावस्थितो ऽगवादिरन्यैर्वा निरुक्तैः समाम्नातस्तमिमं च निघण्टव इत्याचक्षतेऽन्येऽप्याचार्या इति वाक्यशेषः।

अर्थात्—**तं** शब्द का एक यह भी अभिप्राय है कि जो निघण्टु दूसरे नैरुक्तों ने एकत्र किया।

अब तनिक विचारिए कि यदि दूसरे नैरुक्त निघण्टु बना सकते थे, और हम भी इस समय ब्राह्मणों की सहायता से नए निघण्टु बना सकते हैं, तो क्या यास्क एक निघण्टु नहीं बना सकता था।[1] नहीं, नहीं. स्वप्न में भी ऐसा विचार करना हेय है, हां अतिहेय है।

---

१. तुलना करें इस इतिहास का ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग, पृ० ११८-१२०।

२. निरुक्त ३।१३॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

अन्ये पुनः......एतानि पूर्वाचार्यप्रामाण्यादामिश्राणि पठ्यन्त इत्येवं मन्यन्ते ।

अर्थात्—निघण्टु ३ । ११ ॥ में जो कुछ नाम और कुछ आख्यात एकत्र पढ़े गए हैं, वह पूर्व आचार्यों के प्रमाण से पढ़े गए हैं,[1] ऐसा कई निरुक्त-व्याख्याकार मानते हैं ।

दुर्ग को इस पक्ष के मानने में कोई आपत्ति नहीं ।

दुर्ग से पुराने निरुक्त व्याख्याकारों के इस वचन से, जो भाग्यवश दुर्ग ने उद्धृत किया है, यह निश्चित हो जाता है कि इस निघण्टु से पहले कई आचार्य अन्य निघण्टु बना चुके थे । उन्हीं की शैली देखकर इस निघण्टु के बनाने वाले ने भी नाम और आख्यात एक ही गण में एकत्र पढ़ दिए ।

जब इस निघण्टु से पहले दूसरे निघण्टु बन चुके थे, तो निस्संदेह यह निघण्टु प्राचीन ऋषियों की कृति न रहा । यदि यह उन्हीं प्राचीन ऋषियों की कृति होता कि जिनका निरुक्त १।२०॥ में उल्लेख है, तो निश्चय ही इसके विषय में यह न लिखा जाता कि इस निघण्टु में पूर्वाचार्यों के प्रमाण से नाम और आख्यात एकत्र में पढ़े गए हैं ।

३. तान्यप्येके समाम्नन्ति ७ । १३ ॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

एके नैरुक्तास्तान्यपि गुणपदानि वृत्रांहोमुक्प्रभृतीनि अग्न्यादौ देवतापदसमाम्नाये पृथक्पृथक् समाम्नन्ति ।

अर्थात्—कई एक नैरुक्त उन गुणपदों को भी अग्नि आदि के साथ देवतापद समाम्नाय या निघण्टु के दैवतकाण्ड में पृथक्-पृथक् एकत्र करते हैं ।

इससे भी स्पष्ट विज्ञात होता है कि नैरुक्त लोग अपना अपना निघण्टु आप बनाते थे । फिर नैरुक्त यास्क ने प्रस्तुत निघण्टु बनाकर उसी पर अपना निरुक्त रचा, ऐसा मानने में क्या दोष ।

अब देखिए सत्यव्रत आदि के लेख को । मधुसूदनसरस्वती को निरर्थक ही 'भ्रान्तिवादी वेदान्ति' लिखने वाला सत्यव्रत लिखता है—

महाभारतीये मोक्षधर्मपर्वणि 'शिपिविष्ट'-नामनिर्वचनप्रसङ्गे ये त्रयः श्लोकः (३४२ अ० ६९, ७०, ७१ श्लोक) दृश्यन्ते, तैश्च ज्ञायते यास्ककृतमेवैतन्निरुक्तम् ।......

अस्त्येव ह्यत्र निघण्टुभाष्ये शिपिविष्ट-निर्वचनञ्च द्विविधम् ।[2] तत्रैव किञ्चिदुत्तरं द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां (३४२ अ० ८६, ८७ श्लोक) निघण्टुकर्तृनाम च प्रकटितम् । तथा हि—

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ।
निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ।
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।

---

१. दावने । अकूपारस्य । के सम्बन्ध में हमने भी यही लिखा है कि यह क्रम यास्क ने पूर्वाचार्यों का अनुकरण करते हुए रखा है । देखें पृ० १८६ ।

२. निरुक्त १२।२६।२७॥

तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः । इति ।
अस्त्येव ह्यत्र निघण्टौ दैवतकाण्डे द्युस्थानदेवताख्यानेषु वृषाकपिरिति ।

अर्थात्—सत्यव्रत का सारा बल इसी बात पर है कि महाभारतानुसार निघण्टु के पदों के आख्यान में कश्यप प्रजापति ने वृषाकपि शब्द पढ़ा है। और क्योंकि प्रस्तुत निघण्टु के दैवतकाण्ड में वृषाकपि शब्द पढ़ा हुआ मिलता है। अतः यह निघण्टु प्रजापति कश्यप प्रणीत है।

हम अभी लिख चुके हैं कि निघण्टु ग्रन्थ अनेक थे। क्या यह निश्चय से कहा जा सकता है, कि इस निघण्टु के सिवा **वृषाकपि** शब्द और किसी निघण्टु के दैवतकाण्ड में नहीं पढ़ा गया होगा। नहीं, कदापि नहीं। निरुक्त ५।७।। में उद्धृत औपमन्यव के वचन से पता लगता है कि औपमन्यव के अथवा उससे भी पुराने किसी निघण्टु में **शिपिविष्ट । विष्णु ।** यह दो विष्णु के नाम पढ़े गए थे। यदि यह दो नाम इतने पुराने निघण्टु में पढ़े जा सकते हैं, तो वृषाकपि नाम भी पढ़ा जा सकता है। इससे यही निश्चय होता है कि प्रजापति-कश्यप ने इसे अपने निघण्टु में पढ़ा होगा, और दूसरे निघण्टुकार भी इसे अपने निघण्टुओं में पढ़ते होंगे। इतने लेखमात्र से यह निर्णय नहीं हो सकता कि प्रस्तुत निघण्टु प्रजापति-कश्यप प्रणीत है।

प्रो० कर्मकर का तीसरा हेतु निम्नलिखित है—

निघण्टु २।१९।। में तडित के दो अर्थ दिए हैं। यास्क उनमें से अन्तिक को ही उचित अर्थ मानता हुआ प्रतीत होता है। यदि वह निघण्टु का भी बनाने वाला होता तो तडित का वधार्थ न लिखता।

निघण्टु २।१९।। के ३३ वधकर्मा धातुओं में **वियातः । आखण्डल । तडित् ।** ये तीन नाम पढ़े गए हैं। कौत्सव्य के निरुक्त-निघण्टु में भी हिंसा वाची ३१ पदों में **आखण्डल** और **तडित्** दो नाम पढ़े गए हैं। कौत्सव्य **तडित्** को अन्तिक नामों में भी पढ़ता है। प्रतीत होता है, प्राचीन परिपाटी के अनुसार ही यास्क ने भी ये नाम वधकर्मा धातुओं में पढ़ लिए हैं। इनके वहां पढ़ने का अभिप्राय इनके धात्वर्थ की ओर निर्देश करने का है। यास्क निरुक्त ३।१० में विशेष ध्यान रखकर कहता है—**ताडयतीति सतः ।**

अर्थात्—ताडन करने से ही तडित् नाम है। अतः तडित् का अन्तिक नाम गौण है। विद्युत् अर्थ में भी ताडन कर्म पाया जाता है। यास्क ने वधकर्मा धातुओं में ताल्हि आख्यात पढ़कर इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है। जिस धातु से तडित् बनता है, उसी से ताल्हि बनता है। अतः धातुओं में नाम पढ़ कर उसके यौगिक रूप का विशेष दिखाना ही प्रयोजन है।

प्रो० कर्मकर का चौथा हेतु हास्यजनक है। वे लिखते हैं कि निघण्टु में व्याप्तिकर्मा सात धातु पढ़े गए हैं। उन में दो नाम हैं। निघण्टुकार ने इन्हें भी भूल से धातु ही समझा था, और यास्क ने उस भूल को दूर किया है।

इसका अभिप्राय तो यह है कि निघण्टुकार बड़ा ही मूर्ख था। वह इतना भी नहीं जान सका कि नाम और आख्यात में क्या भेद है। यह निघण्टुकार की अच्छी स्तुति है। क्या यास्क को भाष्य करने के लिए ऐसे ही निकृष्ट निघण्टुकार का ग्रन्थ मिला था।

इन नामों के धातुओं में पढ़ने का भी वस्तुतः वही प्रयोजन है, जो पहले कहा गया है।

सत्यव्रत सामश्रमी के दिए हुए महाभारत के श्लोकों से यह निर्णय करना कठिन है कि प्रजापति कश्यप ने ही प्रस्तुत निघण्टु बनाया, ऐसा पूर्व विस्तृत रूप से लिखा जा चुका है। इस के खण्डन से पं० राजाराम और प्रो० सिद्धेश्वर वर्मा के विचारों का भी खण्डन जानना चाहिए।

निघण्टु के यास्क-प्रणीत होने में यास्क का प्रमाण

यदि यास्क स्वयं कह दे कि यह निघण्टु मेरी कृति है, तो इस से अधिक इस विषय का निर्णायक और कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। भाग्यवश यास्क ने इस विषय में अपना लेख लिखा है। इस लेख की उपस्थिति में दुर्ग, रोथ, सत्यव्रत, राजाराम और कर्मकर आदि के लेख बहुत कम मूल्यवान् हैं, नहीं, उनका कोई मूल्य रहता ही नहीं। देखिए यास्क क्या लिखता है—

अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने। इन्द्राय वृत्रतुरे। इन्द्रायांहोमुचे। इति। तान्यप्येके समाम्नन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत्समामने। अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति वृत्रहा। पुरन्दरः। इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। ७।१३॥

अर्थात्—कई नैरुक्त विशेषणों सहित इन्द्र आदि देवता पदों का समाम्नान करते हैं। परन्तु फिर भी उन के समाम्नान करने से अनेक विशेषण बच जाते हैं। परन्तु जो प्रधान स्तुति वाला (अग्नि आदि) देवता नाम है, उस का मैं समाम्नान करता हूं। कई आचार्य कर्म से प्रसिद्ध देवता नाम निघण्टु में एकत्र पड़ते हैं। यथा वृत्रहा इत्यादि। परन्तु वे भी सब का समाम्नान नहीं कर सके।

इसी वचन के व्याख्यान में दुर्ग लिखता है कि—**अहं तु न समामने।**

मैं उन आचार्यों जैसा समाम्नाय नहीं बनाता। यास्क ने जैसा निरुक्त में लिखा है, वस्तुतः वैसा ही उसका यह निघण्टु है। यास्क के इस लेख से बढ़ कर इस विषय में अन्य किसी का प्रमाण नहीं हो सकता। वह स्पष्ट स्वीकार करता है कि यह समाम्नाय उसका अपना बनाया हुआ है।

अब रही बात प्रो० बेलवेल्कर की। प्रो० महोदय का मत है कि निघण्टु के चतुर्थाध्याय में जो पद पढ़े गए हैं, वे अज्ञात या संदिग्ध अर्थ और व्युत्पत्ति वाले हैं। संदिग्ध अर्थ वाले मानकर ही किसी वा किन्हीं प्राचीन आचार्य वा आचार्यों ने ये पद एकत्र किए थे।

निघण्टु के चतुर्थकाण्ड का क्या स्वरूप है, इस विषय में यास्क निरुक्त १।२०॥ में स्वयं लिखता है—**एतावतामर्थानामिदमभिधानम्।**

अर्थात्—चतुर्थकाण्ड में अनेकार्थवाची एक-एक पद पढ़ा गया है।

फिर निरुक्त चतुर्थाध्याय के आरम्भ में जहां से उन पदों का भाष्य आरम्भ होता है, वह लिखता है—

अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामोऽनवगतसंस्कारांश्च निगमांस्तदैकपदिकमित्याचक्षते।

अर्थात्—अब जो अनेक अर्थों वाले एक-एक शब्द हैं, उनका यथाक्रम व्याख्यान करेंगे। और अनवगत संस्कार वाले निगम भी पढ़ेंगे। इस को ऐकपदिक कहते हैं।

इसी निरुक्त-वचन की वृत्ति के अन्त में दुर्ग लिखता है—**अनेन नाम्नान्येऽप्याचार्या 'आचक्षते'।**

अर्थात्—इस काण्ड का ऐकपदिक नाम पहले आचार्यों को भी अभिमत था।

इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि पहले निघण्टुकार भी अपने अपने ग्रन्थों में यह ऐकपदिक काण्ड पढ़ते थे, और अपने-अपने निरुक्तों में उस का यही नाम रखते थे। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या उन प्राचीन आचार्यों के निघण्टु ग्रन्थों में भी इस ऐकपदिक काण्ड में यही पद पढ़े जाते थे, या भिन्न-भिन्न पद होते थे? हमारा विचार है कि प्रत्येक निरुक्तकार अपनी दृष्टि से अनवगत संस्कार वाले निगमस्थ पदों को पढ़ता था। इसका प्रमाण भी है।

श्वात्रम् को यास्क निघण्टु २।१०॥ में **धननामों** में पढ़ता है। पुनः वह इसी शब्द को निघण्टु ४।२॥ में पढ़ता है। इसकी व्याख्या निरुक्त ५।३॥ में है। यहां यास्क **श्वात्रम् इति क्षिप्रनाम** यह किसी प्राचीन निघण्टु का प्रमाण देता है। इससे ज्ञात होता है कि **श्वात्रम्** का धननाम पढ़कर भी यास्क के हृदय में यह बात अङ्कित थी कि जैसा प्राचीन नैरुक्त पढ़ चुके हैं, इस पद का क्षिप्रार्थ भी है। अतः उसने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए यह पद चतुर्थाध्याय में दोबारा पढ़ा।

प्राचीन नैरुक्तों ने अपने ऐकपदिक काण्डों में ये सब शब्द नहीं पढ़े थे, जिन्हें यास्क पढ़ता है। इस निघण्टु ४।२॥ में शिपिविष्ट और विष्णु दो नाम पढ़े गए हैं। इनमें से विष्णु तो पहले भी निघण्टु ३।१७॥ में यज्ञ नामों में पढ़ा गया है, परन्तु शिपिविष्ट पद अन्यत्र नहीं पढ़ा गया। यास्क निरुक्त ५।७॥ में बताता है कि किसी प्राचीन आचार्य ने ये दोनों पद विष्णु के नामों में पढ़े थे। सम्भवतः वह आचार्य औपमन्यव था। इससे हम जान सकते हैं कि यद्यपि शिपिविष्ट का अर्थ भी यास्क से पहले ज्ञात था, परन्तु व्युत्पत्ति आदि के दर्शाने के लिए यास्क ने इसका ऐकपदिक में पाठ कर लिया। इस ऐकपदिक काण्ड में और भी ऐसे अनेक पद पढ़े गए हैं, जिनका कि यास्क से पहले नैरुक्तों को निश्चित अर्थ प्रतीत था। अतः प्रो० बेलवेल्कर का यह अनुमान कि ऐकपदिक काण्ड के सब पद संदिग्धार्थ आदि जानकर किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने एकत्र कर दिए, मान्य नहीं। ये पद तो यास्क ने अपनी दृष्टि से एकत्र किए हैं। वह इनका अनेकार्थ और निर्वचन अपने मत में दिखाना चाहता था। बस इतना ही उसका अभिप्राय है।

पूर्वोक्त सारे प्रसङ्ग को आद्यान्त पढ़कर यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रस्तुत निघण्टु यास्क प्रणीत है।

निघण्टु का स्वरूप

इस निघण्टु में पांच अध्याय और तीन काण्ड हैं। पहले तीन नैघण्टुक काण्ड, चौथा नैगम-काण्ड और पांचवां दैवतकाण्ड कहाते हैं। इस समय तक जितने भी निघण्टु मुद्रित हो चुके हैं, उनमें डा० स्वरूप का संस्करण सर्वोत्तम है। उस संस्करण के देखने से पता चलता है कि इस निघण्टु के दो पाठ हो चुके हैं, एक है लघु पाठ और दूसरा बृहत्।

यह निघण्टु निरुक्तान्तर्गत ही है। दुर्ग और स्कन्द आदि के भाष्यों में निरुक्त के प्रथमाध्याय को षष्ठाध्याय कहा गया है। वे निघण्टु के प्रथम पांच अध्यायों से आरम्भ करके आगे प्रति अध्याय की गणना करते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो यही प्रतीत होता है कि निघण्टु भी निरुक्त कहलाता था और प्रत्येक निरुक्तकार इसे रचकर आगे व्याख्यान आरम्भ करता था।

यास्कीय निरुक्त का परिमाण

अब यास्कीय निरुक्त का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। इस निरुक्त के १२ अध्याय हैं। आजकल परिशिष्ट रूप में दो अध्याय और मिलते हैं, परन्तु पूर्व काल में इन परिशिष्टों का अधिकांश बारहवें अध्याय के अन्तर्गत ही था। नीचे ऐसे कतिपय प्रमाण दिये जाते हैं, जिनसे निर्णय हो सकता है कि ये अध्याय नवीन नहीं हैं—

१. सायण अपने ऋग्भाष्य ६।५९।१॥ में निरुक्त १३।६॥ का पाठ उद्धृत करता है।

२. सायण अपने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात के अन्त में लिखता है—

पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मक एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदार्थस्योक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्। तद्व्याख्यानं च समाम्नायः समाम्नात इत्यारभ्य तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवतीत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे।

अर्थात्—इस पञ्चाध्यायी निघण्टु को भी निरुक्त कहते हैं और उसका व्याख्यान **समाम्नायः समाम्नातः** से आरम्भ करके **तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति, अनुभवति** १२ अध्याय तक यास्क ने बनाया।

इस वचन से एक तो यह प्रतीत होता है कि सायण निघण्टु को भी यास्क कृत मानता है। दूसरे यह भी जाना जाता है कि सायणानुसार निरुक्त की समाप्ति **तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति, अनुभवति** पर होती है। यह पाठ आजकल के निरुक्तों के अनुसार १३।१३॥ है, परन्तु सायण के पाठ में यह बारहवें अध्याय के अन्तर्गत ही था।

३. ताण्ड्य ब्राह्मण ४।८।३॥ के भाष्य में सायण लिखता है—

तथा च यास्कः। शुक्रातिरेके पुमान् भवति। शोणितातिरेके स्त्री भवति। द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति।

यह पाठ निरुक्त १४।६॥ में मिलता है। अर्थात् यह पाठ उस पाठ से आगे है, जहां पर कि सायण निरुक्त की समाप्ति मानता है। ताण्ड्य भाष्य में सायण ने इसे यास्क के नाम से पढ़ा है। इससे अनुमान होता है कि निरुक्त के परिशिष्ट का जो चौदहवां अध्याय है, वह भी सायण के समय में विद्यमान था।

४. शङ्करानन्द अपने गीता भाष्य ८।२७॥ पर निरुक्तस्थ **उत्तरायण** और **दक्षिणायन** १४।९। को उद्धृत करता है।

५. विज्ञानेश्वर (संवत् ११५० के लगभग) याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र की ऋजुमिताक्षरा विवृत्ति ३।८३॥ पर लिखता है—

जातः स वायुना.........निरुक्तस्यऽष्टादशेऽभिधानात् ।

अर्थात् निरुक्त १४।६।। का पाठ विज्ञानेश्वर के अनुसार निरुक्त के अठारहवें (पांच अध्याय निघण्टु के अतिरिक्त, तेरहवें), अध्याय के अन्तर्गत था । उसके कोश में चौदहवां अध्याय नहीं था। तेरह अध्याय ही थे । महाराष्ट्र पाठ १४-६।। है ।

६. यजुर्वेद १८।७७।। के भाष्य में उवट (संवत् ११०० के लगभग) लिखता है—

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वेत्युपक्रम्य भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीति चाभिधायाह तस्माद्यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवतीति । अतोऽयमर्थो यो ग्रन्थ इति विद्वद्भिरावरणीयः ।[1]

उवट ने जो पाठ यहां उद्धृत किया है, यह निरुक्त १३।१२।। में मिलता है । इससे ज्ञात होता है कि निरुक्त का तेरहवां अध्याय उवट के समय में विद्यमान था ।

७. सामविवरणकार माधव **अष्टादशे** लिखकर चौदहवें अध्याय का पाठ उद्धृत करता है। यह उस की प्रति के तेरहवें अध्याय में होगा ।[2]

८. स्कन्द स्वामी के ऋग्भाष्य में १।२३।२३।। पर **यां यां** उद्धृत है ।[3]

६. स्कन्द-महेश्वर निरुक्त १।२०।। के भाष्य में **यां यां देवतां** निरुक्त १३।१३।। को उद्धृत करता है । स्कन्द-महेश्वर का भाष्य निरुक्त १३।१३।। तक है ।

स्कन्द महेश्वर का मुद्रित निरुक्त वृत्ति समुच्चय निरुक्त १३।१३।। तक ही है।

१०. संवत् ६५० के समीप का उद्गीथ ऋग्वेद १०।७१।५।। के भाष्य में **यां यां देवतां** निरुक्त १३।१३।। को उद्धृत करता है ।

११. निरुक्त परिशिष्ट १३।१२।। का पाठ शांखायन श्रौत के ५।१।१।। पर आनर्तीय भाष्य पृ० २२४ पर उद्धृत है । यथा—**को न ऋषिर्भविष्यति** । 2

१२. उद्गीथ से वहुत पहले होने वाला दुर्गाचार्य लिखता है—

विद्यापारप्राप्त्युपायोपदेशो मन्त्रार्थनिर्वचनद्वारेण । देवताभिधाननिर्वचनफलं देवतातावृभाव्यमित्येष समासतो निरुक्तशास्त्रचिन्ताविषयः ।[4]

वक्ष्यति हि—यां यां देवतां निराह ।[5]

वक्ष्यति हि—'क ईषते तुज्यते कः' इति ।[6]

---

१. यह पाठ शोध कर दिया गया है ।
२. पृ० ३७४, ३७६ ।
३. निरुक्तभाष्य टीका, पृ० ४८ ।
४. निरुक्तभाष्य १।४।।
५. निरुक्तभाष्य १।२०।।
६. निरुक्तभाष्य ३।२१।।

वक्ष्यति हि— स एष महानात्मा सत्तालक्षणः........... ।[1]
उदाहरिष्यति च—'अथैतं महान्तमात्मानं' अधिकृत्य 'क ईषते तुज्यते' इति ।[2]

इन पांच स्थानों में से पहले स्थान पर निरुक्त १३।१२-१३।। को, दूसरे स्थान पर निरुक्त १३।१३।। को, तीसरे स्थान पर पुनः निरुक्त १३।१३।। को, चौथे स्थान पर निरुक्त १४।३।। को और पांचवें स्थान पर निरुक्त १४।१।। और १४।२६।। को दुर्ग उद्धृत करता है । गुर्जर पाठ १३वें अध्याय से निरन्तर है ।[3]

दुर्ग ७।१४।। पर भी निरुक्त १४ को उद्धृत करता है ।[4] दुर्गाचार्य अपनी निरुक्त वृत्ति में निरुक्त १४।२६।। का पाठ भी उद्धृत करता है ।

इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि दुर्ग के अनुसार निरुक्त की समाप्ति निरुक्त **यां यां** १३।१३।। पर ही होती है । परन्तु उसने निरुक्त १४।२६।। तक को यास्क की कृति माना है । सम्भव है, आजकल के परिशिष्ट के वे भाग दुर्ग के काल में **यां यां** से पहले हों । परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दुर्ग निरुक्त के परिशिष्टों के अधिकांश को यास्क का बनाया हुआ ही मानता है । **वक्ष्यति हि** लिखने से उसका अभिप्राय यही है कि उसकी दृष्टि में सब अध्यायों का कर्ता एक ही आचार्य है ।

१३. कुमारिल भट्ट (विक्रम की चौथी शती से पूर्व) अपने तन्त्र वार्तिक में **यदेव किं च यद्भवतीति** निरुक्त १३।१४।। उद्धृत करता है ।[5]

१४. वररुचि (संवत् ५० के लगभग) अपने निरुक्त समुच्चय के आरम्भ में लिखता है—

निरुक्तप्रक्रियानुरोधेनैव मन्त्रा निर्वक्तव्याः । मन्त्रार्थज्ञानस्य च शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्— योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा इति । शास्त्रान्ते च—यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवतीति च ।

यां यां देवतां वचन निरुक्त १३।१३।। में मिलता है । सायण भी निरुक्त की समाप्ति यहीं मानता है । परन्तु वररुचि के मत में एक बात विचारणीय है । **योऽर्थज्ञ** मन्त्र निरुक्त की प्रथम पंक्ति नहीं । निरुक्त के आरम्भ में तो यह अवश्य है । क्या इसी प्रकार **ताद्भाव्यमनुभवति** निरुक्त के अन्त में होते हुए भी निरुक्त की अन्तिम पंक्ति नहीं । यह देखना चाहिए ।

१५. नैगेयशाखानुक्रमणी में यास्कीय निरुक्त के परिशिष्ट के उद्धरण मिलते हैं —

क. महत्तत् (१।५४२) सौरीति नैरुक्ताः वैश्वदेवीत्येके ।

ख. द्वितीया (११।२१०) सौमीति नैरुक्ताः ।

---

१. निरुक्तभाष्य ७।४।।
२. निरुक्तभाष्य १०।२३।।
३. गुर्जर पाठ ३९ देखें ।
४. पृ० ६८१, ६८२ ।
५. पृ० २०७, पूना संस्करण ।

ग. ब्रह्मा देवानाम् (२।२९४) सौरीति नैरुक्ताः ।

ये तीनों उद्धरण निरुक्त परिशिष्ट १४।१७।। १४।१३।। में मिलते हैं ।[1]

१६. दुर्गादि से भी बहुत पुराना बृहद्देवताकार (शौनक कृत) बृहद्देवता के अष्टमाध्याय में लिखता है—

न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम् ।।१२९।।

यह वचन निरुक्त १३।१२।। के आधार पर लिखा गया है । निरुक्त का वचन निम्नलिखित है-

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा

विष्णुमित्र इसे अपनी ऋक् प्रातिशाख्य वृत्ति के पृ० १३ पर उद्धृत करता है ।

बृहद्देवता के अनेक वचन निरुक्त के आधार पर लिखे गए हैं । उसने सबको बृहद्देवता के सम्पादक परलोकगत प्रो० मैकडानल ने एकत्र किया है ।[2] परन्तु मैकडानल की सूची में पूर्वोक्त स्थल का निर्देश नहीं है ।

निरुक्त के तेरहवें अध्याय के वचन जब इतने पुराने ग्रन्थों में मिलते हैं, तो इस अध्याय को नया समझना बड़ी भूल है । यह अध्याय यास्क कृत है, इसमें कोई सन्देह नहीं । चौदहवां अध्याय भी दुर्ग के काल से बहुत पहले का होगा । अतः डा० स्वरूप का निम्नलिखित लेख विश्वास योग्य नहीं—

The Commentary of Durga, written before the addition of the Parisistas.

अर्थात् दुर्गभाष्य परिशिष्टों के मिलाये जाने से पूर्व लिखा गया था । दुर्ग तो स्वयं परिशिष्टों को उद्धृत करता है । निघण्टु भाष्य बारह अध्यायों में ही समाप्त होता है, अतः दुर्ग लिखता है—

इयं च तस्या द्वादशाध्यायी भाष्यविस्तरः ।[3]

परन्तु इससे आगे अतिस्तुतियां हैं । वे या तो पहले बारहवें के अन्त में होंगी या आरम्भ से ही परिशिष्ट रूप से जोड़ी गई होंगी ।

परिशिष्टगत अतिस्तुतियां प्राचीन निरुक्त का अंग—यास्क ने ही ये अतिस्तुतियां नहीं पढ़ीं । उससे पहले आचार्य भी निरुक्त की समाप्ति पर इन्हें पढ़ते थे । इसलिये यास्क लिखता हैं—**अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते** ।[4]

इस पर दुर्ग लिखता है—**अन्येऽप्याचार्या एवमेवैता अचिक्षते कथयन्ति** ।

अर्थात्—दूसरे आचार्य भी इन्हें अतिस्तुतियां कहते हैं ।

स्कन्द महेश्वर अध्याय १३ के भाष्यारम्भ में लिखता है—

यथा प्रतिज्ञातं समाम्नायो व्याख्यातः । इदानीं पूर्वाचार्याणां मतानुवृत्तितत्परतया अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते ।

१. पृ० ७, नैगेय शाखानुक्रमणी, सहगल, सीताराम, देहली, १९६६ ।
२. बृहद्देवता, पृ० १३६-१४५ ।
३. निरुक्त भाष्य १।१।।
४. निरुक्त १३।१।।

अर्थात्—पूर्वाचार्यों के मत का अनुकरण करके ये अतिस्तुतियां पढ़ी जाती हैं।

इससे आगे यास्क लिखता है—**सोऽग्निमेव प्रथममाह ।**

इस पर दुर्ग की वृत्ति है—**स इति स्तोता असवाचार्यः 'अग्निमेव' अधिकृत्य प्रथममाह । सः** के अर्थ में स्कन्द-महेश्वर ने लिखा है—**सोऽस्तिस्तोता पूर्वाचार्यो वा**

हम इसका यही अर्थ समझते हैं कि अतिस्तुतियों में पहले आचार्य भी अग्नि को प्रथम पढ़ते थे, अतः यास्क ने भी ऐसा ही किया।[1]

यास्कोद्धृत ग्रन्थकार—उन बारह नैरुक्तों के सिवा जिनका वर्णन पहले हो चुका है, यास्क शाकटायन, कौत्स, शाकल्य, और शाकपूणि पुत्र का भी स्मरण करता है। इनके अतिरिक्त वह अनेक वैदिक ऋषियों के नाम भी लेता है।

आर्चाभ्याम्नाय—आदित्य शब्द पर भाष्य करते हुए निरुक्त २।१३।। में यास्क लिखता है—

अदितेः पुत्र इति वा । अल्पप्रयोगं त्वस्य । एतदार्चाभ्याम्नाये सूक्तभाक् ।

यहां जो आर्चाभ्याम्नाय शब्द है, उसका अर्थ करने में पण्डित लोग बड़ी क्लिष्ट कल्पना करते हैं। उनका अर्थ है भी असत्य, अतः इसका सत्यार्थ लिखा जाता है।

दुर्ग की भूल—अपनी वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

आर्चाभ्याम्नाये । ऋचो यस्मिन्नाम्नाये अभि उपर्युपर्याम्नाताः सोऽयमार्चाभ्याम्नायो दाशतयः ।

इससे प्रतीत होता है कि दुर्ग के अनुसार इस शब्द का अर्थ ऋग्वेद है।

स्कन्द महेश्वर की भूल—स्कन्द अपनी निरुक्त टीका में लिखता है—

आर्चाभ्याम्नाये । ऋचां समूह आर्चम् । अभ्यम्नायत इत्यभ्याम्नायः । ऋच एव यजुषा ब्राह्मणेन चामिश्रा[2] आम्नायन्ते आभिमुख्येन यस्मिन्नसावार्चाभ्याम्नायः । तस्मिन् ऋग्वेद इत्यर्थः । अन्ये ऋचाभ्याम्नाय इति पठन्ति ।

अर्थात् स्कन्द का भी विचार है कि इस शब्द का अर्थ ऋग्वेद ही है। परन्तु सारे ऋग्वेद में ऐसा एक भी सूक्त नहीं जिस सारे का देवता आदित्य हो। निरुक्त के दुर्ग से प्राचीन भाष्यकार मानते थे कि **आर्चाभ्याम्नाय** में एक सम्पूर्ण सूक्त ऐसा है जिसका देवता आदित्य है। दुर्ग ने पहले शब्द का अशुद्ध अर्थ समझ लिया, और पुनः उनका खण्डन किया जो सारे सूक्त का आदित्य देवता मानते थे। वह लिखता है—

अन्ये तु मन्यन्ते । आदित्य इत्येतदेवाल्पप्रयोगम् इति तत्र त्वेतद्विरुद्धचते सूक्तभागिति ।

जब दुर्ग ने एक बार निश्चय कर लिया कि इस शब्द का अर्थ ऋग्वेद है, तो उसने देखना

---

१. अड्यार में संख्या ८७८ (वैदिक, भाग प्रथम) में १३ अध्याय हैं। १३ वां अध्याय बारहवें का भाग है। और चौदहवां अध्याय तेरहवां है। संख्या ८७९ तथा ८८१, मुद्रित संस्करण से भिन्न हैं।
२. डा० स्वरूप च मिश्रा पढ़ते हैं।

आरम्भ किया कि क्या ऋग्वेद में कोई ऐसा सूक्त है जिसका देवता आदित्य हो। जब उसे ऐसा सूक्त न मिला तो उसने तत्सम्बन्धी निरुक्त के सारे पाठ का अर्थ बदला। और प्राचीन शास्त्रकारों के व्याख्यान के विरुद्ध लिखा। प्रश्न है कि इस शब्द का सत्यार्थ क्या है?

आर्चाभ्याम्नाय एक शाखा है—एक वर्ष से कुछ अधिक समय हुआ, जब मैं निरुक्त के इस पाठ का बार-बार विचार करता था। एक रात्रि मैंने काशिका के चतुर्थाध्याय के तीसरे पाद का पाठ किया। सूत्र १०४ की वृत्ति पढ़ कर मेरी प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। मैंने पहले भी कई बार यह पाठ पढ़ा था, परन्तु यह बात कभी सूझी न थी। काशिका में लिखा है—

आलम्बिश्चरकः प्राचां पलङ्गकमलावुभौ।
ऋचाभारुणिताण्ड्याश्च मध्यमीयास्त्रयोऽपरे॥

आलम्बिनः। पालङ्गिनः। कामलिनः। आर्चाभिनः। आरुणिनः। ताण्डिनः।

अर्थात्—**ऋचाभेन प्रोक्तमधीयते आर्चाभिनः। तेषामाम्नायः आर्चाभ्याम्नायः।** ऋचाभप्रोक्त संहिता आदि के पढ़ने वाले आर्चाभिन, उनका आम्नाय आर्चाभ्याम्नाय। उस आर्चाभ्याम्नाय में आदित्य देवता का एक सम्पूर्ण सूक्त था।

प्रतीत होता है कि आर्चाभ्याम्नाय या आर्चाभियों की संहिता दुर्ग और स्कन्द को नहीं मिल सकी, अतः उन्होंने एक क्लिष्ट कल्पना की। दुर्ग का अनुकरण करने वाले पं० राजाराम, पं० रामप्रपन्न पं० सीताराम, डा० स्वरूप आदि ने भी यही भूल की। दुर्ग का अर्थ तो अत्यन्त हास्यजनक है। 'ऋचाएँ जिसमें ऊपर-ऊपर एकत्र हों, वह आर्चाभ्याम्नाय।' यहां **अभि** का ऊपर-ऊपर अर्थ बहुत भद्दा है।

इस बात के जानने से अगले ही दिन मैंने सारी वार्ता पं० राजाराम, पं० चारुदेव आदि को सुनाई। उन्होंने अत्यन्त हर्षित होकर कहा, कि वस्तुतः यही इस शब्द का सच्चा अर्थ है।

यास्कोद्धृत अन्य ग्रन्थ—आर्चाभ्याम्नाय के सिवा यास्क निरुक्त १०।५॥ में **काठकम्** और **हारिद्रविकम्** को उद्धृत करता है। ऋग्वेद के लिए वह दशतयीषु शब्द का प्रयोग करता है। इसका अर्थ है 'ऋग्वेद की सारी ही शाखाओं में।' इनके अतिरिक्त जिन वैदिक ग्रन्थों के प्रमाण यास्क ने दिए हैं, उनमें से अनेकों के नाम डा० स्वरूप ने अपनी सूचियों में एकत्र कर दिए हैं।[1]

निरुक्त में प्राचीन ग्रन्थों के अन्वेषण योग्य प्रमाण—निरुक्त में कुछ ऐसे भी वचन हैं, जो दूसरे ग्रन्थों के प्रतीत होते हैं' परन्तु उनके विषय में हमसे पहले लेखकों ने ऐसा सन्देह नहीं किया। कदाचित् उनके मूल-स्थानों का पता लग जाए, इस अभिप्राय से वे नीचे दिए जाते हैं—

प्रथनात्पृथिवीत्याहुः। १।१३॥
तृतीयमृच्छतेरूचुः। ३।१७॥
पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः।
... .पूर्वमासीदुरुञ्जिरा॥

१. निरुक्त, पृ० १४७—२६०।

निश्चय ही किसी अथवा किन्हीं प्रचीन अनुक्रमणियों के यह पाठ हैं। वे अनुक्रमणियां श्लोक-वद्ध होंगी क्योंकि ये वचन श्लोकों का ही भागमात्र है।

यास्कीय निरुक्त के दो पाठ—जो निरुक्त सम्प्रति मिलता है, निघण्टु के समान वह भी दो पाठों में विभक्त हो चुका है। उनमें से एक है बृहत्पाठ और दूसरा है लघु। दुर्ग की वृत्ति प्रायः लघुपाठ पर ही है। अध्यापक राजवाड़े दुर्गवृत्ति के संस्करण की भूमिका में लघुपाठ को गुर्जर पाठ और बृहत्पाठ को महाराष्ट्र पाठ कहता है। उसका लेख निम्नलिखित है—

गुर्जरपाठो महाराष्ट्रपाठाद्विश्वसनीयो दुर्गाचार्येण प्रायः स्वीकृतश्च। गुर्जरपाठस्य खण्डविभागो महाराष्ट्रपाठस्य खण्डविभागाद्भिन्नः।

अर्थात्—गुर्जर पाठ महाराष्ट्र पाठ की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है। दुर्गाचार्य भी प्रायः इसी को स्वीकार करता है। गुर्जर पाठ का खण्ड विभाग भी महाराष्ट्र पाठ के खण्ड विभाग से भिन्न है।

निरुक्त के ये दोनों पाठ कब से बने, यह कहना अभी कठिन है। निरुक्त के भावी संस्करणों में मालाबार के कोशों की सहायता भी लेनी चाहिए। तब इस विषय पर अधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

बृहद्देवताकार के ध्यान में निरुक्त का लघुपाठ ही होगा। वह बृहद्देवता अध्याय २ में लिखता है—**रुद्रेण सोमः पूष्णा च पुनः पूषा च वायुना ॥४॥**

बृहद्देवता के इस श्लोकार्ध का कोई विशेष पाठान्तर भी नहीं है। बृहद्देवता का यह पाठ निरुक्त के लघुपाठ के आधार पर लिखा गया है—**पूष्णा रुद्रेण च सोमः। वायुना च पूषा ७।१०॥**

निरुक्त का बृहत्पाठ निम्नलिखित है—**पूष्णा रुद्रेण च सोमः। अग्निना च पूषा।**

बृहद्देवता में **वायुना** पाठ के मिलने से यही प्रतीत होता है कि बृहद्देवताकार के मन में लघु-पाठ का ध्यान था। अध्यापक मैकडानल ने इस बात का संकेत अपनी टिप्पणी में किया है—

In associating Vayu (not Agni) with pusan the BD. here agrees with the shorter recension of the Nirukta.

निरुक्त में वेदार्थ के पक्ष—वेदार्थ करने के जितने पक्षों का निरुक्त में उल्लेख है वे नीचे लिखे जाते हैं—

अधिदैवतम्। अध्यात्मम्। आख्यानसमयः।
ऐतिहासिकाः। नैदानाः। नैरुक्ताः।
परिव्राजकाः। पूर्वे याज्ञिकाः। याज्ञिकाः।

इनके अतिरिक्त **एके, अपरे और आचार्या** कह कर भी कई मत दिए गए हैं, परन्तु वे नैरुक्तों के अन्तर्गत हो सकते हैं।

इन्हीं पक्षों को देखकर निरुक्त ७।२॥ के भाष्य में स्कन्द-महेश्वर लिखते हैं—

सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्राः योजनीयाः। कुतः। स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय अर्थं वाचः पुष्पफलमाह इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।

अर्थात्—नैरुक्त, ऐतिहासिक आदि सब दर्शनों में सब मन्त्रों का व्याख्यान करना चाहिए। भाष्यकार यास्क स्वयं ऐसी प्रतिज्ञा करता है।

यास्क-रचित अन्य ग्रन्थ—रुद्राध्याय के भाष्य में भट्टभास्कर मिश्र लिखता हैं—

नमस्काराद्यकं यजुर्नमस्कारान्तमेकं यजुरिति यास्कः।

यास्क का यह मत इस निरुक्त में नहीं मिलता। सम्भवतः यह मत यास्क की सर्वानुक्रमणी में मिलेगा। उस सर्वानुक्रमणी का पता हमारे मित्र डा० कूहनन राज ने लगाया है। वह सर्वानुक्रमणी निदानसूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति के भाष्यकार पेट्टाशास्त्री अपरनाम हृषीकेश ने बहुधा उद्धृत की है। उसने उस सर्वानुक्रमणी के १८ प्रमाण दिए हैं। उनसे निश्चित होता है कि यह सर्वानुक्रमणी तैत्तिरीय संहिता की थी। यास्क का रुद्र सम्बन्धी मत भी यजुर्वेद से सम्बन्ध रखता है, अतः वह इसी सर्वानुक्रमणी में होगा।

क्या निरुक्त और सर्वानुक्रमणी का कर्ता एक ही यास्क है

प्रश्न होता है कि क्या निरुक्त और सर्वानुक्रमणी दोनों का कर्ता एक ही यास्क है। हमारा विचार है कि हां, एक ही यास्क है। बृहद्देवता में यास्क का नाम लेकर १९ बार उसका मत दिया गया है। वह मत बहुधा इस निरुक्त में नहीं मिलता। परन्तु कुछ स्थानों पर ठीक मिल भी जाता है। अतः यदि यास्क दो होते, तो बृहद्देवताकार दोनों को पृथक्-पृथक् बताने के लिए कोई विशेषण अवश्य देता बृहद्देवताकारोद्धृत-यास्क का जो मत इस निरुक्त में नहीं मिलता, वह सर्वानुक्रमणी में अवश्य मिलेगा और यास्क का बृहद्देवता में बताया हुआ जो मत इस निरुक्त से विरुद्ध है, वह शाखा-भेद के कारण हो सकता है। निरुक्त में ऋग्वेद को मुख्य मानकर सब कुछ लिखा गया है और तैत्तिरीयों के प्रकरण में देवता आदि का भेद हो सकता है। यास्क की सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता में यास्क के मत आदि की विशेष विवेचना अध्यापक राज के लेख में देखनी चाहिए।[1]

यास्क को उद्धृत करने वाले प्राचीन ग्रन्थकार—१. पिङ्गलनाग अपने छन्दःशास्त्र में लिखता है—

उरोबृहतीति यास्कस्य। ३। ३०॥

अर्थात्—न्यङ्कुसारिणी को ही यास्क उरोबृहती कहता है।

सर्वानुक्रमणीकार यास्क लिखता है—

द्वितीयश्चेत् स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेः। उरोबृहती वा स्यात्।[2]

१. यास्क की तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी, अंग्रेजी में लेख।

२. डा० राज का नवम प्रमाण, पृ० २१६।

इस से ज्ञात होता है कि पिङ्गल ने यास्क की सर्वानुक्रमणी को ध्यान में रखकर पूर्वोद्धृत सूत्र रचा होगा।

यास्क की सर्वानुक्रमणी में गद्य भाग के श्लोक भी होंगे। डा० राज ने दो श्लोक भी दिए हैं।

कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के समान यास्क की सर्वानुक्रमणी में भी पहले छन्दों का वर्णन होगा।

उवट जब यास्क के छन्दःशास्त्र का वर्णन करता है, तो उसका अभिप्राय इसी सर्वानुक्रमणी के पूर्व भाग से होगा।[1]

२. शौनक अपने ऋक्प्रातिशाख्य में लिखता है—

न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः। सूत्र ९९३।

अर्थात्—ऋग्वेद में कोई एकपदा ऋक् नहीं, ऐसा यास्क मानता है।

यास्क ने यह बात अपनी सर्वानुक्रमणी के पूर्वभाग में लिखी होगी।

दूसरी ओर अपनी याजुष सर्वानुक्रमणी में यास्क शौनक का स्मरण करता है—

द्वावशिनस्त्रयोऽष्टाक्षराश्च जगती ज्योतिष्मती। सापि त्रिष्टुबिति शौनकः।

इस से हमारा पूर्व विचार कि शौनक, यास्क आदि समकालीन थे, और भी पक्का होता है।[2]

यास्क रचित कल्प—हारलता पृ० ८ पर लिखा है—

कल्प इति ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठानपद्धतिर्यास्क-वाराहबौधायनीयाद्याः।

इन सब प्रमाणों से पता लगता है कि यास्क-प्रणीत ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. निघण्टु
२. निरुक्त
३. याजुष-सर्वानुक्रमणी
४. कल्प

आशा है कि यत्न करने पर सर्वानुक्रमणी और कल्प मिल सकेंगे।

यास्क का काल—महाभाष्य से पूर्व के वाङ्मय के इतिहास के पता लगाने का अभी तक बहुत अल्प प्रयत्न हुआ है। श्रौतसूत्रों के अनेक भाष्य हैं, जो इस काल से पहले के होंगे। आश्वलायन श्रौत का देवस्वामी भाष्य, कात्यायन श्रौत का भर्तृयज्ञ और पितृ-भूमि भाष्य, मीमांसा पर देवस्वामी का भाष्य, और उपवर्ष-भाष्य, वेदान्त सूत्रों पर टङ्क और द्रमिड के भाष्य इत्यादि ग्रन्थों का काल निश्चय करने के लिए अभी तक अणुमात्र भी प्रयास नहीं हुआ। इन में से कई ग्रन्थ बुद्ध के काल से भी पहले के ठहरेंगे।

---

१. देखें इस इतिहास का ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग।
२. वही।

अभी-अभी अध्यापक रामकृष्ण कवि ने सूचना भेजी है कि भर्तृहरि की मीमांसा वृत्ति के कुछ भाग मिले हैं। वे शबर से पहले के हैं। हम ने यह वृत्ति अभी देखी नहीं। यदि कवि महाशय का निर्णय ठीक है, तो भर्तृहरि बड़ा प्राचीन ग्रन्थकार होगा।[1] वह भर्तृहरि अपने महाभाष्य के व्याख्यान में एक आश्वलायन श्रौतभाष्यकार को उद्धृत करता है। वह श्रौतभाष्यकार बहुत प्राचीन श्रौतसूत्रों के भाष्यकारों के काल का निर्णय हम इस इतिहास के चतुर्थ भाग में करेंगे। इस प्रसङ्ग में इतना लिखने का यही प्रयोजन है कि प्राचीन ग्रन्थकारों का काल जानने के लिए अभी बड़े परिश्रम की आवश्यकता है। योरुप के अध्यापकों ने शीघ्रता में जो कुछ लिख दिया है, वह प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतः यास्क आदि के काल के विषय में भी हम अभी तक कुछ नहीं कह सकते।

महाभारत में यास्क का वर्णन—सब से पहले सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने निरुक्तालोचन में महाभारत के निम्नलिखित श्लोकों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥७२॥
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।
मत्प्रसादादधोनष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥७३॥[2]

अर्थात्—श्री कृष्ण कहते हैं कि यास्क ने मेरी कृपा से अधोनष्ट निरुक्त प्राप्त किया।

यह सत्य है कि महाभारत में बहुत प्रक्षेप हुआ है, परन्तु जिस स्थान पर महाभारत में यास्क का उल्लेख है, उससे आगे ही गालव का वर्णन भी मिलता है। इस प्रसंग के नवीन होने का कोई कारण नहीं, अतः यास्क बहुत पुराना व्यक्ति है।

---

१. भर्तृहरि के सम्बन्ध में चीनी यात्री इत्सिङ्ग के लेख पर हमें आरम्भ से ही सन्देह है। देखें इस इतिहास का ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग, पृ० २५५-२५६।

२. शान्तिपर्व, अध्याय ३४२।

ग्यारहवां अध्याय

निघण्टु के भाष्यकार

१. क्षीरस्वामी—संवत् ११८५—१२११

✓ देवराज यज्वा अपने निघण्टु-निर्वचन की भूमिका में लिखता है—

इदं च .... क्षीरस्वामि-अनन्ताचार्यादिकृतां निघण्टुव्याख्यां ....निरीक्ष्य क्रियते ।

अर्थात्—यह निर्वचन क्षीरस्वामी, अनन्ताचार्य आदि कृत निघण्टु व्याख्या को देखकर किया जाता है।

अपने निर्वचन के प्रसङ्ग में देवराज ३२ बार क्षीरस्वामी की व्याख्या को उद्धृत करता है। क्या यह व्याख्या यास्कीय निघण्टु पर थी अथवा देवराज का अभिप्राय क्षीरस्वामी के अमरकोशोद्घाटन से है ? यह प्रश्न बड़ा विचारणीय है, अतः आगे इस पर विचार किया जाता है—

देवराज	क्षीर अमर-व्याख्या
१. पृथुना राज्ञा अवतारिता पृथ्वी १।१।।	पृथुनावतारिता वा पृथ्वी २।१।३।।
२. वियच्छति न विरमति १।३।।	वियच्छति विरमति १।२।२।।
३. पुष्कं वारि राति पुष्करम् १।३।।	पुष्कं वारि राति पुष्करम् । १।२।२।।
४. साध्यन्त आराध्यन्ते साध्याः १।५।।	साध्यन्त आराध्यन्त इति १।१।१०।
५. आ अश्नुवते आशाः । १।६।।	अश्नुते आशाः १।२।२।।
६. ककुम्नाति विस्तारयतीति ककुप् १।३।।	कं स्कुम्नाति विस्तारयति ककुप १।२।२।।
७. हरन्त्याभिः । १।६।।	हरन्त्यनया हरित् । १।२।२।।
८. क्षप्यते सूर्यचारेण क्षपा । १।७।।	क्षप्यते क्षपा । १।३।४।।
९. उनत्त्यूधः । १।७।।	उनत्त्यूधः । २।६।७३।।
१०. सुष्ठु आह्वयति स्वाहा । १।११।।	सुष्ठु आहूयते स्वाहा । २।७।२१।।
११. शच श्वच गतौ । १।११।।	शच श्वच गतौ । १।१।४५।।

देवराज	क्षीर अमर-व्याख्या
१२. शब्दनं शब्दः । १।११।।	क्षीरतरङ्गिणी में है ।१।७२७।।
१३. अपि प्लवते इति नैरुक्ताः । १।१२।।	अपि प्लवते इति नैरुक्ताः ।२।४।२०।।[1]
१४. तुदति तोयम् । १।१२।।	तुदति तौति वा तोयम् । १।६।४।।

शेष १८ प्रमाणों में से केवल एक और है जिसका पता अमर टीका में नहीं लग सका । अतः केवल एक प्रमाण है, जो देवराज ने क्षीर के नाम से उद्धृत किया है और जिसका पता अमर टीका में नहीं मिलता । क्षीर-कृत अमरटीका और देवराज कृत निघण्टु निर्वचन जिस बुरे प्रकार से छपे हैं उन्हें देखकर हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यह दोनों प्रमाण अमरटीका में नहीं होंगे, अथवा इनका वही रूप है जो सत्यव्रत के देवराज के निर्वचन के संस्करण में मिलता है ।

एक और भी बात है, जिस से क्षीरस्वामी के निघण्टु भाष्य के मिलने का सन्देह होता है ।

देवराज अपने निर्वचन की भूमिका में लिखता है—

एवं व्याकीर्णेषु कोशेषु नियमैकभूतस्य प्रतिपदनिर्वचननिगमप्रदर्शनपरस्य कस्यचिद् व्याख्यानस्याभावान् नैघण्टुकं काण्डमुत्सन्नप्रायमासीत् ।

अर्थात्—प्रत्येक पद का निर्वचन और निगम प्रदर्शन जिस भाष्य में हो, ऐसे किसी भी व्याख्यान के अभाव में निघण्टु का नैघण्टुक काण्ड उत्सन्न प्राय था ।

इससे यही ज्ञात होता है कि देवराज के पास क्षीर का वैदिक निघण्टु भाष्य नहीं था । उस के पास तो उसकी अमरकोश व्याख्या ही थी । अतः क्षीरकृत अमरकोशोद्घाटन के सम्पादक ओक महाशय का यह विचार कि क्षीर रचित छः वृत्तियों[2] में वैदिक निघण्टु वृत्ति भी एक थी,[3] सत्य प्रतीत नहीं होता । इसी प्रकार डा० स्वरूप का मत है—

Of the commentaries on the Nighantu both the works mentioned by Devaraja have unfortunately been lost.[4]

अर्थात्—निघण्टु पर क्षीर की वृत्ति नष्ट हो चुकी है, ठीक नहीं । अधिक सम्भव यही है कि क्षीर ने काई निघण्टुवृत्ति नहीं रची । अनन्ताचार्य की व्याख्या भी किसी और कोश पर होगी । देवराज के भाष्य में वह एक बार भी उद्धृत नहीं मिलता ।

२. देवराज यज्वा—सं० १३७० के निकट

देवराज के पिता का नाम यज्ञेश्वर आर्य और पितामह का नाम देवराज यज्वा था । गोत्र

---

१. अपप्लव इति नैरुक्ताः । यह ओक सम्पादित पाठ है । हम ने मूल में त्रिवन्दरम मुद्रित पाठ दिया है।
२. षड्वृत्तयः कल्पिताः । देखें अमरवृत्ति और धातु वृत्ति के मङ्गल श्लोक ।
३. देखें अमरवृत्ति के मङ्गल श्लोकों की टिप्पणी ।
४. डा० स्वरूप कृत निरुक्त की सूचियां, भूमिका, पृ० १८ ।

उस का अत्रि था। वह रङ्गेशपुरी-पर्यन्त ग्राम का रहने वाला था। समग्र वैदिक निघण्टु का भाष्य रचने वाला वही एक व्यक्ति प्रतीत होता है।

काल—कूहनन राज का मत है कि देवराज सायण का उत्तरवर्ती है। वे लिखते हैं—[1]

Devaraja is later than Sayana, perhaps he is a very recent author.

इस बात का खण्डन इसी भाग के पृ० ४५-४६ तक हम कर चुके हैं। वहां विस्तृत रूप से दिखाया गया है कि देवराज सायण के ऋग्भाष्य की एक पंक्ति भी उद्धृत नहीं करता। इस के विपरीत मैक्समूलर[2] और डा० स्वरूप[3] ने दिखाया है कि सायण ऋग्भाष्य १।६२।३॥ में निघण्टुभाष्य से एक प्रमाण देता है। वह प्रमाण देवराज के निघण्टु भाष्य में स्वल्प पाठान्तर से मिलता है। हम अभी यह भी बता चुके हैं कि देवराज के निघण्टुभाष्य के अतिरिक्त और कोई वैदिक-निघण्टु-भाष्य था भी नहीं। सायण का अभिप्राय किसी वैदिक-निघण्टु-भाष्य से ही है। वह है देवराज का एकमात्र भाष्य। अतः निस्सन्देह सायण देवराज के ग्रन्थ का ही प्रमाण देता है।

डा० स्वरूप ने अपने निरुक्त की भूमिका में विस्तृत रूप से बताया है कि देवराज भोज, दैव, उस की वृत्ति पुरुषकार, पदमञ्जरी और भरतस्वामी को उद्धृत करता है। भरतस्वामी का काल संवत् १३६० के समीप का है। अतः देवराज का काल सं० १३७० से पहले का नहीं है। देवराज को सायण उद्धृत करता है। सायण ने अपने ग्रन्थ संवत् १४०० में लिखने आरम्भ कर दिए होंगे। इसलिए देवराज संवत् १३७० के समीप ही हुआ होगा।

देवराज के निघण्टु-निर्वचन का जो कोश हमारे पुस्तकालय में है, वह ४०० वर्ष से कम पुराना नहीं है। उस के लेख आदि से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। इस ग्रन्थ का इतना पुराना हस्तलेख अन्यत्र मेरे देखने में नहीं आया। इस से भी निश्चित होता है कि देवराज इतना नूतन ग्रन्थकार नहीं है जितना कि डा० राज इसे मानते हैं।

निघण्टु निर्वचन—देवराज अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार नैघण्टुक काण्ड का निर्वचन ही अधिक विस्तार से करता है। उसके ग्रन्थ का मूलाधार आचार्य स्कन्दस्वामी का ऋग्वेद भाष्य और स्कन्द महेश्वर की निरुक्त भाष्य-टीका हैं। अनेक स्थानों पर स्कन्द का नाम लिए बिना ही वह उसकी पंक्तियों पर पंक्तियां उद्धृत करता जाता है। यथा—

१. **अम्बर** १।३।१॥ के व्याख्यान में स्कन्द-निरुक्त-भाष्य-टीका ३।१०॥ की कई पंक्तियां बिना स्कन्द का नाम स्मरण किए उद्धृत की गई हैं।

२. **अध्वर** ३।१७।३॥ के व्याख्यान में स्कन्द-ऋग्वेद-भाष्य १।१।४॥ की कई पंक्तियां बिना स्कन्द का नाम लिए उद्धृत की गई हैं।

---

१. Proceedings, Fifth Oriental Conference, Vol. I, p. 227.

२. Max Muller's 2nd ed. of Rgveda with Sayana's com, IV, CXXXIII.

३. निरुक्त, भूमिका, पृ० २६।

३. काकुद ४।२।७६॥ के व्याख्यान में निरुक्त भाष्य-टीका ५।२६॥ की कई पंक्तियां उद्धृत हैं। इत्यादि।

उणादि वृत्ति अथवा वृत्ति कहकर जिस ग्रन्थ से प्रमाण दिए गए हैं, वह दशपादि उणादि की वृत्त है।[1] उसके कर्ता का नाम हमें पता नहीं लग सका। वह कभी काशी में मुद्रित हुई थी। 2

देवराज ने जो माधवीय **अनुक्रमणियां** उद्धृत की हैं उनमें से नाम और आख्यात की दो अनुक्रमणियां डा० राज ने प्राप्त कर ली हैं।

देवराज १।६।१५। के निर्वचन में किसी **अष्टादशाध्याय** को उद्धृत करता है। क्या यह निरुक्त का तेरहवां अध्याय है ? आजकल के निरुक्त के प्रथम परिशिष्ट में वह प्रमाण नहीं मिलता, जिसे देवराज लिखता है।

२।१६।३॥ के निर्वचन में देवराज लिखता है—**स्कन्दस्वामिव्यतिरिक्तभाष्यकारमते।**

यह कौन आचार्य है, यह विचारना चाहिए।

देवराज के निर्वचन में स्वतन्त्ररूप से बहुत कम लिखा गया है। इसमें पुरातन प्रमाणों का संग्रह अत्यधिक है।

---

१. १।१२।२३॥ २।२।२६॥ २।७।२०॥ इत्यादि।

बारहवां अध्याय

निरुक्त के भाष्यकार

१. निरुक्त वार्तिक—विक्रम की छठी शताब्दी से पूव

निरुक्त पर पातञ्जल महाभाष्य से भी पहले व्याख्यान होने आरम्भ हो गए थे। अष्टाध्यायी ४।३।६६।। के महाभाष्य में पतञ्जलि लिखता है—

शब्दग्रन्थेषु चैषा प्रसृततरा गतिर्भवति। निरुक्तं व्याख्यायते। व्याकरणं व्याख्यायत इत्युच्यते। न कश्चिदाह पाटलिपुत्रं व्याख्यायत इति।

अर्थात्—शब्द ग्रन्थों में ही व्याख्या प्रवृत्त होती है। निरुक्त का व्याख्यान होता है। व्याकरण का व्याख्यान होता है। कोई नहीं कहता कि पाटलिपुत्र का व्याख्यान होता है।

इससे प्रतीत होता है कि जिस प्रकार अष्टाध्यायी पर संग्रह आदि व्याख्यान पतञ्जलि से पहले बन चुके थे, वैसे ही निरुक्त पर भी कई व्याख्यान हो चुके थे।

निरुक्त वार्तिक बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। सुरेश्वर के बृहदारण्यक वार्तिक के समान यह भी बड़ा बृहद् ग्रन्थ होगा। निरुक्त स्वयं एक भाष्य है। उस भाष्य पर यह वार्तिक था। इसके प्रमाण दुर्ग ने अपनी वृत्ति में दिए हैं—

१. अपि चोक्तं वार्तिककारेण—

यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढिगतं भवेत्।
अर्थश्चाप्यभिधेयस्थस्तावद्भिर्गुणविग्रहः।[1]

२. गतार्थं मन्यमानो भाष्यकारो निगमं न ब्रवीति। वार्तिककारेणाप्युक्तम्—

निगमवशाद्बह्वर्थं भवति पदं तद्धितस्तथा धातुः।
उपसर्गगुणनिपाता मन्त्रगताः सर्वथा लक्ष्याः॥[2]

३. तदुक्तं वार्तिककारेण—

---

१. यह श्लोक बृहद्देवता में भी है। २।१०२।। निरुक्तवृत्ति १।१।।
२. निरुक्तवृत्ति ६।३१।।

क्रमप्रयोजनं नाम्नां शाकपूण्युपलक्षितम् ।
प्रकल्पयेदन्यदपि न प्रज्ञामवसादयेत् ॥[1]

४. उक्तं च वार्तिके—

मध्यमा वाक् स्त्रियः सर्वाः पुमान्सर्वश्च मध्यमः ।
गणाश्च सर्वे मरुतो गणभेदाः पृथक्कृतेः ॥[2]

क्या बृहद्देवता यही वार्तिक है—इन चारों प्रमाणों में से पहला और चौथा बृहद्देवता में मिलते हैं। पहला ठीक वैसा ही बृहद्देवता में है। चौथा बृहद्देवता में कुछ पाठान्तर से है। दूसरे प्रमाण पर राजवाड़े की टिप्पणी निम्नलिखित है—

अयं श्लोको बृहद्देवतायां नोपलभ्यते ।
बृहद्देवताकारान्नान्यो वार्तिककारः ।

अर्थात्—यह श्लोक बृहद्देवता में नहीं है। बृहद्देवता के सिवा और कोई वार्तिक भी नहीं।

तीसरे प्रमाण पर राजवाड़े अपनी टिप्पणी में लिखता है—

अयं श्लोकोऽधुनोपलब्धबृहद्देवतायां न विद्यते ।

अर्थात्—यह श्लोक उपलब्ध बृहद्देवता में नहीं है।

चौथे प्रमाण के विषय में राजवाड़े अपनी टिप्पणी में लिखता है।

दुर्गकाले बृहद्देवताग्रन्थे भिन्नाः पाठा आसन् । अधिकाश्च श्लोकाः । च. ट. पुस्तकयोः—

सर्वा स्त्री मध्यमस्थाना पुमान्वायुश्च सर्वगः ।
गणाश्च सर्वे मरुत इति वृद्धानुशासनम् ॥
इति पाठान्तरं प्रान्ते दीयते ।

यह पाठान्तर वाला श्लोक स्कन्द-महेश्वर ११।१३॥ पर मिलता है।

उसकी टिप्पणी में डा० स्वरूप ने भी लिखा है कि यह बृहद्देवता के ही पाठान्तर हैं।

निरुक्त वार्तिक एक पृथक् ग्रन्थ

हमारा विचार है कि दुर्गाचार्य तथा स्कन्द द्वारा उद्धृत निरुक्त वार्तिक एक प्राचीन ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध है। बृहद्देवता का नाम वार्तिक नहीं है। वार्तिक एक सर्वथा पृथक ग्रन्थ था। उसके प्रमाण अन्यत्र भी मिलते हैं। मण्डनमिश्र ने स्फोटसिद्धि नाम का ग्रन्थ लिखा है। उस पर गोपालिका नाम की एक टीका है। उस टीका में लिखा है—

यथोक्तं निरुक्तवार्तिक एव—

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविधि ।
उपदेशेन संप्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च ॥ इति ॥१॥

१. निरुक्तवृत्ति ८।४॥
२. निरुक्तवृत्ति ११।१३॥ बृहद्देवता ५।४६॥

उपदेशश्च वेदव्याख्या । यथोक्तम्—

अर्थोऽयमस्य मन्त्रस्य ब्राह्मणस्यायमित्यपि ।
व्याख्यैवात्रोपदेशस् स्याद्वेदार्थस्य विवक्षितः ॥ इति ॥२॥

उपदेशाय ग्लायन्त इति । उपदेशेन ग्राहयितुमशक्या इत्यर्थः । अपरे द्वितीयेभ्यो न्यूना इति । बिल्मग्रहणाय उपायतो वशीकरणाय । इमं ग्रन्थं वक्ष्यमाणं समाम्नासिषुः समाम्नातवन्तस्तमेवाह वेदं च वेदाङ्गानि चेति । अङ्गशब्द उपाङ्गदेरप्युपलक्षणार्थः । वेदमुपदेशमात्राद्ग्रहीतुमशक्ता वेदं समाम्नासिषुः । वेदार्थं चोपदेशेन ग्रहीतुमशक्ता अङ्गानि च समान्नासिषुरिति । यथोक्तम्—

अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा ।
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः ॥ इति ॥३॥

बिल्मशब्दो ह्यनन्तरमेव । तत्र निरुक्तं—बिल्मं भिल्मं भासनमिति । व्याख्यातं च—

बिल्मं भिल्ममिति त्वाह बिभर्त्यर्थविवक्षया ।
उपायो हि बिभर्त्यर्थमुपेयं वेदगोचरम् ॥४॥
अथवा भासनं बिल्मं भासतेर्दीप्तिकर्मणः ।
अभ्यासेन हि वेदार्थो भास्यते दीप्यते स्फुटम् ॥५॥

..........यथोक्तम्—

प्रथमाः प्रतिभानेन द्वितीयास्तूपदेशतः ।
अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थान् प्रतिपेदिरे ॥६॥

इस सारे प्रकरण में गोपालिका टीका का कर्त्ता छः श्लोक उद्धृत करता है । ये छः श्लोक निरुक्त वार्तिक के हैं । उसने इनके आरम्भ में स्पष्ट लिख भी दिया है कि ये निरुक्त वार्तिक में हैं । यह सब श्लोक साक्षात्कृतधर्माणः.........निरुक्त १।२०॥ के व्याख्यान में लिखे गए हैं । निरुक्त के इस वचन का जितना स्पष्ट अर्थ यहां दिखाया गया है, उतना दुर्ग और स्कन्द के ग्रन्थों में भी नहीं है । आश्चर्य की बात है कि दयानन्द सरस्वती ने भी इस निरुक्त-वचन का लगभग ऐसा ही अर्थ अपनी ऋग्वेदभाष्य-भूमिका के अन्त में किया है ।

इस लेख को यदि दुर्ग के पूर्वोद्धृत चार प्रमाणों से मिलाया जाए, तो ज्ञात होता है कि दुर्ग भी उस प्राचीन निरुक्त-वार्तिक के प्रमाण दे रहा है । अतः अध्यापक राजवाड़े का मत कि बृहद्देवता ही वार्तिक है, सत्य नहीं । फिर वार्तिक के नाम से उद्धृत किए गए श्लोक बृहद्देवता में क्यों मिलते हैं ?

बृहद्देवता और निरुक्त-वार्तिक के श्लोकों की समानता—हम लिख चुके हैं कि दुर्ग ने वार्तिक के नाम से जो श्लोक दिए हैं, उनमें से दो बृहद्देवता में मिलते हैं । इसका कारण या तो यह हो सकता है कि वार्तिककार ने ये श्लोक बहद्देवता से लिए, या यह हो सकता है कि बहद्देवता ने वार्तिक से ये श्लोक लिए । इनमें से दूसरे श्लोक का बहद्देवता के श्लोक से कुछ पाठान्तर भी है । सम्भव है एक ग्रन्थकार ने दूसरे को देखकर इसे अपने अभिप्राय के अनुकूल लिखा हो । किस ग्रन्थकार ने दूसरे का आश्रय लिया, अथवा दोनों में से कौन पहले और पीछे है, इस का अभी निर्णय नहीं हो सकता । विशेष

सामग्री के अभाव में इस विषय के सब अनुमान निरर्थक होंगे । हां, इतना हम लिख देना चाहते हैं कि बृहद्देवता के पहले और दूसरे अध्याय के कई श्लोक वार्तिक में अधिक उचित प्रतीत होंगे। यथा— २।१००—१०६॥

यत्न किए जाने पर इस ग्रन्थ का मिलना भी असम्भव नहीं है ।

२. बर्बरस्वामी

स्कन्द स्वामी अपनी निरुक्तभाष्य टीका में लिखता है—

तस्य पूर्वटीकाकारैर्बर्बरस्वामिभगवद्दुर्गप्रभृतिभिर्विस्तरेण व्याख्यातस्य...।[1]

अर्थात्—इस निरुक्त भाष्य की व्याख्या पूर्व टीकाकार बर्बरस्वामी और भगवद् दुर्ग आदि बड़े विस्तार से कर चुके हैं ।

स्कन्द के इस वचन के **स्वामी** पद पर पाठान्तर भी है। वह है **व्याख्यास्यामि** या **व्याख्या-स्वामि**। बर्बर का तो व्याख्या पद पाठान्तर हो नहीं सकता । सम्भव है कोई तीसरा नाम और हो, जो बर्बर और दुर्ग के मध्य में हो । अस्तु, इनना सुनिश्चित रूप से पता लगता है कि बर्बरस्वामी ने निरुक्त पर एक बड़ी विस्तृत टीका लिखी थी । क्या यही वार्तिककार तो नहीं था ।

३. दुर्ग — संवत् ६५० विक्रम से पूर्व

अब हम एक ऐसे वृत्तिकार का उल्लेख करेंगे, जिसका ग्रन्थ हमें उपलब्ध है, जो वैदिक विद्वानों में एक ऊंचा स्थान रखता है और जिसका काल भी पर्याप्त पुराना है।

दुर्ग-स्मृत प्राचीन निरुक्तभाष्य टीकाकार—दुर्ग स्वयमेव पहला टीकाकार नहीं है । उससे पहले अनेक टीकाकार हो चुके थे । हम लिख चुके हैं कि वार्तिककार भी उससे पहले हो चुका था । उन्हीं सारे टीकाकारों की सहायता से दुर्ग ने अपनी सुन्दर वृत्ति लिखी । दुर्ग उन्हें **अन्ये, अपरे, एके** और **केचित्** लिखकर स्मरण करता है ।[2] कई स्थानों पर इन शब्दों के साथ **व्याचक्षते**[3] लिखकर वह स्पष्ट दिखाता है कि यह पूर्व टीकाकारों की व्याख्या है ।

दुर्ग के काल में निरुक्त के पाठान्तर—ऋग्वेद १।८६।१॥ के **असन्** पद पर वृत्ति करते हुए दुर्ग लिखता है—

असन् । स्युरित्यर्थः भाष्येऽपि स्युः इत्येष एव पाठः । असन् इत्येष प्रमादपाठः। ४।१६।

अर्थात्—यास्क ने असन् का स्युः अर्थ किया है। यास्क-भाष्य का पाठ असन् नहीं है। यह प्रमाद से लिखा गया है।

१. निरुक्तटीका १।१॥ पृ० ४ ।
२. राजवाड़े का संस्करण, पृ० १३, १६, २७, ६६, १००, १०४, १०५, २४५, २५२, ३१७, ४८१, ४६७ इत्यादि ।
३. पृ० ७१, ४८१ ।

पुनः १।१२।। की व्याख्या में दुर्ग लिखता है—

अथवा संविज्ञानानि तानि । संविज्ञानानि तानि वेत्युभावप्येतौ पाठौ । तस्मादुभयथापि व्याख्यातव्यम् । १।१२।।

अर्थात्—दोनों प्रकार का ही पाठ हो सकता है । यास्क का वास्तविक पाठ कौन सा था, यह दुर्ग को भी ज्ञात नहीं हुआ ।

इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण हैं ।

दुर्गोद्धृत ग्रन्थ वा प्रमाण—दुर्ग ने अपनी वृत्ति में कई ऐसे श्लोक उद्धृत किए हैं, जो ज्ञात ग्रन्थों के नहीं हैं । वे कहां से लिए गए हैं, यह जानने का प्रयास करना चाहिए—

१. **उक्तं च**

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।
धातोस्तवर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ।।[1]

यह श्लोक अनेक वेदभाष्यों में उद्धृत है । क्या यह वार्तिक का श्लोक है ।

२. **तथा चोक्तम्**—

ऋषयो ऽप्युपदेशस्य नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः ।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ।।[2]

यह श्लोक शाबर-भाष्य आदि में भी उद्धृत है ।

३. **अपि चोक्तम्**—

क्रियावाचकमाख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते ।
त्रीनेत्र पुरुषान् विद्यात् कालतस्तु विशिष्यते ।।[3]

यह कहां का प्रमाण है, इसका पता नहीं लग सका ।

४. **तद्यथा**—

प्रेत्यादिकर्मोपदीर्णभृशार्थेषु-इत्यभिधाने ।[4]

यह किस कोश का वचन है, यह जानना चाहिए ।

५. नैगमकाण्ड के पदों की व्याख्या कैसी होनी चाहिए, इस विषय में दुर्ग लिखता है ।

तदुच्यते—

तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि ।
निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमे पदे ।।[5]

---

१. पृ० ७ ।
२. पृ० १२ ।
३. पृ० १४ ।
४. पृ० ३३ ।
५. पृ० २९२ ।

स्कन्द ने भी ४।१।। के आरम्भ में यही श्लोक उद्धृत किया है। वह लिखता है कि यह पूर्वाचार्य प्रदर्शित है।

यह निरुक्तवार्तिक का पाठ प्रतीत होता है।

६. कौत्स के पक्ष के खण्डन के अन्त में निरुक्त १।१६।। की समाप्ति पर दुर्ग लिखता है—

इति प्रभिन्नेषु परस्य हेतुषु स्वपक्षसिद्धावुदिते च कारणे।
अवस्थिता मन्त्रगणस्य सार्थता तदर्थमेतत्खलु शास्त्रमर्थवत् ।।

क्या यह श्लोक दुर्ग का अपना बनाया हुआ है।

इसी प्रकार २।१०।। के अन्त में भी एक श्लोक है।

७. निरुक्त ६।१४।। की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

विकारपक्षेषु तदर्थान्यधातूपादानम्—इत्याचार्यपरिभाषा।

यह परिभाषा यास्क ने कहां लिखी है, यह चिन्तनीय है।

८. शौनक की छन्दोनुक्रमणी[1], उस की दूसरी अनुक्रमणियां[2], और बृहद्देवता, यह ग्रन्थ बहुधा उद्धृत हैं। बृहद्देवता के श्लोक अनेक बार बिना ग्रन्थ नाम निर्देश ही लिखे गए हैं।[3]

९. गौड[4], पुराण[5], रामायण[6], गोभिलगृह्यसूत्र[7] और महाभारतादि[8] भी उद्धृत मिलते हैं।

१०. मीमांसासूत्रों का प्रमाण अनेक बार दिया गया है।

११. ६।३१।। की वृत्ति में न्याय वात्स्यायन भाष्य १।२।६।। में आया हुआ एक श्लोक उद्धृत है।

१२. मनु भी कई स्थलों पर उद्धृत है।

१३. वेद और ब्राह्मणादि अनेक ग्रन्थों के साथ मैत्रायणीय संहिता का बहुधा प्रमाण दिया गया है।[9]

१४. ऋग्वेद की किसी लुप्त शाखा का प्रमाण—११।१६।। की वृत्ति में दुर्ग लिखता है।

ऋभोश्च बहुवचनेन चमासस्य च संस्तवेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति। तद्यथा—
इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त—इति

यह मन्त्र दशतयी अर्थात् ऋग्वेद की किसी शाखा का है। इस समय यह तैत्तिरीय संहिता ३।१९।। में मिलता है।

---

१. पृ० ३६२।
२. पृ० ५२०।
३. पृ० ३०१।
४. पृ० ५१०।
५. पृ० ४४६।
६. पृ० ३५३।
७. पृ० २७४।
८. पृ० २१६।
९. पृ० १६१, २८२, ४४५ इत्यादि।

१५. एक और निगम—अध्यात्मवाद का परम प्रदर्शन एक निगम दुर्ग १२।२९॥ की वृत्ति में पढ़ता है। यास्क के मूल में इस की प्रतीक मात्र हैं—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
स चेत्तमुद्धरेवदङ्ग न मृत्युर्नामृतं भवेत् ॥

इस निगम का पूर्वार्ध अथर्व ११।४।२१॥ है।

वह किस वैदिक ग्रन्थ का प्रमाण है, यह देखना चाहिए।

१६. सांख्य का प्राचीन सूत्र— ७।३॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

सांख्यास्तु प्रधानं तमः शब्देनोपादानमुच्यमानमिच्छन्ति। ते हि पारमर्षं सूत्रमधीयते—तम एव खल्विदमग्र आसीत्। तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमो ऽध्यवर्तत इति।

यही सूत्र माठरवृत्ति के अन्त में भी उद्धृत है। सम्भवतः यह पञ्चशिख का सूत्र है।

दुर्ग का अपने सम्बन्ध में कथन—निरुक्त ४।१४॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—**अहं च कापिष्ठलो वासिष्ठः।**

अर्थात्—मैं कापिष्ठल वासिष्ठ हूं। वह अपनी योग्यता के सम्बन्ध में बड़े नम्र शब्दों में कहता है—

ईदृशेषु शब्दार्थन्यायसंकटेषु मन्त्रार्थघटनेषु दुरवबोधेषु मतिमतां मतयो न प्रतिहन्यन्ते। वयं त्वेतावदत्रावबुद्ध्यामह इति। ७।३१॥

अर्थात्—ऐसे कठिन मन्त्रों के व्याख्यान में विद्वानों की बुद्धियां नहीं रुकतीं। हम तो यहां इतना ही जानते हैं।

जब उसे निरुक्त के किसी पाठ पर सन्देह होता है तो वह बड़ा सावधान होता है—

एवमेतद्भाष्यं दुर्योज्यं यद्येष भाष्यस्य सम्यक्पाठः। अथ पुनरसम्यक्पाठस्ततःसम्यक्पाठोऽन्वेष्टव्यः। अहं तु लक्षये। यथैष मया मन्त्रो व्याख्यातः स एव सम्यक्पाठः स्यात्। ५।१७॥

अर्थात्—यदि निरुक्त का यही ठीक पाठ है, तो इसका अर्थ नहीं जुड़ता। और यदि पाठ ठीक नही तो ठीक पाठ खोजना चाहिए। मैं विचार करता हूं कि जैसा मैंने मन्त्र-व्याख्यान किया है, वही सम्यक्पाठ है।

इससे ज्ञात होता है कि निरुक्तार्थ करने में वह अपनी स्वतन्त्रता भी वर्तता है।

दुर्ग और वेदार्थ का ऐतिहासिक पक्ष—दुर्ग वेद में इतिहास तो मानता है, परन्तु उसका इतिहास नित्य इतिहास है। वह लिखता है—

एतस्मिन्नर्थे इतिहासमाचक्षते आत्मविद इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण यः कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थं आख्यायते दिदृक्षु दितार्थावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो नित्यमविवक्षितस्वार्थस्तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात्। १०।२६॥

अर्थात्—इस विश्वकर्मा भौवन के विषय में आत्मज्ञानी परकृत्यर्थवादरूप से इतिहास कहते हैं। जिस किसी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थ की, उसका अर्थ अधिक प्रकाश करने के लिए कथा घड़ी जाती है, वही इतिहास कहाता है। वह इतिहास सब प्रकार से नित्य और मन्त्रार्थ में अविवक्षितस्वार्थ होता है। वह इतिहास मन्त्र का अर्थ ग्रहण करने वालों के लिए उपदेश मात्र होता है।

पुनः निरुक्त २।१६॥ पर दुर्ग की वृत्ति है—

एवमेतस्मिन्मन्त्रे मायामात्रत्वमेव युद्धमिति श्रूयते। विज्ञायते च—तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरमिति [शत० ११।१।६।९॥]

अर्थात्—इन्द्र वृत्र के जो युद्ध मन्त्रों में वर्णित हैं, वह कोई मनुष्यों का वास्तविक युद्ध नहीं है। वह तो मध्यमस्थानी देवताओं का मायामात्र युद्ध है।

काल—हम पहले पृ० ९—१४ तक यह विस्तार पूर्वक लिख चुके हैं, कि उद्‌गीथादि भाष्यकार दुर्ग को जानते थे। उद्‌गीथ का काल संवत ६८७ के समीप है, अतः दुर्ग संवत् ६०० के समीप वा इस से पहले हुआ होगा।

निवास—दुर्ग कहां का रहने वाला था, इस विषय में डा० स्वरूप ने लिखा है—

That he wrote his commentary in a hermitage near Jammu is proved by the colophon on f. 132 v. at the end of the eleventh chapter of Nirukta, which runs as follows:

ऋग्वार्थायां निरुक्तवृत्तौ जम्बूमार्गाश्रमनिवासिन आचार्यभगवद्दुर्गसिंहस्य कृतौ षोडशस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।

This shows that the full name of the commentator was Durgasimha. The fact that he lived in a hermitage and was addressed as bhagavat indicates that he was an ascetic and belonged to some particular order of Samnyasa.

अर्थात्—जम्बू के समीप किसी आश्रम में वास करते हुए उसने निरुक्त वृत्ति लिखी। ग्यारहवें अध्याय के अन्त में यह लिखा मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि उसका पूर्ण नाम दुर्गसिंह था। वह भगवान् शब्द से सम्बोधित होता था और आश्रमवासी था। इस से ज्ञात होता है कि वह किसी श्रेणी विशेष का संन्यासी था।

हमारा भी यही विचार है कि दुर्ग संन्यासी था। स्कन्द-महेश्वर की निरुक्त भाष्य-टीका में भी उसे भगवद् दुर्ग लिखा गया है। परन्तु एक सन्देह इस विषय में है। दुर्ग ने अपना गोत्र स्वयं बताया है। संन्यासी लोग यज्ञोपवीत, शिखा, गोत्रादि रहित हो जाते हैं। पुनः दुर्ग ने अपना गोत्र क्यों बताया।

दुर्ग किस जम्बू के मार्गस्थ आश्रम का रहने वाला था? डा० स्वरूप का विचार है कि वह

१. निरुक्त, भूमिका, पृ० २९।

आधुनिक पंजाब के पास रियासत कश्मीर के समीप का रहने वाला था। हमारा विचार है कि दुर्ग गुजरात का रहने वाला था। अब भी बड़ोदा के समीप जम्बूसर एक स्थान है। दुर्ग उसी के समीप का रहने वाला था। दुर्ग मैत्रायणी संहिता को अत्यधिक उद्धृत करता है। यह संहिता गुजरात के ही स्थानों में प्रसिद्ध थी, अतः दुर्ग वहीं का निवासी था। परन्तु यह सब अभी तक अनुमान मात्र है। हम निश्चय से कुछ नहीं कह सकते।

दुर्गवृत्ति के प्राचीन हस्तलेख—डा० स्वरूप अपने निरुक्त की भूमिका में लिखते हैं—

A manuscript of his commentary in the Bodelian Library is dated 1387 A. D...........The manuscript was copied at Bhrigukshetra in the reign of Maharana-Duragasimhavijaya.

अर्थात्—आक्सफोर्ड के बोडेलियन पुस्तकालय में दुर्गवृत्ति का एक कोश है। वह संवत् १४४४ का लिखा हुआ है और महाराणा दुर्गसिंहविजय के राज्य में भृगुक्षेत्र में लिखा गया था।

डा० स्वरूप के सम्पादन काल तक दुर्गवृत्ति का सबसे पुराना ज्ञात हस्तलेख यही था। इसी संवत् का एक कोश हमारे पुस्तकालय में भी है।[1] इस में पूर्वार्ध की वृत्ति है। उस के अन्त में लिखा है—

मंत्रदृक् ।स्तोति ।स्तोति ।। एकादशोऽध्यायः ।। ब ।। यावं ।ता मंत्राः सर्वशाखा.........नि गुणपदानि लक्षणो ।दृशतस्तानि सर्वाण्यव व्याख्यातानि ।। ब ।। संवत् १४४४ वर्ष श्रा श्रु ९ सो ।म पूर्वा.........

बिन्दु वाले स्थान त्रुटित हो गए हैं। पृष्ठ मात्राएं सुप्रयुक्त हैं।

दुर्ग वृत्ति के भावी सम्पादकों को ये दोनों कोश अवश्य प्रयोग में लाने चाहिएं।

दुर्गवृत्ति के अद्यावधि मुद्रित संस्करण—१. सब से पहला संस्करण सत्यव्रत सामश्रमी का है। सन् १८८५ से इसका मुद्रण आरम्भ हुआ और सन् १८९१ में समाप्त हुआ।

२. दूसरा जीवानन्द विद्यासागर ने एक संस्करण निकाला।

३. तीसरा संस्करण हमारे परमसुहृद् परलोकगत महामहोपाध्याय शिवदत्त जी का था। इस का मुद्रण काल संवत् १९६९ है।

४. चौथा संस्करण पूना से प्रकाशित हुआ था। इस के सम्पादक हैं महादेव सूनु हरि भडकम्कर।

५. पांचवां संस्करण अध्यापक वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े का है। इस का पूर्वार्ध सन् १९२१ और उत्तरार्ध सन् १९२६ में छपा था।

इन में से पहले दोनों संस्करणों के विषय में अध्यापक राजवाड़े ने अपने संस्करण की भूमिका में जो लिखा है, वह पढ़ने योग्य है—

१. संख्या ६३४७।

एते नैव विश्वसनीये प्रमादप्राचुर्याद्यत्रतत्रानवधानतादोषाच्च। अनवधानतादोषा असंख्याताः कदा कदोपहास्याश्च॥ तेषामुदाहरणानि।......

एतादृशा दोषा शतश उपलभ्यन्ते। ते न केवलमनवधानतामूलाः। अज्ञानमपि यत्र तत्राविष्क्रियते। कदा कदा पङ्क्तयोऽपि गलिता दृश्यन्ते। यथा....एतादृशि गलितोदाहरणान्यान्यपि सन्ति।

कदा कदा मूलवृत्तावविद्यमाना अपि शब्दा वृत्तावन्तर्भाव्यन्ते। यथा......हस्तलिखितं न किञ्चनापि निरुक्तवृत्तिपुस्तकमेवं दोषरुग्णं भवेत्। अहो व्यर्थः प्रयासः सत्यव्रतजीवानन्दभट्टाचार्याणाम्।

अर्थात्—सत्यव्रत और जीवानन्द के संस्करण दोषों से भरे पड़े हैं। वे दोष ऐसे हैं कि किसी हस्तलिखित पुस्तक में भी न होंगे। अहो, इन दोनों का प्रयास व्यर्थ ही था।

अध्यापक राजवाड़े के ये वचन मैंने महामहोपाध्याय शिवदत्त को भी सुनाए थे। उन्होंने सरल हृदय से उसी समय कहा था कि 'दुर्गवृत्ति के मेरे संस्करण का आधार सत्यव्रत का संस्करण ही था। अतः निस्सन्देह ये सब दोष मेरे संस्करण में भी होंगे।'

महादेव हरि भडकम्कर का संस्करण पर्याप्त अच्छा है। परन्तु दुर्गवृत्ति की दृष्टि से राजवाड़े का संस्करण अभी तक सर्वोत्तम है। राजवाड़े की टिप्पणी बहुत उपादेय है। फिर भी दुर्गवृत्ति पर अभी बहुत यत्न होना चाहिए।

४. स्कन्द महेश्वर—संवत् ६८७ के समीप

निरुक्त पर स्कन्द की टीका इस समय भी मिल सकती है। इसकी सबसे पहली सूचना सन् १९२६ में पं० रामप्रपन्न शास्त्री ने मुझे दी थी। उन्होंने रियासत जम्बू में यह टीका किसी से हस्तगत की थी। वे उन दिनों निरुक्त की वृत्ति लिख रहे थे। उस वृत्ति में उन्होंने स्कन्द के कई प्रमाण दिए हैं। तदन्तर सन् १९२१ में मैंने बड़ोदा से स्कन्द टीका का प्रथमाध्याय मंगाकर पढ़ा था। उस पर मैंने अपनी लेखनी से एक टिप्पण भी किया था। पुनः सन् १९२४ के अन्त में मद्रास की ओरिएण्टल कान्फ्रेंस के समय मैंने स्कन्दटीका का एक सम्पूर्ण कोश वहां के राजकीय भण्डार में देखा था। मैं स्वयं भी इस टीका के हस्तलेख प्राप्त करने का यत्न कर रहा था। तभी मेरे मित्र श्री राम अनन्तकृष्ण शास्त्री ने एक सम्पूर्ण कोश मुझें भेज दिया था। सन् १९२१ में उन्होंने मुझे कहा था कि जहां से बड़ोदा का कोश प्राप्त किया गया था, वहां इस टीका के अगले अध्याय भी विद्यमान हैं। तदनन्तर वे अध्याय उन्होंने शान्तिनिकेतन में भेज दिए थे।

इसके पश्चात् सन् १९२८ में डा० स्वरूप ने निरुक्त पर स्कन्द-टीका का प्रथमाध्याय प्रकाशित किया। उन्होंने और भी हस्तलेख सामग्री प्राप्त कर ली थी। सन् १९३१ के तृतीय पाद तक डा० स्वरूप का सम्पूणं पूर्वार्ध मुद्रित हो चुका है। उत्तरार्ध के प्रकाशित होने में भी कोई देरी नहीं है।

डा० स्वरूप का संस्करण—डा० स्वरूप का संस्करण बड़े भारी परिश्रम का फल है। हस्तलेखों की अस्त-व्यस्त दशा को ध्यान में रखकर मैं समझता हूं कि आरम्भ में इससे अच्छा काम नहीं हो

१. अध्यापक राजवाड़े सम्पादित दुर्गवृत्ति की भूमिका, पृ० २-५

सकता था। अब इसके अधिक अच्छा बनाने के लिए यत्न किया जा सकता है। इसमें जो थोड़ी सी अशुद्धियां रह गई हैं वे अब दूर हो सकती हैं। अनेक प्रमाणों के मूलस्थान जो अनुपलब्ध थे, अब लिखे जा सकते हैं। यथा—

१. **हवींषि दत्तवतो यजमानस्यार्थापय इति श्रुतेः। स इत्यध्याहार्यम्।**[1]

इसका शुद्धपाठ यह है—**हवींषि दत्तवतो यजमानस्यार्थाय। य इति श्रुतेः स इत्याध्याहार्यः।**

२. **रोगादीनां होता......०सम्पादनेन विप्रकारी।**[2]

स्कन्द ऋग्भाष्य १।१८।२॥ की तुलना से इसका शुद्ध पाठ निम्नलिखित है—**रोगादीनां हन्ता ......सम्पादनेन तुरः क्षिप्रकारी।**

३. **तत् श्रुतेर्यच्छन्दः।**[3] इसके आगे **अध्याहार्यः** चाहिए।

४. **ताः शतसंख्याका येषां ताति.... ..।**[4]

इसके स्थान में चाहिए—**ताः शतसंख्याका येषां तानि......।**

५. **तमू अकूवेन त्रेधा हु भुवे कम् ऋबीसे अतिम् इति च मन्त्रलिङ्गम्।**[5]

ये वस्तुतः दो मन्त्रों की प्रतीकें हैं—

तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्। [ऋ० १०।८८।१०॥] **ऋबीसे अत्रिम्** [ऋ० १।११६।८॥]

६. **कोकूयमान एतं तुदतीति वेति।**[6]

कोकुवा शब्द पर दुर्ग और देवराज के व्याख्यान की तुलना से इसका पाठ ऐसा होना चाहिए

कोकूयमान एतं नुदतीति वेति।

७. **तथा च शास्त्रान्तरे वक्ष्यति 'प्रकरणश एव मन्त्रा निर्वक्तव्याः' इति।**[7]

इसके टिप्पण में लिखा है—[अनुपलब्धमूलमिदम्]

यह निरुक्त १५।१२॥ का वचन है, अतः इस का पाठ निम्नलिखित चाहिए।

तथा च शास्त्रान्ते वक्ष्यति—प्रकरणश......

इसी प्रकार के और भी अनेक पाठ हैं, जो अब अनायास ही शुद्ध हो सकते हैं। अस्तु, हम डा० स्वरूप को बधाई देते हैं, कि उन्होंने यह ग्रन्थ सुलभ कर दिया है। इस ग्रन्थ के भावी सम्पादकों

---

१. भाग प्रथम, पृ० ४६।
२. भाग द्वितीय, पृ० १६१।
३. भाग द्वितीय, पृ० १६१।
४- भाग द्वितीय, पृ० २०१।
५. भाग द्वितीय, पृ० २६२।
६. भाग द्वितीय, पृ० ३८०।
७. भाग द्वितीय, पृ० ४६७।

को स्कन्द-ऋग्भाष्य, उद्गीथभाष्य, देवराजकृत निघण्टु-निर्वचन आदि ग्रन्थों की पूरी सहायता लेनी चाहिए।

स्कन्द-महेश्वर की निरुक्त-भाष्य-टीका

१. इस टीका में अन्ये, अपरे, एके और केचित् आदि कहकर अनेक प्राचीन व्याख्याकारों के वचन उद्धृत किए गए हैं।

२. **तत्वा यामि** २।१।। यह मन्त्रांश नहीं, प्रत्युत लौकिक वचन है, ऐसा स्कन्द का मत है। जो इसे मन्त्रांश मानते हैं, उन के विषय में लिखा है—**एतदपव्याख्यानम्**।

३. वैयाकरण आपिशलि का एक स्वतन्त्र धातुपाठ था, यह स्कन्द के निम्नलिखित वचन से जाना जाता है—

उषि-जिघर्त्तो छान्दसौ धातू। व्याकरणस्य शाखान्तरे आपिशलादौ स्मरणात्।[1]

आपिशलि को निरुक्त-टीका १।२।। में भी स्मरण किया गया है। पुनः २।३।। की टीका में लिखा है—**अयं च व्याकरणस्य शाखान्तरे क्वचिदन्वाख्यातः**।

अर्थात्—व्याकरण की शाखान्तर में है।

४. मनु बहुत उद्धृत है।[2]

५. पृ० ५२ और २५१ पर चरकों के मन्त्र और पृ० ३०४ पर चरक ब्राह्मण का एक लम्बा पाठ मिलता है।[3] चरक ब्राह्मण का यही पाठ सायण के ऋग्वेद भाष्य ८।६६।१०।। में भी मिलता है। प्रतीत होता है कि यह पाठ स्कन्द के ऋग्भाष्य में भी उद्धृत था। वहीं से सायण ने यह पाठ लिया है।

६. पृ० ७१ पर शाकपूणि विषयक निरुक्त-वचन को पुराकल्प कहा गया है।

७. पृ० ७१ पर देवापि और शन्तनु को भीमसेनपुत्रौ लिखा गया है। जो ब्राह्मण देवापि के पास गए थे, उन्हें **मौद्गल्यप्रमुखा ब्राह्मणाः** लिखा है। इस से आगे पृ० ७३ पर ऋष्टिषेण च्यवन है, ऐसा लिखा है।

८. स्कन्द के एक लेख से प्रतीत होता है कि किसी पदकार का भी कोई ग्रन्थ था—

अभ्युपगम्यैतत्सामर्थ्यं पदकार आह उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मकाः। यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः। यत्र तु न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियामाहुरिति, इति।

किस पदकार के किस ग्रन्थ का यह वचन है, यह खोजना चाहिए। पृ० ८१ पर शाकल्य, गार्ग्य और आत्रेय आदि पदकारों का वर्णन है।[4]

९. भाग १ पृ० ४९ और भाग २ पृ० १४९ पर शाकपूणि के निघण्ट के प्रमाण मिलते हैं।

---

१. भाग द्वितीय, पृ० २२।
२. वही, पृ० ३६, १२८, ३५२ इत्यादि।
३. वही।
४. वही।

इन का उल्लेख हम पूर्व पृ० १७२ पर कर चुके हैं।

१०. स्कन्द की टीका में निरुक्त के अनेक पाठान्तर दिए गए हैं। देखें भाग दो के पृ० १५०, १६९, १८० और ३४७ इत्यादि। कई पाठों के सम्बन्ध में लिखा है कि ये अपपाठ हैं।[1] इस से प्रतीत होता है कि उस के काल तक कई प्राचीन कोशों और टीकाओं में निरुक्त का पाठ बदल गया था।

११. देवताकार[2], चूर्णिकार[3], गीता[4], और कई अनुक्रमणी[5] भी उद्धृत हैं। अनुक्रमणी का पाठ देखने योग्य है—

यज्ञे देवस्य वितते महतो वरुणस्य हि।
ब्रह्मणोऽप्सरसं दृष्ट्वा रेतश्चस्कन्द कर्हिचित् ॥
तत्परीक्ष्य सवर्णो न स जुहाव विभावसौ।
ततोऽर्चिषोऽभूद् भगवान् भृगुरङ्गारतोऽङ्गिराः॥
अत्रैवान्वेषणादत्रिः खननाद्विखनो मुनिः।
इत्थं प्रजापतेर्जाताः पुराणा ऋषिसत्तमाः॥

यह पाठ बृहद्देवता ५।९९, १०१, १४९॥ से कुछ कुछ मिलता है। सम्भव है प्राचीन आर्षानुक्रमणी का पाठ हो।

१२. स्कन्द उन मीमांसकों का भी वर्णन करता है, जो यज्ञ को सब कुछ मानते थे, और जिन्होंने इसी अभिप्राय से उपनिषदों की निन्दा की है—

कैश्चित्तु मीमांसकैः वेदोषरमुपनिषत् न वाग्व्यवहारातीतं ब्रह्म इतिशून्यवाचोयुक्तिरिति वदद्भिः अपहसितम्। ३।१३॥[6]

अर्थात्—कई मीमांसक लोग मानते हैं कि वेद का बंजर भाग उपनिषत् है। वाणी आदि के व्यवहार से अतीत ब्रह्म उसका विषय नहीं है, इत्यादि।

ये मीमांसक मीमांसा ग्रन्थों में कई स्थानों पर उल्लिखित हैं।

१३. स्कन्द निरुक्त ३।१९॥ की टीका में **इनः** आदि शब्दों का अर्थ परमात्मा और आदित्य दोनों ही मानता है।[7]

---

१. वही पृ० १८३, २७७।
२. वही पृ० ३८, ३९।
३. वही पृ० १७७।
४. वही पृ० १६९।
५. वही पृ० १७९।
६. वही पृ० १६०।
७. वही पृ० १५३।

भर्तृहरि और स्कन्द—निरुक्त १।२॥ की टीका में स्कन्द लिखता है—

आह च—पूर्वामवस्थामजहत् संस्पृशन् धर्ममुत्तमम् ।
संमूर्छित इवार्थात्मा जायमानोऽभिधीयते ॥ इति ।[1]

पुन: निरुक्त ५।१६॥ की टीका में लिखा है—

तथा चोक्तम्-साहचर्यं विरोधिना इति ।[2]

इनमें से प्रथम प्रमाण भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय के तीसरे या प्रकीर्ण काण्ड में मिलता है और दूसरा दूसरे काण्ड का ३१७ श्लोक का द्वितीय पाद है।[3] दूसरे प्रमाण का पाठ **साहचर्यं विरोधिता** चाहिए।

अब विचारने का स्थान है कि चीनी यात्री इत्सिङ्ग के अनुसार भर्तृहरि का देहान्त सन् ६५१-५२ में हुआ था। सन् ६३८ में हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण पर भाष्य किया, यह पूर्व पृ॰ २२ पर लिखा जा चुका है। क्या यह सम्भव है कि भर्तृहरि ने अपना ग्रन्थ वाक्यपदीय सन् ६२० तक लिख लिया हो, अथवा स्कन्द-महेश्वर का ग्रन्थ इतना प्राचीन हो जितना हम इसे समझते हैं।

ये प्रश्न बड़े जटिल हैं। परन्तु एक बात सुनिश्चित है। डा० मङ्गलदेव शास्त्री ने यह बात बताई है कि हरिस्वामी शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के भाष्य में भर्तृहरि के वाक्यपदीय के प्रमाण देता है। अत: उसके समीपवर्ती स्कन्द-महेश्वर भी वाक्यपदीय से प्रमाण दे सकते हैं। भर्तृहरि का काल लिखने में इत्सिङ्ग ने भूल की है। इस बात की ओर हम पहले भी पृ० २०१ के टिप्पण में संकेत कर चुके हैं।

भामह का प्रमाण—निरुक्त १०।१६॥ की टीका में लिखा है—

आह च— तुल्यश्रुतीनां......अभिधेयैः परस्परम् ।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निरुच्यते ॥

यह श्लोक भामह का है, और इसका पूर्ण पाठ निम्नलिखित है—

तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते ॥ २।१७॥

अनेक नवीन अलङ्कार-ग्रन्थों का यमक-लक्षण न लिखकर स्कन्द ने भामह का प्रमाण दिया है। इसके दो ही कारण हो सकते हैं, या तो स्कन्द प्राचीन ग्रन्थों का प्रेमी था, या वह स्वयं प्राचीन था। नवीन ग्रन्थों का प्रमाण वह कैसे देता। यही दूसरा पक्ष सब प्रकार से सत्य प्रतीत होता है।

स्कन्द और वेदों में इतिहास—हम पहले पृ० १९९ पर लिख चुके हैं कि स्कन्द-महेश्वर का मत है कि 'नैरुक्त, ऐतिहासिक आदि सब दर्शनों में सब मन्त्रों का व्याख्यान करना चाहिए।' तो क्या

---

१. भाग प्रथम, पृ० २८।
२. भाग द्वितीय, पृ० ३५९।
३. वाक्यपदीय का प्रथम श्लोक तीसरे काण्ड के साधन समुद्देश के कर्त्रधिकार का ११९ श्लोक है।

स्कन्द वेदों में मानव-अनित्य-इतिहास मानता है ? नहीं, उसका विचार निम्नोद्धृत पंक्तियों के देखने से स्पष्ट हो जायेगा—

एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः।......औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्।[1]

अर्थात्— आख्यानरूप मन्त्रों की यजमान अथवा नित्य पदार्थों में योजना करनी चाहिए। यह निरुक्त-शास्त्र का सिद्धान्त है। मन्त्रों में इतिहास का सिद्धान्त उपचार मात्र से है। वस्तुतः नित्य पक्ष से ही अर्थ होना चाहिए। यही सत्य है।

पुनः २।१३।। की टीका में लिखा है—

सर्वे इतिहासाश्चार्थवादमूलभूताः। ते चान्यपरा विधिप्रतिषेधशेषभूताः। अतस्ताननावृत्य स्वयमविरुद्धं नित्यदर्शनमुपोद्बलयन्नाह—मेघ इति नैरुक्ताः।

अर्थात्—सब इतिहासों का मूल अर्थवाद है। इसीलिए यास्क कहता है—मेघ=बादल ही वृत्र है, ऐसा निरुक्त मानते हैं।

इसीलिए स्कन्द ने नित्य पक्ष में भी मन्त्रों का अर्थ दिखाया है।[2]

उद्गीथ के अर्थ में आपत्ति—हम पहले पृ० ३४, ३५ पर लिख चुके हैं, कि निरुक्त-भाष्य-टीका में स्कन्द के ऋग्वेद भाष्य से बड़ी सहायता ली गयी है। प्रायः सारे ही ऋग्वेदीय मन्त्रों का व्याख्यान ऋग्वेद-भाष्य से लिया गया है। इसी प्रकार निरुक्त ३।१०।। की टीका में ऋ० १०।४८।७।। मन्त्र दिया गया है। स्कन्द महेश्वर ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए पहले लगभग उद्गीथ भाष्य की नकल की है।

इससे आगे टीका में लिखा है—

एवं तु व्याख्यायमाने घोटारूढस्य विस्मृतो घोट इत्येतदापद्यते।......पूर्वमुत्तरेण न संगच्छते। अतोऽन्यथा व्याख्यायते। ... तस्मादुपक्रमोपसंहारगतेरुपपन्नमेतद् व्याख्यानम्।

पूर्वत्रापि व्याख्याने ग्रन्थमित्थं नयन्ति। ....तदेतद् यदि संगच्छते तथाऽस्तु।

अर्थात्—यदि यह व्याख्यान माना जाये, तो पूर्वोत्तर की संगति नहीं लगती। अतः दूसरे प्रकार से इसका व्याख्यान किया जाता है।......

पूर्व व्याख्यान में भी यह संगति जोड़ी जाती है।...तो यदि यह संगति लग जाये तो वैसे ही हो।

इस सारे लेख से यह पता लगता है कि स्कन्द-महेश्वर को उद्गीथ का व्याख्यान अभिमत नहीं था। दुर्ग का व्याख्यान भी भाव में उद्गीथ-व्याख्यान के समान ही है। अतः स्कन्द-महेश्वर को वह

१. भाग द्वितीय, पृ० ७८।
२. वही, पृ० ७७, ११५, ११८, १३६, १८०, २९४, ३४५, ४६३ इत्यादि।

भी युक्त प्रतीत न होगा। परन्तु उद्गीथ स्कन्द का सहकारी था, अतः स्कन्द-महेश्वर उस का बहुत खण्डन न करके इतना ही लिखता है कि यदि इस व्याख्यान की संगति लग सकती है, तो वैसे ही हो। ये अन्तिम शब्द ध्यान से विचारने योग्य हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि पूर्वोक्त प्रकरण निरुक्त के तीसरे अध्याय में है। उस अध्याय की टीका स्पष्ट ही महेश्वर की रची हुई है।

निरुक्त-भाष्य-टीका में अभिधानकोश—गिर्वण शब्द के व्याख्यान में लिखा है—

तथाभिधानकोशकारः पठति—गीर्वाणाः स्युर्दिवौकसः। इति॥

वामन काव्यालङ्कार सूत्र के आरम्भ में अभिधान कोश का नाम लेता है। उसके लेख से प्रतीत होता है कि अभिधान कोश सब कोशों का सामान्य नाम था। मेधातिथि भी एक अभिधान कोश उद्धृत करता है। अभिधान कोश बालक्रीड़ा टीका में उद्धृत है।[1] इस अभिधानकोश की खोज करनी चाहिए।

निरुक्त-भाष्य-टीका कब रची गयी, महेश्वर का स्कन्द के साथ क्या सम्बन्ध है, दुर्ग स्कन्द महेश्वर से पहले हो चुका था, इत्यादि सब विषयों पर पूर्व पृ० २५-३६ तक विस्तृत लिखा जा चुका है। वह वहीं देखना चाहिए।

५. श्रीनिवास—संवत् १३०० से पूर्व

देवराज यज्वा अपने निघण्टु-निर्वचन की भूमिका में लिखता है कि श्रीनिवास ने किसी वेद पर भाष्य किया था। उसके वेद भाष्य के सम्बन्ध में हम अभी तक कुछ नहीं जान सके। परन्तु उसने निरुक्त पर भी भाष्य किया था। यह बहुत सम्भव है।

निरुक्त २।७॥ में एक निर्वचन है—**शृङ्ग श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा।**

इसके सम्बन्ध में देवराज लिखता है—**शृङ्गं श्रयतेः। इत्यत्र स्नातेर्वा इति निर्वचनस्य पाठः श्रीनिवासीय व्याख्याने दृष्टः।**[2]

वेदभाष्य में भी श्रीनिवास यह पाठ उद्धृत कर सकता है, परन्तु देवराज का लेख देख कर यही अनुमान होता कि श्रीनिवास ने निरुक्त का व्याख्यान भी किया होगा।

निघण्टु २।३।१॥ पर देवराज ने पुनः लिखा है—**अत्र श्रीनिवास.........।**

इससे पूर्व देवराज स्कन्द-निरुक्त-टीका से एक उद्धरण देता है। इससे भी पता लगता है कि श्रीनिवास का व्याख्यान भी निरुक्त पर ही होगा। इस व्याख्यान की भी खोज होनी चाहिए।

६. नील कण्ठ गार्ग्य

इसने निरुक्त के उपर एक श्लोकात्मक अत्यन्त प्रौढ़ व्याख्या लिखी थी, इसका नाम निरुक्त श्लोकवार्तिक है।[3]

---

१. पृ० ३९, दूसरा भाग।
२. निघण्टु-निर्वचन १।१७।११॥
३. पृ० ८-११, वाररुच निरुक्त समुच्चयः, सम्पादकीय, युधिष्ठिर मीमांसक।

७. नागेशोद्धृत निरुक्त-भाष्य

नागेशभट्ट अपनी वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा के स्फोटभेदनिरूपण प्रकरण में लिखता है—

निरुक्तभाष्येऽपि उक्तरीत्या पदसत्ताऽभावाशङ्कोत्तरभूतं—व्याप्तिमत्त्वात् शब्दस्य इति प्रतीकमुपादायोक्तम्—

अभिधानाभिधेयरूपा बुद्धिर्हृदयाकाशप्रतिष्ठिता परबोधनेच्छया पुरुषेणोदीर्यमाणा कण्ठादिषु वर्णभावमापद्य बाह्याकाशस्थं शब्दं स्वस्वरूपं कृत्वा श्रोत्रद्वारेण तत्र स्थितां श्रोतुर्बुद्धिमनुप्रविश्य सर्वार्थसर्वाभिधानरूपां तत्तद्बुद्धिं व्याप्नोति । पुरुषप्रयत्नजा वक्त्रोद्घाताः परं नश्यन्ति न शब्दः । स च तदनुरक्तोऽर्थप्रत्ययं जनयति इति तत्रत्यपदत्वादिकं वक्त्रोद्घातेष्वारोपयन्ति तद्गतनाशादि च तस्मिन् । बुद्ध्यवस्थस्यैव चार्थस्य प्रत्ययमादधाति शब्दः । तेनैव तस्य संबन्धात् । इति ।[1]

यह पाठ न दुर्गवृत्ति १।२।। में मिलता है और न स्कन्द की निरुक्त-भाष्य-टीका में । दुर्गवृत्ति में इसका कुछ भाव मिलता है और कुछ शब्दों की भी समानता है । इससे प्रतीत होता है कि दोनों का कुछ सम्बन्ध अवश्य है ।

८. वाररुच निरुक्त-समुच्चय—लगभग विक्रमीय सप्तम शती

वाररुच निरुक्त-समुच्चय एक बड़ा रुचिकर ग्रन्थ है ।[2] यह निरुक्त की व्याख्या तो नहीं परन्तु नैरुक्त-सिद्धान्तानुसार कोई १०० मन्त्रों का व्याख्यान है । इसके उपलब्ध करने का श्रेय डा० कूहनन् राज को है । इसका आरम्भ निम्नलिखित प्रकार से है—

अग्निं वायुं तथा सूर्यं लोकानामीश्वरानहम् ।
नमामि नित्यं देवशान्नैरुक्तसमये स्थितः ।।

अथेदानीमल्पप्रज्ञाववोधनार्थं मन्त्रविवरणम् । निरुक्तमन्तरेण न सम्भवति । यत आह—

अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यत इति ।
नानिरुक्तार्थवित् कश्चिन्मन्त्रं निर्वक्तुमर्हतिः ।
इति च वृद्धानुशासनम् ।

निरुक्तप्रक्रियानुरोधेनैव मन्त्रा निर्वक्तव्याः । मन्त्रार्थज्ञानस्य च शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्—

योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा इति ।
शास्त्रान्ते च—
यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवतीति च ।
वेदपदार्थ[3] विवरणे च बाहुश्रुत्यन्वेष्टव्यम् ।

---

१. पृ० ३९४,३९५, चौखम्बा संस्करण ।
२. यह ग्रन्थ युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा प्रकाशित हो चुका है ।
३. महाभाष्य में लिखा है—अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः । ऐसा प्रयोग उत्तर काल में नहीं है ।

अर्थात्—अब मन्दबुद्धि वालों के समझाने के लिए मन्त्रों का विवरण करते हैं। विवरण निरुक्त के बिना नहीं हो सकता और न ही निरुक्त के बिना मन्त्रों का अर्थ ज्ञान हो सकता है। इसीलिये वृद्धानुशासन है कि निरुक्त न जानने वाला मन्त्र का निर्वचन नहीं कर सकता। निरुक्त की प्रक्रिया के अनुसार ही मन्त्रों का निर्वचन करना चाहिये।

इस लम्बे उद्धरण से कई बातें पता लगती हैं। नानिरुक्त यह वृद्धानुशासन निरुक्त-वार्तिक का श्लोकार्ध प्रतीत होता है। यह निरुक्त की उस पंक्ति का भाव है, जो वररुचि ने इससे पहले लिखी है। आगे वररुचि निरुक्त १३।१२॥ की पंक्ति उद्धृत करता है। इससे ज्ञात होता है कि वररुचि के काल में यह अध्याय निरुक्त का अंग था।

इस ग्रन्थ में कुल चार कल्प हैं। प्रथम का आरम्भ पूर्व लिखा जा चुका है। अब दूसरे का आरम्भ लिखा जाता है—

पूर्वस्मिन् कल्पे प्रकीर्णकरूपेण निर्वचनक्रमः प्रदर्शनीयः।

इदानीं-ज्ञात्वा चानुष्ठानमित्युक्तत्वात् नित्यकर्मविहितान् ? मन्त्रान् ? व्याख्यायन्ते—

मित्रस्य चर्षणीधृतः श्रवो देवस्य सानसिम्। सत्यं चित्रश्रवस्तमम् ॥३०॥

विश्वामित्रस्यार्षम्। मित्रो मध्यमस्थानदेवतासु पठितत्वान्मध्यमस्थानत्वेन निरुक्तः। द्युस्थानैरपि मित्रोऽस्ति स इह निरुच्यते। प्रथमं तावदयं यजुश्शाखानुरोधेन व्याख्यायते।

अर्थात्—पहले कल्प में प्रकीर्ण रूप से निर्वचन-क्रम दिखाया। अब नित्य कर्म के मन्त्रों की व्याख्या की जाती है। **मित्रस्य** यह मन्त्र पहले याजुष शाखा के अनुरोध से व्याख्यान किया जाता है।

तीसरे कल्प के आरम्भ लिखा है—

यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्-इति श्रुतेः। अतः परं दर्शपूर्णमास-याज्यानुवाक्या-आज्यभागप्रभृतिस्विष्टकृत्पर्यन्ता व्याख्यायन्ते।

अर्थात्—दर्शपूर्णमास, याज्यानुवाक्या, और आज्यभाग से लेकर स्विष्टकृत् पर्यन्त मन्त्रों का व्याख्यान किया जाता है।

चतुर्थ कल्प के आरम्भ में लिखा है—

एकत्रिंशद्विधं मन्त्रं यो वेत्त्यृक्षु स मन्त्रवित्।
इति वचनात् एकत्रिंशद्विधा मन्त्रा व्याख्यायन्ते।

अर्थात्—ऋचाओं में जो ३१ प्रकार के मन्त्रों को जानता है, वह मन्त्रवित् कहाता है, उस कथनानुसार ३१ प्रकार के मन्त्रों का व्याख्यान किया जाता है।

चतुर्थ कल्प की समाप्ति के पश्चात् इन ३१ प्रकार के मन्त्रों की गणना की है। यह गणना बृहद्देवता १।३४-४७॥ के श्लोकों में कुछ मिलती है। ऐसी ही एक गणना ब्रह्माण्ड-पुराण में भी मिलती है।[1]

---

१. देखें, मुम्बई का संस्करण, पत्र ६१ ख।

इस निरुक्त समुच्चय में निम्नलिखित ग्रन्थों और ग्रन्थकारों को स्मरण किया गया है—

व्यास वचन	२, ३१
शौनकर्षि	२
नैरुक्तसमय	३
स्मृति	३, ४,
निरुक्त भाष्यकार-यास्क	४, १०, ६१,
भाष्यकार	३०, ३४,
श्रुति	८, १०, ११, १५, २८,
नैरुक्ताचार्य	९
लोकवाद	१७
आप्तवचन	२९, ४०,
लिङ्गानुशासनकार	३९
पौराणिक	५०
दशतयी	५१
दाशतयी	५७
उपनिषत्	५९
शाखान्तर	६४
आयुर्वेदवित्	८२
आचार्यवचन	१०६
मीमांसक	११७

निरुक्त-समुच्चय में निम्नलिखित बातें विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

१. **एवं पूर्वपक्षापरपक्षान्ते निर्वहन्निर्वाणेन भागं भजनीयमाहारत्वेनाज्यादि हविरुच्यते ।**[1]

शर्म सुखं निर्वाणरूपम् ।[2]

देवं दानादिगुणयुक्तमागमगम्यं निर्वाणम् ।[3]

पहले स्थान का पाठ कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है, परन्तु अगले दोनों स्थानों को देखकर यह कहना पड़ता है कि उनमें निर्वाण शब्द का प्रयोग लगभग उसी अर्थ में है जिसमें कि बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है। क्या वररुचि कोई बौद्ध था ?

२. **दिवे दिवे अहर्नामैतत् सप्तम्येकवचनमेव समाम्नायेषु समाम्नातम् ।**[4]

---

१. पृ० ७ ।

२. पृ० ३२ ।

३. पृ० ५९ ।

४. पृ० ३८ ।

क्या समाम्नाय शब्द के बहुवचन प्रयोग से यह समझना चाहिये कि दूसरे वेद-निघण्टुओं में भी ये पद पढ़े गये थे।

३. **तथा च प्रकरणश एव विनियोक्तव्य इति भाष्यकारवचनात्।**[1]

यह निरुक्त १३।१२।। का ही पाठान्तर प्रतीत होता है।

हम पहले लिख चुके हैं कि वररुचि निरुक्त १३।१३।। को भी उद्धृत करता है। अतः निरुक्त का पहला परिशिष्ट वररुचि के काल में निरुक्तान्तर्गत ही था।

अतः निरुक्त का पहला परिशिष्ट वररुचि के काल में भी निरुक्तान्तर्गत ही था, यह स्पष्ट है।

४. **अथवा 'तत्वा' इति 'तनु विस्तारे' इत्यस्य क्त्वाप्रत्ययान्तस्य 'उदितो वा' इतीटो वेबति? विकल्प एतद्रूपं। तत्वा तनित्वा परिचर्यया याचे।**

इसके साथ निरुक्त २।१।। की स्कन्द स्वामी की टीका की तुलना करनी चाहिये।

'तत्वा' इत्येतत् तनु विस्तारे इत्यस्य क्त्वाप्रत्ययेन रूपम्। ......अपरः 'उदितो वा' इतीटो वैकल्पिकत्वादिकाराभावः। सोऽत्रवर्णलोपः। तत्वा तनित्वा इत्यर्थः।

इन दोनों वचनों की समानता को देखकर यह ज्ञात होता है कि इनमें से एक ग्रन्थकार ने दूसरे का आश्रय लिया है।

५. ऋग्वेद ८।२९।१।। में सूनरः एक पद है। उसका अर्थ करते हुए वररुचि लिखता है—

सूनरः शोभनाः कर्तव्यपदार्थज्ञा नरा मनुष्या अध्वर्य्वादयो यस्य संबन्धित्वेन सन्ति सूनरः। शोभना नरः। पदकारेणैतत् पदं नावगृहीतं तथापि भाष्यकारवचनात् पदकारमनादृत्यैतन्निरुक्तम्।

अर्थात्—पदकार के अनुसार सूनरः अवग्रह के बिना पद है, परन्तु भाष्यकार के अनुसार इसमें अवग्रह है। उसी प्रकार से इसका व्याख्यान किया है।

वररुचि यास्क को ही भाष्यकार कहता है, पर इस मन्त्र की यास्क ने प्रतीकमात्र पढ़ी है। उसने इसका अर्थ नहीं किया। अतः वररुचि का अभिप्राय किस भाष्यकार से है, यह ज्ञात नहीं हो सका। दुर्ग इस मन्त्र प्रतीक को निरुक्त में नहीं पढ़ता। स्कन्द इसे पढ़ता है, परन्तु सारे मन्त्र का अर्थ नहीं करता।

६. **दाशुषे दाश्वानिति शाकपूणिना नैरुक्ताचार्येण यजमाननामसु पठ्यते।**

अर्थात्—दाश्वान् को शाकपूणि अपने निघण्टु में यजमान के पर्यायों में पढ़ता है।

७. ३१ प्रकार के मन्त्रों में एक विकल्प मन्त्र भी है। उसका उदाहरण देते हुए वररुचि लिखता है—इन्द्र क्रतुं न आ भर।

इति विकल्पः। अनेकवाक्यकल्पनया विकल्पः। देवताविकल्पो वा। वायुरिति नैरुक्ताः। सूर्य इति याज्ञिकाः। शक्तिर्नाम वसिष्ठपुत्रस्तस्यार्षम्। प्रथमं तावद् याज्ञिकमतेन व्याख्यायते।

अर्थात्—अनेक वाक्यों की कल्पना को विकल्प कहते हैं और देवता विकल्प को भी विकल्प

---

१. पृ० ४९।

कहते हैं। इस मन्त्र का वायु देवता है, ऐसा नैरुक्त मानते हैं, और सूर्य देवता है, ऐसा याज्ञिक मानते हैं। इसका ऋषि वसिष्ठ-पुत्र शक्ति है। अब पहले याज्ञिक के मत के अनुसार इस ऋचा का व्याख्यान किया जाता है। यह मन्त्र ऋग्वेद ७।३२।२६।। है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार इसका देवता इन्द्र है। वररुचि का भी ऐसा ही मत है। वररुचि ने याज्ञिकों का और नैरुक्तों का मत कहां से लिया, यह विचारणीय है। हां, इन्द्र का अर्थ वायु और सूर्य दोनों हो सकते हैं।

वररुचि और वेदों में इतिहास—वररुचि नैरुक्तदर्शनानुसारी भाष्य करता है, अतः उसके भाष्य में अनित्य इतिहास को स्थान नहीं। वह नित्यपक्ष शब्द का प्रयोग भी करता है।[1] एक स्थान पर वह लिखता है—

एवमाख्यानसमयेनेयं मन्त्रस्य योजना।

अथवा कश्चिद्यजमान उत्तमाधममध्यमैः पाशैः बद्धो राजानं वरुणं प्रार्थयते।[2]

अर्थात्—इस प्रकार आख्यान दर्शन में यह मन्त्रार्थ है। अथवा तीन पाशों में बंधा हुआ कोई यजमान राजा वरुण की प्रार्थना करता है—

फिर वररुचि लिखता है—

सिन्धूनां सिन्धवो नद्यः। इह सामर्थ्यादन्तरिक्षचारिण्यो गृह्यन्ते।[3]

अर्थात्—ये नदियां अन्तरिक्षचारिणी हैं।

यम यमी के सम्बन्ध में वररुचि लिखता है—

एवमैतिहासिकपक्षे योजना। नैरुक्तपक्षे तु पुरुरवा मध्यमस्थानः। वाय्वादीनां एकत्वात् पुरु रौरीति पुरुरवाः उर्वशी विद्युत्।

उरु विस्तीर्णं अन्तरिक्षं दिव्यत इति उर्वशी।[4]

अर्थात्—इस प्रकार ऐतिहासिक पक्ष में मन्त्र का अर्थ हुआ। नैरुक्त पक्ष में पुरुरवा मध्यमस्थानी देवता है। बहुत कोलाहल करने से पुरुरवा वायु है। उर्वशी तडित् है। फैले हुए आकाश में चमकने से उर्वशी नाम है।

इसी यम यमी का नैरुक्त पक्ष में अर्थ करके वह लिखता है—

एवं नैरुक्तपक्षे योजना। औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।[5]

अर्थात्—मन्त्रों में ऐतिहासिक दर्शनानुसारी अर्थ उपचार मात्र से है। इतिहास पक्ष में नित्यत्व का विरोध आता है। परमार्थ से नित्य पक्ष ही सत्य है। यही नैरुक्तों का सिद्धान्त है।

यम यमी के सम्बन्ध में आगे चलकर लिखा है—

---

१. पृ० १४।
२. पृ० २५।
३. पृ० १०७।
४. पृ० १४१।
५. पृ० १४२।

एवमैतिहासिकपक्षे योजना । नैरुक्तपक्षे तु यमी मध्यमस्थाना वाक् । यमश्च मध्यमस्थानः ।[1]

अर्थात्—नैरुक्त पक्ष में यमी मध्यमस्थानी वाक् है और यम भी मध्यम स्थानी है ।

इन सब स्थानों को ध्यान पूर्वक देखने से पता चलता है कि वररुचि मन्त्रों में इतिहास नहीं मानता था ।

वररुचि और स्कन्द स्वामी—पहले पृ० २१९-२२० पर वेदों में ऐतिहासिक पक्ष के सम्बन्ध में स्कन्द-महेश्वर के जो प्रमाण दिए गए हैं, उनसे यदि वररुचि के तत्सम्बन्धी लेख की तुलना की जाए तो दोनों में आश्चर्यजनक समानता पाई जाती है । तत्वा यामि पर भी दोनों का लेख बहुत मिलता है । इससे निश्चित होता है कि इनमें से कोई एक ग्रन्थकार दूसरे के कई वचन नकल कर रहा है । वररुचि ने निर्वाण शब्द का जो प्रयोग किया है उससे वह बौद्ध प्रभाव-प्रभावित प्रतीत होता है । स्कन्द-महेश्वर की निरुक्तभाष्य-टीका में ऐसा शब्द मेरी दृष्टि में नहीं आया । सम्भव है वररुचि स्कन्द से पुराना हो, परन्तु यह अनुमान ही है ।

स्कन्द और वररुचि का शाकपूणि के निघण्टु से दिया हुआ एक प्रमाण भी समान ही है । दोनों की घनिष्ठ सदृशता से कोई इन्कार नहीं कर सकता ।

हम लिख चुके हैं कि निरुक्त-समुच्चय के चतुर्थ-कल्प में ३१ प्रकार के मन्त्रों का व्याख्यान है । वे ३१ प्रकार के कौन से हैं, यह नीचे लिखा जाता है—

१. प्रैष	१२०
२. आह्वान	१२५
३. स्तुति	१२६
४. निन्दा	१२७
५. संख्या	१२८
६. आशीः	१३०
७. कर्म	१३०
८. कत्थना	१३२
९. प्रश्न	१३४
१०. प्रतिवचन=व्याकरण	१३५
११. शोधित	१३६
१२. विकल्प	१३७
१३. संकल्प	१३९
१४. परिदेवना	१३९
१५. अनुबन्ध	१४०

१. पृ० १४७ ।

	१४३
१६. याञ्चा	१४४
१७. प्रसव	१४५
१८, संवाद	१४८
१९. समुच्चय	१४९
२०. प्रशंसा	१५०
२१. शपथ	१५२
२२. प्रतिशय	१५४
२३. आचिख्यासा	१५५
२४. प्रलाप	१५६
२५. व्रीला	१५७
२६. उपधावन	१५८
२७. आक्रोश	१६०
२८. परिवाद	
२९. परित्राण	१६२

इस गणना के अनुकूल दो प्रकार कम रहते हैं। हमारी प्रतिलिपि कई स्थानों पर त्रुटित है, अतः सम्भव है, वे दो प्रकार भी त्रुटित हो गए हों। यह भी हो सकता है कि वे हमारे ध्यान में ही न आए हों, क्योंकि हमने साधारण दृष्टि से ही पाठ किया है।

ग्रन्थ-समाप्ति के पश्चात् निम्नलिखित श्लोक हैं। वे किसी अन्य व्यक्ति के लिखे प्रतीत होते हैं—

कल्पैश्चतुर्भिर्व्याख्यातं सारभूतमृचां शतम्।
सहस्रं पञ्चशतं श्लोकेनानुष्टुभा कृतम्॥
सहस्रं पञ्चशतं संख्या ग्रन्थस्य च कीर्तिता।
विस्तरभीत्या संक्षिप्तं तात्पर्यावबुद्धये॥
एवं निरुक्तमालोक्य मन्त्राणां विवृतं शतम्।
उक्तानुक्तदुरुक्तानि चिन्तयन्त्विह पण्डिताः॥[1]

अर्थात्—निरुक्त को देखकर संक्षेप से १०० मन्त्रों का व्याख्यान किया है। इसका परिमाण १५०० ग्रन्थ हैं।

वाररुच निरुक्त समुच्चय का कुछ और अंश निम्न है—

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमतश्च विवः॥[2] [यजु० १३।३॥]

---

१. पृ० १६३।

२. यह मन्त्र ऋग्वेद की किसी लुप्त शाखा में भी था।

सर्वं मन्त्रव्याख्याने प्रथममार्षकथनं कर्तव्यम् । मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्त इति । अत्र प्रदर्शितम् । नकुलो नाम ऋषिः । आदित्यो देवता । तथा हि शौनकर्षिदर्शनम्—

यस्य वाक्यं स ऋषिः ।[1] या तेनोच्यते सा देवता । इति ।

घर्माभिष्टवनेऽस्य विनियोगः । परोक्षकृतोऽयं विनियोगः । परोक्षकृतोऽयं मन्त्रः प्रथमपुरुषयोगात् ।

ब्रह्म । नामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि नैरुक्तसमयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः । यथा हि—

तत्र नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च [निरुक्त १।१२।।] इति ।

बृह बृहं वृद्धौ । इति । अन्येभ्योऽपि दृश्यते । इति मनिन् प्रत्ययान्तस्य एतद्रूपम् । सर्वतः परिवृद्धत्वात् ब्रह्मशब्देनादित्य-मण्डलमुच्यते । सर्वस्य हि भुवनस्य तदाधाररूपे स्थितिरित्युपनिषत्सु गीयते— मण्डले हीदं जगत्प्रतिष्ठितमिति ।

जज्ञानं इति जायमानं उत्पद्यमानमित्यर्थः । प्रथममिति मुख्यमुच्यते । अन्येषां तेजसाम् । तथा च स्मरणम्—

ब्राह्मणो वा मनुष्याणामादित्यः तेजसामिव ।
शिरो वा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ।। इति

पुरस्तात् पूर्वतः । कस्य । सामर्थ्यात् जगदुत्पत्तेः । अथवा प्रत्यहमुदयास्तमङ्गीकृत्याह पुरस्तात् । पूर्वस्यां दिशि । पूर्वमेव वा सर्वप्राणिनामुत्थानात् । वि इत्ययमुपसर्ग आवः इत्याख्यातेन सम्बध्यते । कुत एतत्—

अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ।
इत्यभियुक्तोपदेशात् ।

न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुः [निरुक्त १।३।।] इति निरुक्तभाष्यकारवचनाच्च । सीमतः । सीमशब्दः सर्वादिषु पठितः । विभक्तिव्यत्ययेन सप्तम्येकवचनं द्रष्टव्यम् । कुत एतल्लभ्यते । सुपां सुप आदेशो भवतीति वैयाकरणस्मरणात् ।

यथार्थं विभक्तिः सन्नमयेत् [निरुक्त २।१।।] इति निरुक्तकारवचनाच्च । सिम् अस्मिन् जगति । अथवा सीमशब्दः सीमापर्यायः । अस्मिन् पक्षे आकारो मर्यादार्थं आहर्तव्यः । आ सीमतः सर्वस्य सीमारूपेणावस्थितो लोकालोकपर्वतः । आ लोकालोकपर्वत इत्यर्थः । सुरुचः रश्मयः । सुरोचमानत्वात् सुदीप्तान् रश्मीन् सहस्रसंख्यातान् । वेनः । सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणाम् इति लिङ्गव्यत्ययः । वेनं । वेनतिः कान्तिकर्मा । कान्तार्थः । कस्य । सर्वस्य भूतजातस्य । आवः वृङ् वरण इत्यस्य लिङि छान्दसमेतत् रूपम् । विशब्दस्यात्र समन्वयः व्यवृणोत् । विवृतवान् विस्पष्टवानित्यर्थः ।

१. ये दोनों सूत्र कात्यायनकृत ऋक्सर्वानुक्रमणी के परिभाषा प्रकरण में मिलते हैं । देखें २।४।५।। अन्य अनेक ग्रन्थकार भी इन्हें शौनक के नाम से ही उद्धृत करते हैं । इसका कारण जानना चाहिए ।

न केवलं रश्मिविसर्गमेवाकरोत्। किं तर्हि। सः लिङ्गव्यत्ययः। तत् अथवा मण्डलमध्यस्थः पुरुषोऽभिधीयते। स आदित्यः। बुध्न्याः बुध्नमन्तरिक्षम्। बद्धा अस्मिन् धृता आप इति। तत्र भवा बुध्न्याः दिश उच्यन्ते। तथा च स्मरणम्—

तास्यां स शकलाभ्यां तु दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥ इति॥ [मनु १।१३॥]

उपमाः। उप इत्यन्तिकनाम। परितो भूता अस्य आदित्यस्य सर्वस्य वा जगतः। सर्वस्य समीपोलब्धेः विष्ठाः विष्ठस्य स्थात्रीः। अष्टावपि दिशो विवृताः करोतीत्यर्थः। सतश्च योनिं विद्यमानस्य वस्तुनः स्तम्भकुम्भादेः योनिं असतश्च अविद्यमानस्य योनिं। वेतेर्वनिप्रत्ययान्तस्य वर्णव्यापत्यादिना योनिशब्दो निरुक्तः। योनिमवर्गाति विवः विवृणोत्। व्यवृणोत् प्रकाशितवानित्यर्थः। किमिदमुच्यते। यावत् खलु भगवत आदित्यस्य तेजसा न व्याप्रियते। भुवनमण्डले तावत् सदसद्भावौ न व्यासज्येत। व्यापृते तु घटोऽस्ति न वेति वक्तव्यं भवति। अतः सत्वमसत्वं च व्यञ्जितवानित्यर्थः।

अर्थात्—सब मन्त्रों के व्याख्यान में पहले मन्त्र का ऋषि कहना चाहिए। यह ऋचा जालग्रस्त मत्स्यों की कही जाती है। नकुल इसका ऋषि है, आदित्य देवता है। यह शौनक के अभिप्रायानुसार है। घर्माभिष्टवन में इसका विनियोग है। इस मन्त्र में प्रथम पुरुष का प्रयोग है, अतः यह मन्त्र प्रत्यक्षकृत है।

नैरुक्तों के अनुसार सब नाम धातुज हैं, अतः धातु के अनुसार ब्रह्म का अर्थ है सब से बड़ा। वह आदित्य मण्डल है। ऐसा ही उपनिषत् में भी कहा गया है कि यह सब जगत् आदित्य मण्डल में स्थित है।

वह उत्पत्ति वाला और अन्य सब तेजों में प्रधान है। स्मृति में भी कहा है कि ब्राह्मण मनुष्यों में, आदित्य तेजों में, शिर अंगों में और सत्य धर्मों में प्रधान है। इसकी सत्ता सृष्टि से पूर्व अथवा पूर्व दिशा में, या सोते हुए प्राणियों से पूर्व संसार में, या लोकालोक पर्वत तक है। सारे संसार को देदीप्य-करने के लिए सहस्रों रश्मियां प्रदान करता है। और जलों के स्थान अर्थात् आकाश में रहने वाली आठों दिशाओं को व्याप्त कर समस्त दृश्य पदार्थों के भावाभाव को प्रकट करता है। भगवान सूर्य के प्रभाव के बिना पदार्थों के अस्ति नास्ति का ज्ञान होना असम्भव है। प्रकाश के होते ही हम कह सकते हैं कि अमुक वस्तु है अथवा नहीं हैं। अतः सूर्य ही सत् और असत् को बताता है। आकाश जलों का स्थान है। यह स्मृति में भी कहा गया है। उन दो टुकड़ों से द्युलोक और भूमि बनाई गई। तथा उनके मध्य में आकाश जो कि जलों का अविनश्वर स्थान है और आठों दिशाएं बनाई गई।

९. कौत्सव्य का निरुक्त-निघण्टु

यह ग्रन्थ अथर्व-परिशिष्टों में से एक है। अथर्व-परिशिष्ट ७८ हैं। यह निघण्टु उनमें से ४८वां है। अथर्व-परिशिष्टों का सम्पादन जे० फान नेगेलाईन और जार्ज मैल्विल बोलिङ्ग ने किया है। उनका

संस्करण सन् १९०९ में छपा था। वह रोमन लिपि में था। सन् १९२१ या सं० १९७८ में इस निरुक्त-निघण्टु का देवनागरी-लिपि-संस्करण लाहौर में छपा था। उसके सम्पादक हैं पं० रामगोपाल शास्त्री।[1]

मूल संस्करण का आधार सात पुराने कोश हैं। परन्तु फिर भी इस पुस्तक के दोबारा सम्पादन की आवश्यकता है। सन् १९०९ के पश्चात् अथर्व-परिशिष्टों के कई नये कोश खोजे गए हैं।

ग्रन्थ-विभाग—इस निरुक्त-निघण्टु में कुल १४८ गण हैं। वे गण ६९ खण्डों में विभक्त हैं। यह खण्ड-विभाग किस आधार पर बना, यह हमें अज्ञात है। पहले इसमें **आख्यात गण** हैं, और फिर **नाम आदि गण**। इसका बहुत-सा भाग यास्कीय निघण्टु से मिलता है। फिर भी कई ऐसे पद हैं, जो उसमें नहीं मिलते।

जिस प्रकार का ऐकपदिक-काण्ड यास्कीय-निघण्टु में है, उसी प्रकार के दो गण इस निरुक्त-निघण्टु में हैं। संख्या है उनकी ११५ और ११६। गण ११६ के अन्त में लिखा है—**अनेकार्थाः**। यह निरुक्त-निघण्टु आथर्वण है। परन्तु इसके इन गणों में कई ऐसे पद हैं, जो अथर्ववेद में नहीं मिलते। सम्भव है वे अथर्ववेद की किसी अज्ञात शाखा में हों। यथा—

पाकस्थामा कौरयाणः। अप्रायुवः। अकूपारस्य।

इत्यादि। इनमें से अन्तिम दो पद दूसरी विभक्तियों में अथर्ववेद में मिलते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि इस निरुक्त-निघण्टु में **अकूपारस्य** के साथ दावने पद नहीं है।

इस निरुक्त-निघण्टु में जिन गणों के पश्चात् अर्थ दिया गया है, वह उसी ढंग से है, जैसा यास्कीय-निघण्टु के लघु पाठ में है। यथा—

६९. आतः। आशाः। आष्ठाः। उपराः। काष्ठाः। व्योम। ककुभः। दिशाम्॥४९॥

इस ग्रन्थ का कर्ता कौत्सव्य कौन था, वह कब हुआ, उसने और भी कोई ग्रन्थ लिखा था या नहीं, ये सब बातें अभी अन्धकार में ही हैं। आथर्वण वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों के मिलने पर सम्भव है इन पर कुछ प्रकाश पड़े।

निरुक्त-निघण्टु नाम—कौत्सव्य का ग्रन्थ अधिकांश में वेद-निघण्टुओं के समान ही है। परन्तु इसके अन्त में कुछ पंक्तियां ऐसी भी हैं, जो निरुक्त के समान हैं। यथा—

१४९. एतेषामेव लोकानाम् ऋतुच्छन्दस्तोमपृष्ठा नामानुपूर्वेण भक्तिशेषोऽनुकल्पः॥ इत्यादि।

यास्कीय निघण्टु में देवपत्नियां अन्त में हैं, परन्तु इसमें वे गण १३९ में ही एकत्र की गई हैं। उनसे आगे निरुक्त के ढंग का पाठ है। इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम निरुक्त-निघण्टु हो गया, ऐसा सम्भव हो सकता है।

---

१. आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर, सन् १९२१।

तेरहवां अध्याय

व्याकरण महाभाष्य और वेदार्थ

पतञ्जलि का व्याकरण महाभाष्य ईसा से कम से कम १५० वर्ष पूर्व का ग्रन्थ है। प्रो० स्टेन कोनो के अनुसार ईसा से २२५ वर्ष पूर्व पतञ्जलि अपना ग्रन्थ लिख रहा होगा। संभव है पतञ्जलि इससे भी अधिक पुराना हो। पातञ्जल महाभाष्य में अनेक वेद मन्त्रों का अर्थ है, और कई वैदिक पदों की बनावट पर विचार करके उन पदों का अर्थ किया गया है। यह अर्थ बड़े महत्व का है। इसके देखने से हम जान सकते हैं कि वेदार्थ करने की कौन सी विधि पतञ्जलि को अभिमत थी। वह विधि पहले पतञ्जलि की ही नहीं समझनी चाहिए, प्रत्युत उसका मूल पाणिनि के काल से ही होगा। पतञ्जलि और पाणिनि के मध्य में व्याकरण के अनेक ग्रन्थ लिखे गए होंगे। उन सबका निष्कर्ष व्याकरण महाभाष्य में है। फलतः महाभाष्यस्थ मन्त्रार्थ बहुत पुराने काल से चला आया होगा। पाणिनि भी बहुत पुराना व्यक्ति है। वह यास्क का समकालीन ही है। अतः प्राचीन काल से वैयाकरण लोग किस प्रकार से वेदार्थ करते थे, यह महाभाष्यस्थ निम्न मन्त्रार्थों के देखने से ज्ञात हो जाएगा।

१. चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेशेति।

चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादास्त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धस्त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतत्। रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्यां आविवेशेति। महान्देवः शब्दः। मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्याः। तानाविवेश। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।

२. चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। मनस ईषिणो मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति। न चेष्टन्ते। निमिषन्तीत्यर्थः। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। तुरीयं ह वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते। चतुर्थमित्यर्थः॥ चत्वारि॥

३. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम् । अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येनाम् । अविद्वांसमाहार्धम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे । तनुं विवृणुते । जायेव पत्य उशती सुवासाः । तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुत एवं वाग्वाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते । वाङ् नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम् ॥ उत त्वः ॥

४. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति । कसतेर्वा विपरीताद्विकसितो भवति । तितउ परिपवनं भवति । ततवद्वा तुन्नवद्वा । धीरा ध्यानवन्तो मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत । अत्रा सखायः सख्यानि जानते । अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते । सायुज्यानि जानते । य एष दुर्गो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः । के पुनस्ते । वैयाकरणाः । कुत एतत् । भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि । एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति । लक्ष्मीर्लक्षणाद्भासनात्परिवृढा भवति ॥ सक्तुमिव ॥

५. सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥

सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि यस्य ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयोऽनुक्षरन्ति काकुदम् । काकुदं तालु । काकुर्जिह्वा सास्मिन्नुद्यत इति काकुदम् । सूर्म्यं सुषिरामिव । तद्यथा शोभनामूर्मिं सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहत्येवं तव सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयस्ताल्वनुक्षरन्ति । तेनासि सत्यदेवः । सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् ॥ सुदेवो असि ॥

६. कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् । ऋ० १।७६।२॥
नोनूयतेर्नोनाव ।[1]

७. एकशब्दोऽयं बह्वर्थः ।............अस्त्यसहायवाची । तद्यथा—
एकाग्नयः एकहलानि । एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् । इति ।
असहायैरित्यर्थः । अस्त्यन्यार्थे वर्तते । तद्यथा—
प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेका । इति ।
अन्येत्यर्थः ।
सधमादो द्युम्न एकास्ताः । अन्या इत्यर्थः ।[2]

बह्वर्था अपि धातवो भवन्तीति । तद्यथा । इडिः स्तुतिचोदना-याच्ञासु दृष्टः । प्रेरणे चापि वर्तते—

---

१. १।१।५॥ भाग १, पृ० २३ ।
२. १।१।२४॥ १।४।२१॥ भा० १, पृ० ८३, ८४, ३२१ ।

अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतो ऽमुतश्च्यावयन्तीति ।[१]

९. सूत्र १।४।९।। के व्याख्यान में मन्त्रों में जितने प्रकार का व्यत्यय होता है, उस के उदाहरण दिए हैं। यह सारा पाठ ३।१।८५।। के व्याख्यान में पुनः मिलता है। इस के देखने से पता लगता है कि पतञ्जलि और उसके पूर्वजों के अनुसार व्यत्यय का क्षेत्र कितना है।

१०. अथवा भोगशब्दः शरीरवाच्यपि दृश्यते। तद्यथा—

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुम्। ऋ० ६।७५।१४।।

अहिरिव शरीरैरिति गम्यते।[२]

महाभाष्यस्थ मन्त्रार्थ के जो पूर्वोद्धृत दश उदाहरण दिए गए हैं, उन के देखने से प्रतीत होता है कि पतञ्जलि वैदिक पदों के धात्वर्थ को ही प्रधान मानता है। उस का अर्थ बड़ा सरल और तत्काल समझ में आने वाला है। पतञ्जलि मन्त्र के अभिप्राय तक पहुंचता है, वह उस के उपरि अर्थ तक ही नहीं रहता। महाभाष्य का अध्ययनविशेष करने से वेदार्थ के करने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

---

१. १।३।१।। भा० १, पृ० २५६; ६।१।१।। भा० ३, पृ० १४; ६।१।३।। भाग ३, पृ० ३६।

२. ५।१।१।। भा० २, पृ० ३४०।

जैमिनिगृह्यमन्त्रवृत्ति

मूल लेखक ने जैमिनिगृह्यमन्त्रवृत्ति का एक स्वल्प अंश छापा था।[1] उसका उद्धरण निम्न है—

इदं भूमेर्भजामह इदं भद्रं सुमङ्गलम्।
परा सपत्नान् बाधस्वान्येषां विन्दते धनम्॥
मन्त्र ब्राह्मण २।४।१॥

अथ भूम्यारम्भजयः। प्रजापतिरनुष्टुप्छन्दः। भूमिर्देवता। इदं भूमेरिति। एकवाक्यताप्रसिद्ध्यर्थं यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। हे भूमे तव भूमेः पृथिव्याः एकदेशं इदं भागं भजामहे। देवयजनार्थमिति शेषः। यदिदं भागं भद्रं भजनीयं सुमङ्गलं कल्याणं च भवेत् भजताम्। अथवा अस्मिन् भूभागे आरब्धं कर्म इदं करिष्यमाणं भद्रं सुमङ्गलं च भवेत्। परा सपत्नान् बाधस्व। सा त्वं सपत्नान् परा बाधस्व। येऽन्येषामस्माकं च धनं पार्थिवं हिरण्यादिकर्मफलं वा विन्दते विन्दन्ते अपहरन्ति तांश्च पराबाधस्व विनाशयेत्यर्थः।

अर्थात्—हे भूमे तेरे इस [वेदी के] देश में हम यज्ञ के लिए भाग लेते हैं। यह तेरा देश भद्र और कल्याण वाला है। अथवा इस वेदी प्रदेश में आरम्भ किया गया वा किए जाने वाला कर्म भद्र और कल्याण वाला हो। जो हमारा वा दूसरों का धनादि हरण करते हैं उन्हें नाश करो।

1. इस परिशिष्ट को पृ. १५० के अन्त में पढ़ें।

मन्त्र-प्रतीक-सूची

उद्‌धृत ग्रन्थ सूची

वैदिक, संस्कृत तथा हिन्दी पुस्तकें

अथर्ववेद—१. दामोदर पाद सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, १९५८ ।
२. सायण भाष्य, शंकर पाण्डुरंग पण्डित, बम्बई, १८९५-९८ ।

अर्थशास्त्र—कौटल्यकृत, सम्पादक टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम ।

अनुवाकानुक्रमणी-सर्वानुक्रमणी—षड्गुरुशिष्य की वेदान्त दीपिका सहित, सम्पादक ए०ए० मैकडानल, आक्सफोर्ड, १८८६ ।

अनेकार्थसमुच्चय (शाश्वत कोष)—के. जी. ओक, पूना ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९१८ ।

अभिधानचिन्तामणि—हेमचन्द्राचार्य कृत, स्वोपज्ञटीका सहित, भावनगर, वीर संवत् २४४१ ।

अमरकोष (लिङ्गानुशासन)—अमरसिंह, १. हरदत्त शर्मा तथा सारदेसाई, पना १९४१ ।
२. आर. शाम शास्त्री, मैसूर, १९२० ।
३. के.जी. ओक, पूना, १९१३ ।

अलंकार सुधानिधि—सायण कृत ।

अष्टाध्यायी—पाणिनि, १. श्रीशचन्द्र वसु, मोतीलाल बनारसीदास, १९६२ ।
२. दयानन्द सरस्वती भाष्य, रघुवीर तथा ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, अजमेर, संवत् १९८४ ।
३. मूल, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, १९५५ ।
४. पूर्वार्द्धम्, गंगादत्त, हरिद्वार, १९६१ ।

अस्यवामीय सूक्त—आत्मानन्द, सम्पादक, कूहननँराज, मद्रास, १९५६ ।

अहिर्बुध्न्य संहिता—सम्पादक रामानुजाचार्य, अड्यार, १९६६ ।

आथर्वण चरणव्यूह—

आथर्वण परिशिष्ट—G.M. Bolling and J. von Negelein, Leipzig, 1909-10.

आथर्वण प्रातिशाख्य (शौनकीय चतुराध्याय)—१. विश्वबन्धु, पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर, १९२३ ।
२. William D. Whitney, चौ०सं०सी०, १९६२ ।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र—१. हरदत्त मिश्र कृत अनाकुला टीका, चौ०सं०सी०, १९२८ ।
२. M. Winternitz, Vienna, १८८७ ।

आपस्तम्ब धर्म सूत्र—G. Buhler, बम्बई संस्कृत सीरीज, १९३२।

आपस्तम्ब परिभाषा सूत्र—कपर्दि टीका, देखें दर्शपूर्णमासप्रकाश, आनन्दाश्रम, पूना।

✓ **आपस्तम्ब श्रौत सूत्र**—१. Richard Garbe, कलकत्ता, १८८२-१९०२।
२. धूर्त स्वामी भाष्य, बड़ोदा, १९५५।
३. नरसिंहाचार, मैसूर, १९४५।
४. Caland, Gottingen, १९२१।

आर्षानुक्रमणी—राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता १८९२।

आश्वलायन गृह्य कारिका—वासुदेव शर्मा पणसीकर, निर्णयसागर, बम्बई, १८९४।

आश्वलायन गृह्य सूत्र—१. A.G. Stenzler, Leipizig, १८६४।
२. भवानीशंकर शर्मा, बम्बई १९०९।
३. हरदत्ताचार्य टीका, टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९२३।
४. आनन्दाश्रम, पूना, १९३७।

✓ **आश्वलायन श्रौत सूत्र**—१. विद्यारत्न, कलकत्ता, १८७४।
२. नारायण विवृत्ति, गणेश शास्त्री गोखले, आनन्दाश्रम, पूना, १९१७।

इत्सिङ्ग की भारत यात्रा—सन्तराम, प्रयाग, १९२५।

ईशावास्योपनिषत्—अष्टादश उपनिषदः, लिमये तथा वाडेकर, वै०सं०मं० पूना, १९५८।

✓ **उणादि सूत्र**—भोजराजकृत, दण्डनाथ नारायण तथा दुर्गसिंह वृत्ति सहित, मद्रास विश्वविद्यालय सीरीज ७, १९३४।

उरोबृहति—

उपनिषदां समुच्चय—रामतीर्थ विरचित दीपिका, विनायक गणेश आप्टे, आनन्दाश्रम, पूना, १९२५।

✓ **ऋक् संहिता**—स्कन्द तथा माधव भाष्य सहित, सम्पादक साम्बशिव शास्त्री, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, ९६, १९२९।

✓ **ऋक्सर्वानुक्रमणी**—कात्यायन कृत, A.A. Macdonell, आक्सफोर्ड, १८८६।

✓ **ऋगर्थ दीपिका**—

✓ **ऋग्वेद पर व्याख्यान**—भगवद्दत्त, लाहौर।

✓ **ऋग्वेद (ऋ०)**—१. स्कन्द स्वामी भाष्य, विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान (वि० वै० शोध सं०), होशियारपुर, १९६५।
२. सायण भाष्य, F. Max Muller, चौ० सं० सी०, १९६६।
३. सायण भाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल (वै०सं०मं०) पूना, १९४१।
४. वेङ्कट माधव भाष्य, लक्ष्मण स्वरूप, लाहौर, १९३९।
५. दयानन्द सरस्वती भाष्य, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।

✓ **ऋग्वेद व्याख्या**—माधवकृत, संपादक कूहनन राज, सी०, अडचार पुस्तकालय, १९३९।

✓ **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**—दयानन्द सरस्वती, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, देहली, १९६९।

ऋक् प्रातिशाख्य—उवट भाष्य, मंगलदेव शास्त्री, १९३१ ।
एकाग्निकाण्ड—
ऐतरेय आरण्यक—सायण भाष्य, बाबा शास्त्री फडके, आनन्दाश्रम, पूना, १८९८ ।
ऐतरेय ब्राह्मण—१. Theodor Aufrecht, Bonn, 1879.
२. Martin Haug, बम्बई, १८६३ ।
३. अनुवाद सहित, A.B. Keith, Oxford, १९०९ ।
४. सायण भाष्य, सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, सम्वत् १९५२ ।
५. सायण भाष्य, काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९३१ ।
६. षड्गुरुशिष्य कृत सुखप्रदावृत्ति, अनन्त कृष्ण शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् १९४२ ।
कठोपनिषद्—अष्टादश उपनिशदः, लिमये तथा वाडेकर, वै०सं०सं०, पूना, १९५८ ।
कथासरित्सागर—सोमदेव कृत, दुर्गाप्रसाद तथा पाण्डुरंग परब, निर्णय सागर, बम्बई, १९३७ ।
कर्मप्रदीप (छान्दोग्य परिशिष्ट)—कात्यायन कृत, चन्द्रकान्त तर्कालंकार, कलकत्ता, १९२३ ।
काठक गृह्यपञ्चिका—
काठक गृह्य सूत्र—देवपाल भाष्य, Willem Caland, लाहौर, १९२५ ।
काठक संहिता—१. दामोदरपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, औन्ध, १९४३ ।
२. L. von Schroeder, Leipzig, 1900-11.
काण्डानुक्रमणिका—A. Weber, Indische Studien, Vol. III, 1885, pp. 247-83.
काण्व संहिता—दामोदर पाद सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, औन्ध, १९४० ।
काण्व संहिता भाष्य संग्रह—आनन्दबोध भाष्य, सारस्वती सुषमा, संस्कृत विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी, भाद्रपद, २०११ ।
कात्यायनीय परिशिष्ट दशकम्—श्रीधर अण्णा शास्त्री वारे, नासिक ।
प्रतिज्ञा सूत्र परिशिष्ट—कात्यायन, कात्यायन प्रातिशाख्य के अन्त में संगृहीत, चौ०सं०सी०, वाराणसी ।
कात्यायन श्रौत सूत्र—१. याज्ञिक देव भाष्य, चौ० सं० सी०, १९०८ ।
२. विद्याधर शर्मा, बनारस, १९३३-३७ ।
कादम्बरी—बाणभट्ट, उपेन्द्र नारायण मिश्र, इलाहाबाद, १९६४ ।
काशिका वृत्ति—वामन तथा जयादित्य कृत, १. शर्मा संस्कृत परिषद्, उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद ।
२. भगवत्प्रसाद त्रिपाठी, बनारस, १८९० ।
किरातार्जुनीय—
कुतूहल वृत्ति—अध्वर मीमांसा, सम्पादक पट्टाभिराम शास्त्री, दिल्ली, १९६८-६९ ।
केनोपनिषद्—१. अष्टादश उपनिषदः, लिमये तथा वाडेकर, वै० सं० मं०, पूना, १९५८ ।
२. शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना ।
कौषीतकि उपनिषद्—अष्टादश उपनिषदः, लिमये तथा वाडेकर, वै० सं० मं०, पूना, १९५८ ।
कौषीतकि गृह्य सूत्र—भवत्रात भाष्य, टी० आर० चिन्तामणी, मद्रास, १९४४ ।

कौषीतकि ब्राह्मण—१. B. Lindner, 1887.
२. E.B. Cowell, Calcutta, 1861.
३. गुलाबराय वजेशंकर छाया, आनन्दाश्रम, पूना, १९११।

क्षीर तरंगिणी—क्षीरस्वामी कृत, रामलाल कपूर ट्रस्ट, संवत् २०१४।

गणपाठ—पाणिनि कृत, कपिल देव शास्त्री, कुरुक्षेत्र।

गणरत्नमहोदधि—वर्धमान् कृत, १. J. Eggeling, Leyden, 1879.
२. इटावा संस्करण।

गोपथ ब्राह्मण—१. राजेन्द्रलाल मित्र तथा हरचन्द विद्या भूषण, कलकत्ता, १८७२।
२. D Gaastra, Leyden, 1919.

गोपाल कारिका—

गोभिल गृह्य कर्म प्रकाशिका—शुकदेव वर्मा, १९३२।

गोभिलगृह्य सूत्र—चिन्तामणि तथा भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९२६।

ग्रहलाघव—कलकत्ता संस्करण।

गौतम धर्म सूत्र—१. मस्करी भाष्य, श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, १९१७।
२. वेदमित्र, देहली, १९६९।

चरक संहिता—१. यादवजी त्रिकमजी आचार्य, निर्णय सागर बम्बई, १९३५।
२. चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६२।

चरणव्यूह—शौनक कृत, महीदास टीका, चौ० सं० सी०, १९३८।

छान्दोग्योपनिषत्—१. अष्टादश उपनिषदः, लिमये तथा वाडेकर, वै० सं० मं०, पूना, १९५८।
२. आनन्दाश्रम, पूना, १९३४।

छान्दोग्यपरिशिष्ट (कर्मप्रदीप)—चन्द्रकान्त तर्कालंकार, कलकत्ता, १९०९।

छान्दोग्य ब्राह्मण—सम्पादक दुर्गामोहन, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९१५।

छन्दः शास्त्रम्—पिंगलकृत, हलायुधभट्ट कृत संजीवनी टीका, केदारनाथ तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणसीकर, निर्णय सागर, बम्बई, १९२७।

जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण (जै०उ०ब्रा०)—१. रामदेव लाहौर, १९२१।
२. H. Oertel, Journal of the American Oriental Society, (JOS) Vol. XVI, 1896।
३. बी० आर० शर्मा, तिरुपति, १९६७।

जैमिनीय गृह्यसूत्र—

तत्वसंग्रह—

तन्त्रवार्तिक—कुमारिल भट्ट, देखें मीमांसा दर्शन, शावर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना।

तलवकार श्रौत सूत्र—भवत्रात भाष्य।

ताण्ड्य महा ब्राह्मण (ता० ब्रा०) (पंचविंश ब्राह्मण)—१. सायण भाष्य, चिन्न स्वामी शास्त्री, चौ०सं०सी०, सं० १९९३।
२. सायण भाष्य, आनन्द चन्द्र वेदान्त वागीश, कलकत्ता, १८७०।

तैत्तिरीय आरण्यक—१. कृष्ण यजुर्वेदीय, बावा शास्त्री फडके, आनन्दाश्रम, पूना, १८९८।
२. सायण भाष्य, राजेन्द्रलाल मिश्र, कलकत्ता, १८७२।
३. भट्ट भास्कर भाष्य, १९०२।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य—माहिषेय भाष्य, वेंकट राम शर्मा विद्याभूषण, मद्रास, १९३०।

तैत्तिरीय ब्राह्मण—१. सायण भाष्य, राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, १८६२।
२. सायण भाष्य, नारायण शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९३४।
३. भट्ट भास्कर भाष्य, महादेव शास्त्री तथा श्रीनिवासाचार्य, मैसूर।

तैत्तिरीय संहिता—१. A. Weber, Berlin, 1871-72.
२. दामोदर पाद सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, संवत् २०१३।
३. कृष्ण यजुर्वेदीय, सायण भाष्य, काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना।
४. ज्ञानरुद्र भाष्य, भट्ट भास्कर कृत, वै० सं० मं०, पूना।

तैत्तिरीय संहिता पदपाठ सस्वर—सम्पादक वैद्यनाथ शास्त्री तथा नारायण शास्त्री, कुम्भघोण।

तैत्तिरीय उपनिषद्—शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, १९२९।

त्रिकाण्ड मण्डन—भास्कर मिश्र तथा सोमयाजी टीका, चन्द्रकान्त तर्कालंकार, कलकत्ता, १८९८।

दर्शपूर्णमास प्रकाश,—आनन्दाश्रम, पूना १९२४।

द्राह्यायण श्रौत सूत्र १. J. N. Reuter, Luzac and Co., London, 1924.
२. धन्विन् भाष्य, रघुवीर, देखें Journal of Vedic Studies, Vol. I, No. 1 Lahore.

धातुवृत्ति—माधवीय, सूर्यनारायण शुक्ल, चौ० सं० सी०, बनारस।

न्यायपरिशुद्धि—एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकत्ता संस्करण।

न्यायमञ्जरी—जयन्त भट्ट कृत, विजय नगर ग्रन्थमाला, वाराणसी।

न्यायवार्तिक—वात्स्यायन भाष्य सहित, चौ० सं० सी०, १९१५।

नाट्यशास्त्र—भरतमुनि कृत, गायकबाड़ ओरिएण्टल संस्कृत सीरीज, बड़ोदा, १९३४, १९५३।

नानार्थार्णव संक्षेप—केशवस्वामी कृत, त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज, २३।

नारद शिक्षा—शोभाकर भाष्य, देखें शिक्षा संग्रह, काशी, १८९३।

निघण्टु—१. देवराज यज्वा भाष्य, सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १८८२।
२. विट्ठल पुरन्दरे, आनन्दाश्रम, पूना, १९२५।

निघण्टु भूमिका—दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।

निदान सूत्र—कैलाशनाथ भटनागर, देहली, १९७१।

निरुक्त—१. राजाराम, लाहौर।
२. भगवद्दत्त, अमृतसर, सं० २०२१।
३. भदकमकर, आनन्दाश्रम, पूना।
४. लक्ष्मण स्वरूप, लाहौर।
५. दुर्गवृत्ति, वी० के० राजवाडे, पूना।
६. संपादक, रुडल्क रोथ, गोटिंजंन, १९५२।

निरुक्त—कौत्सव्य प्रणीत।

निरुक्तालोचन—सत्यव्रत सामश्रमी, दूसरा संस्करण, कलकत्ता, १९०७।

निरुक्त भाष्य टीका—स्कन्द-महेश्वर कृत, सम्पादक लक्ष्मणस्वरूप, लाहौर।

न्याय सूत्र—गौतममुनि प्रणीत, वात्स्यायन भाष्य, दिगम्बर शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९२२।

नैगेयशाखानुक्रमणी—सहगल, सीताराम, देहली, १९६६।

न्यङ्कुसारिणी—

पारस्कर गृह्य सूत्र—१. एम० गङ्गाधर, बम्बई, १९१७। २. गोपाल शास्त्री नेने, बनारस, १९२६।

पुष्प सूत्र (साम प्रातिशाख्य)—अजातशत्रु कृत भाष्य, लक्ष्मण शास्त्री, चौ० सं० सी०, १९२२।

प्रपञ्चहृदय—टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् १९१५।

प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट—शुक्ल यजुर्वेद संबन्धी, कात्यायन प्रातिशाख्य के अन्त में संगृहीत, चौ० सं० सी०।

प्रवरमंजरी—पुरुषोत्तम कृत, गोत्रप्रवरनिबन्ध कदम्ब में संगृहीत, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९१७।

ब्रह्मसूत्र—शांकर भाष्य, निर्णय सागर, बम्बई, १९१५।

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य—१. भामति, कल्पतरु और परिमल टीका, निर्णयसागर, बम्बई, १९३८।
२. पाराशर्य विजय व्याख्या।

ब्राह्मणोद्धारकोष—विश्वबन्धु, वि० वै० शोध सं०, संवत् २०१३।

बृहद्देवता—१. A. A. Macdonell, 1940।
२. राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता।

बृहदारण्यकोपनिषद्—१. शंकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, १९२७।
२. आनन्दगिरि टीका, आनन्दाश्रम पूना, १८९४।
३. द्विवेदगङ्ग व्याख्या।

ब्रह्माण्ड पुराण—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०६।

ब्राह्मण सर्वस्व—हलायुध कृत, कलकत्ता।

बुद्धचरित—E. H. Johnston, कलकत्ता, १९३५।

बौधायन गृह्य सूत्र—आर० शाम शास्त्री, मैसूर, १९२०।

बौधायन धर्म सूत्र—१. चिन्न स्वामी शास्त्री, चौ० सं० सी०, वाराणसी, १९९१।
२. गोविन्द स्वामी विवरण, उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौ० सं० सी०, वाराणसी।
३. E. Hultzsch, Leipzig, 1884।

बौधायन प्रयोग सार—केशव स्वामी।

बौधायन श्रौत विवरण—भवस्वामी कृत।

बौधायन श्रौत सूत्र - Willem Caland, कलकत्ता, १९०४।

बृहत्कथा मंजरी—देवेन्द्र विरचित, संपादक शिवदत्त महामहोपाध्याय, दूसरा संस्करण, बम्बई, १९३१

बृहदारण्यक—१. माध्यन्दिन, Brahadaranjakopanishad in der Madhjamdina Recension, Otto Whitling, St. Petersburg, 1889.

२. काण्व।

बृहदारण्यकोपनिषद् –अष्टादश उपनिषदः, लिमये तथा वाडेकर, वै० सं० मं०, पूना, १९५८।

भगवद्गीता—अष्टटीकोपेत, गुजराती प्रेस, बम्बई।

भट्टिकाव्य—चौ० सं० सी० १९५१-५२।

भविष्य पुराण—वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९१०।

भारतवर्ष का बृहद् इतिहास—प्रथम तथा द्वितीय भाग, भगवद्दत्त, १/२८ पंजाबी बाग, नई देहली।

भावनापुरुषोत्तम नाटक—श्रीनिवास।

भावप्रकाशन—शारदातनय विरचित, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, १९३०।

भाषिक सूत्र—कात्यायन कृत यजुर्वेद प्रातिशाख्य पर उवट भाष्य, युगलकिशोर पाठक, अनन्त देव कृत टीका सहित, बनारस, १८८३।

भ्रान्तिनिवारण—दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।

मत्स्य पुराण—आनन्दाश्रम, पूना।

मनुस्मृति—१. मेधातिथि भाष्य, गङ्गानाथ झा, कलकत्ता।

२. कुल्लूक भट्ट भाष्य, प्राण जीवन शर्मा, बम्बई, १९१३।

मन्त्र ब्राह्मण—१. सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १९४७।

२. Heinrich Stonner, १९०१।

३. दुर्गामोहन भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९५८।

मन्त्रमहोदधि—महीधर कृत, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत १९७९।

मन्त्रार्थ दीपिका—शत्रुघ्न कृत, काशी।

मन्त्रार्थ मञ्जरी—राघवेन्द्रयति टीका, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९०२।

मन्त्रार्षाध्याय—चारायणीय, विश्वबन्धु, लाहौर, १९३५।

महाभारत—१. भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, (भण्डारकर)।

२. चित्रशाला प्रेस, पूना।

३. नीलकण्ठ भाष्य, पंचानन तर्करत्न भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९०४।

महाभारत तात्पर्य निर्णय—आनन्दतीर्थ कृत।

महाभाष्य—F. Kielhorn, बम्बई, १९०९।

महाभाष्य दीपिका—१. भर्तृहरि टीका, वी० स्वामी नाथन, वाराणसी, सं० २०२१।

२. भ० ओ० रि० ई०, पूना, १९६७।

महार्णव—
महिम्नस्तोत्र—मधुसूदन सरस्वती ।
माध्यन्दिन संहिता पदपाठ—सम्पादक युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, १९७४ ।
मालतीमाधव—
मीमांसादर्शन—जैमिनि प्रणीत, शाबर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना ।
मैत्रायणी संहिता—१. F. O. Schroder, Leipzig, 1923.
२. दामोदर पाद सातवलेकर, औन्ध, १९४२ ।
मैत्र्युपनिषद्—मैत्रायण्युपनिषद्—मैत्रेयोपनिषद्—अष्टादश उपनिषदः, लिमये तथा वाडेकर, वै०सं०मं० ।
यजुर्मञ्जरी—कालनाथ कृत ।
यजुर्वेद—१. दामोदर पाद सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, १९५७ ।
२. उवट भाष्य, निर्णयसागर प्रेस, १९२९ ।
३. दयानन्द सरस्वती भाष्य, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर ।
यतिधर्मसंग्रह—विश्वेश्वर सरस्वती, आनन्दाश्रम, पूना, १९०९ ।
याज्ञवल्क्य संहिता—मन्मथनाथ दत्त, कलकत्ता, १९०८ ।
याज्ञवल्क्य स्मृति—१. अपरार्क टीका, आनन्दाश्रम, पूना, १९०३ ।
२. बालक्रीड़ा टीका, टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९२४ ।
रघुवंश—कालिदास, करण्डीकर, बम्बई, १९५३ ।
राजचूड़ामणि रुक्मणी कल्याण—
रुद्रभाष्य—वाणीविलास प्रेस, १९१३ ।
रुद्राध्याय—सायण तथा भट्ट भास्कर भाष्य, तृतीय संस्करण, आनन्दाश्रम, पूना, १९०६ ।
लिंगानुशासन—देखें अमरकोष ।
लौगाक्षी गृह्य सूत्र—देवपाल भाष्य सहित, मधुसूदन कौल शास्त्री द्वारा संपादित, काश्मीर संस्कृत सीरीज ४९, १९२८ तथा ५५, १९३४ ।
लीलावती—दैवज्ञ सूर्य पण्डित टीका ।
व्याकरण शास्त्र का इतिहास—तीन भाग, युधिष्ठिर मीमांसक (यु० मी०), बहाल गढ़, हरियाणा ।
वाक्यपदीय—भर्तृहरि विरचित १. हेलाराज कृत टीका, के० साम्बशिव शास्त्री, त्रिवेन्द्र, १९३५ ।
२. पुण्यराज टीका, चारुदेव शास्त्री, लाहौर ।
वाजसनेयिप्रातिशाख्य—कात्यायन, उवट तथा अनन्त भट्ट भाष्य, वेंकटराम शर्मा, मद्रास, १९३४ ।
वायुपुराण—आनन्दाश्रम, पूना, १९०५ ।
वाल्मीकीय रामायण—१. बड़ोदा संस्करण, १९६० ।
२. लाहौर संस्करण, १९२८-४७ ।
३. मैसूर संस्करण, १९६० ।
वासिष्ठ धर्म सूत्रम्—A. A. Fuhrer, भण्डारकर, १९३० ।
विधान पारिजात—

विष्णु तत्वनिर्णय—आनन्दतीर्थ कृत।
विष्णु पुराण—
वेदभाष्य विज्ञापन—दयानन्द सरस्वती, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, सम्पादक भगवद्दत्त, १९५५।
वेदविद्या निदर्शन—भगवद्दत्त, १/२८ पंजाबी बाग, नई देहली।
वेदान्त सूत्र—बादरायण कृत,—१. शांकर भाष्य, देखें ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य।
२. भास्कर भाष्य, बिन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, चौ० सं० सी०, बनारस।
वेदार्थ संग्रह—रामानुज, काशी संस्करण, १९५२।
वैजयन्ती कोष—१. यादवप्रकाश कृत, Gustav Oppert, मद्रास, १८९३।
२. चौखम्बा सीरीज, वाराणसी, १९७१।
वैदिक कोष—हंसराज, प्रथम संस्करण, लाहौर, १९२६।
वैदिक वाङ्मय का इतिहास—१. भगवद्दत्त, १/२८ पंजाबी बाग, देहली।
२. ब्राह्मण तथा आरण्यक भाग, भगवद्दत्त तथा सत्यश्रवा, वही, १९७४।
वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा—नागेशभट्ट, चौखम्बा संस्करण, वाराणसी।
वैशेषिक दर्शन—
शतपथ ब्राह्मण—माध्यन्दिन, १. Catapatha Brahmana, A. Weber, Leipzig, 1964.
२. अजमेर, संवत् १९५९।
३. सायण भाष्य, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
४. सायण भाष्य, सत्यव्रत सामश्रमी, १९०३-११।
५. वंशीधर शास्त्री, काशी।
शतपथ ब्राह्मण—काण्व, W. Caland, Moti Lal Banarsi Das, 1926.
शाकटायन व्याकरण—१. शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७१।
२. लघुवृत्ति तथा दीर्घवृत्ति सहित, काशी।
शाङ्खायन गृह्य सूत्र—सीताराम सहगल, देहली, १९६०।
शाङ्खायन ब्राह्मण—गुलाबराय वजेशंकर, आनन्दाश्रम, पूना, १९११।
श्लोक वार्तिक—कुमारिल कृत, सुचरित मिश्र टीका, त्रिवेन्द्रम १९४३।
शाङ्खायन श्रौत सूत्र—आनर्तीय वरदत्त सुत कृत टीका, Alfred Hillebrant, कलकत्ता, १८८८।
शिवरहस्य—
शिवाद्वैत—श्रीकण्ठ कृत।
शाश्वत कोष (देखें अनेकार्थ समुच्चय)—पूना, १९३०।
शुक्लयजुर्वेदीय काण्व संहिता—सायण भाष्य, माधव शास्त्री, चौ० सं० सी०, १९१५।
शौनक प्रातिशाख्य—ऋग्वेदीय, उवट भाष्य, युगलकिशोर व्यास तथा प्रभुदत्त शर्मा, बनारस, १८९४-१९०३।

श्रुत प्रकाशिका—ब्रह्मसूत्र पर सुदर्शनाचार्य कृत टीका, पंडित में, १८८५-१८९७ तक प्रकाशित।
स्फोटसिद्धि—मण्डनमिश्र कृत, परमेश्वर कृत गोपालिका टीका सहित, मद्रास विश्वविद्यालय संस्कृत सीरीज ६, १९३१।
संकर्ष काण्ड—१. काशी संस्करण।
२. वि० वै० शोध संस्थान, होशियारपुर।
सर्व दर्शन संग्रह—१. माधव कृत, के० साम्बशिव शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९३८।
२. सम्पादक अभयकर शास्त्री, भ० ओ० रि० इ० पूना, १९२४।
सर्वानुक्रमणी वृत्ति—षड्गुरुशिष्य भाष्य, A. A. Macdonell, Oxford, 1886.
सामविधान ब्राह्मण—१. सायण भाष्य, सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, सं० १९५१।
२. सायण भाष्य, A. C. Burnell, London, 1873.
३. सायण भाष्य तथा भरत स्वामी विवृति, बी० आर० शर्मा, तिरुपति, १९६४।
सामवेद—१. दामोदर पाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, १९३९।
२. सायण भाष्य, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८९२।
सुदर्शन मीमांसा—धानुष्कयज्वा कृत।
सुश्रुत संहिता—सुश्रुत कृत, निर्णय सागर, बम्बई तथा डल्हणकृत भाष्य सहित, बम्बई, १९३८।
सूक्तिरत्नहार—
सौन्दरनन्द—अश्वघोष कृत, लाहौर, १९२८।

हारलता—
हंसविलास—
होराशास्त्र—वराहमिहिर।

WORKS IN ENGLISH

Barth—	Religions of India, London, 1882.
Belvalkar, S. K.—	History of Indian Philosophy, Poona.
Bhagavad Datta—	Story of Creation, 1/28, Punjabi Bagh, New Delhi.
Eggeling, J.—	Catapatha Brahmana.
Ghate, V. S.—	Lectures on the Rgveda, Bombay, 1915.
Guha, Abhayakumar—	Jivatma in the Brahma-sutras, 1921.
Gune, P. D.—	Brahmana Quotations in the Nirukta.
Jha, Ganganath—	Manusmriti, Eng. Tr., Calcutta.
Kane, P. V.—	History of Dharmasastra.
Keith, A. B.—	Aitareya Aranyaka.
	Yajurveda.
Lakshmana Swarup—	Nighantu and Nirukta, Lahore.
	Indices and Appendices to the Nirukta, Lahore.
Macdonell, A. A.	History of Sanskrit Literature.
Maxmueller, F.—	History of Ancient Sanskrit Literature.
	India What can it Teach us.
Mercer—	The Religion of Ancient Egypt, S. A. B., 1949.
Pei, Mario—	The Story of Languages, London, 1953.
Raja, C. Kuhnan—	Asya Vamasya Hymn, Madras, 1956.
Ramsay—	Asianic Elements in Greek Civilization.
Schraeder, F. O.—	Minor Upanishads, Adyar, 1972.
Satya Shrava—	Śakas in India.
Strabo—	Geography of Strabo.
Weber, A.—	History of Indian Literature, London.
Winternitz, M.—	History of Indian Literature.

JOURNALS, CATALOGUES ETC.

Acta Orientalia, Vol. IV.
Arya, edited by Aurobindo Ghosh.
A Second Report for the Search of Manuscripts, P. Peterson.
Catalogus Catalogorum, Aufrecht.
Catalogue of Manuscripts in the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.
Catalogue of Manuscripts in Bikaner Library.
Catalogue of Bodelian Library, Oxford.
Catalogue of Manuscripts in Ulwar Library, P. Peterson.
Catalogue of Manuscripts in the Mysore Library.
Catalogue of Sanskrit Manuscripts by G. Oppert.
Catalogue of Manuscripts in C.P. and Berar.
Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Asiatic Society of Bengal, Calcutta.
Catalogue of Manuscripts, Adyar, Madras.
Catalogue of Manuscripts, Government Oriental Manuscripts Library, Madras.
Catalogue of Manuscripts in the Royal Asiatic Society, Bombay Branch.
Catalogue of Manuscripts in the Punjab University, Lahore.
Catalogue of Manuscripts in the Gaekwad Oriental Research Institute, Baroda.
Catalogue of Sanskrit Manuscripts, India office, London.
Catalogue of Manuscripts in the Central Library, Baroda.
Christian Intelligenser.
Epigraphia Indica.
Epigraphia Carnatica
Indian Antiquary.
Indische Studien.
Journal of Annamalai University.
Journal of Asiatic Society of Bengal, Calcutta.
Journal of Bombay Branch Royal Asiatic Society.
Journal of the Mythic Society.
Journal of the Oriental Research, Madras.
List of Manuscripts, Tanjore, Burnell.
List of Manuscripts, Shanti Niketan.
Pathak Commemoration Volume.
Proceedings and Transactions of the All India Oriental Conferences.
Report Mysore Archaeological Department.
Sir Ashutosh Mookerji Commemoration Volume.
Vedic Magazine, Lahore.
गायकवाड़ प्राच्य विद्या ग्रन्थमाला ।
जैन साहित्य शोधक ।

शब्द-सूची

आ

क्ष

ख

ग



आगामी-प्रकाशन

1. History of Vedic Lierature (in English)
   —Brahmana and Aranyaka Works

✓ २. वैदिक वाङ्मय का इतिहास
   —वेदों की शाखाऐं

✓ ३. वैदिक वाङ्मय का इतिहास
   —कल्प सूत्रों का इतिहास

4. Śakas in India

✓ ५. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास
   —प्रथम भाग

✓ ६. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास
   —द्वितीय भाग

